एलबर्ट टोके पी-एच० डी०

मानव-शरीर

संरचना और कार्य



राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

HUMAN BODY AND HOW IT WORKS by Elbert Tokay Ph D
का हिन्दी अनुवाद

अनुवादक
नरेश वेदी

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार
के सहयोग से प्रकाशित

मूल्य ग्यारह रुपये

पहला हिन्दी संस्करण 1969

प्रस्तावना

मानव-शरीर का अध्ययन एक ऐसा विषय है जिसमे हम सबकी रुचि होना स्वाभाविक है। 'मानव-शरीर' नामक इस पुस्तक का उद्देश्य पाठक के समक्ष शरीर की रचना का एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करना तथा इस बात की सही जानकारी देना है कि शरीर के विभिन्न अग किस प्रकार कार्य करते है।

जहा तक संभव हो सका है, पुस्तक सरल विषयो से आरभ होकर कठिन विषयो की ओर अग्रसर हुई है। इसलिए यह विशेष रूप से आवश्यक है कि अध्याय इसी क्रम मे, आरभ से अत तक, पढे जाएं, भले ही पाठक की रुचि विषय के किसी एक अथवा दूसरे पक्ष मे ही क्यो न हो।

आरभिक दो अध्यायो मे मुख्यत समग्र पुस्तक की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है। अध्याय 1 मे शरीर के मुख्य कार्यो का सक्षिप्त परिचयात्मक वर्णन है, जो अगले अध्यायो मे विस्तार से दिया गया है। दूसरे अध्याय मे शरीर के विभिन्न अग तथा ऊतको और उसकी विशाल आकृति से पाठक का परिचय कराया गया है।

अध्याय 3 से 11 तक, प्रत्येक अध्याय मे शरीर के एक-एक प्रमुख तत्र का विस्तार से वर्णन है। ये इस प्रकार है . परिवहन तत्र (रक्त, हृदय, रुधिर-वाहिकाए—शिराए और धमनिया—तथा लसीका-तत्र), श्वसन-तंत्र (फेफडे तथा श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया); पाचन-तत्र (आमाशय, अत्र तथा उदर के अन्य अग), उत्सर्जन तत्र (वृक्क), ककाल (हड्डिया तथा हड्डी की सरचना-तत्र), मासपेशी-तत्र (मासपेशियो के प्रकार तथा मास-पेशियो के कार्य), तत्रिका-तत्र (मस्तिष्क, रीढ, तत्रिका-शिराए, तत्रिका-सवेग, इद्रिया), अत स्रावी तत्र (आतरिक स्राव-ग्रथिया गलग्रथि, उपवृक्क, पाचन-ग्रथि, श्लेष्मा-ग्रथि), प्रजनन-तत्र (पुरुप-जननेन्द्रिया, स्त्री-जननेन्द्रिया)।

आगामी अध्यायो (12 से 18 तक) मे अत्यधिक रुचि से पढे जानेवाले विशेप विपयो का विवेचन किया गया है जैसे, पुप्टिकर भोजन, विपचन और वृद्धि, शरीर का तापमान, मासपेशियो का चालन और व्यायाम, थकावट, आराम और निद्रा, रोगो से सरक्षण, शरीर का स्वास्थ्य।

प्रस्तुत पुस्तक लेखक के एक अन्य ग्रन्थ 'फण्डामेटल्स ऑफ फिजिओलॉजी' पर आधारित है, तथा इस पुस्तक मे भी वसार कॉलेज के श्री टैनर एम० क्लार्क द्वारा तैयार किए गए चित्र ले लिए गए है। मैं श्री क्लार्क का अत्यन्त

आभारी हू क्योंकि उनके चित्र न केवल स्तर की दृष्टि से ही श्रेष्ठ हैं बल्कि उनकी रचना मे उनके नये विचारों तथा डिज़ायनो का योगदान भी श्रेष्ठ है। मैं यूनिवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस को भी धन्यवाद देता हू क्योंकि उन्होने कार्लसन एण्ड जानसन की पुस्तक 'द मशीनरी ऑफ दि बॉडी' मे से दो चित्रो को छापने की अनुमति दी है। अपनी एक फिल्म 'द हार्ट एण्ड सर्कुलेशन' मे से एक दृश्य का रेखाचित्र बनवाकर छापने की अनुमति के लिए मैं इर्पी क्लासरूम फिल्म्स को धन्यवाद देता हू। मैं डा० म्य ई० वानविन का भी अत्यन्त आभारी हू कि उन्होने इसकी पाण्डुलिपि पढ़ने का कष्ट उठाया। उनके सुझाव सर्वाधिक रचनात्मक तथा उपयोगी थे।

मैं अपनी पत्नी के प्रति अपने आभार का भी संकेत करना चाहूगा जिसने पाण्डुलिपि की जाच कर संशोधन कर और उसे फिर से लिखकर इसका प्रकाशन संभव किया है।

—ए० टी०

पुनश्च इस पुस्तक के संशोधित और परिवर्धित संस्करण में लेखक को शरीर विज्ञान की विभिन्न शाखाओं की नवीनतम खोजो पर प्रकाश डालने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस पुस्तक के मूल संस्करण को कई स्थानो पर फिर से लिखा गया है और उन्हें अद्यतन बनाकर प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रकाशकों ने मानव शरीर चित्रावली (पृष्ठ 161 184) सहर्ष शामिल कर लिया है जिसके नये रंगीन चित्रो के कारण सारी बात और भी अधिक मुखर हो उठती है तथा जो काले तथा सफेद रेखाचित्रों के पूरक का काम भी करती है।

—ए० टी०

दो शब्द

हिन्दी के विकास और प्रसार के लिए शिक्षा मत्रालय के तत्त्वावधान मे पुस्तको के प्रकाशन की विभिन्न योजनाए कार्यान्वित की जा रही हैं। हिन्दी मे अभी तक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे पर्याप्त साहित्य उपलब्ध नही है, इसलिए ऐसे साहित्य के प्रकाशन को विशेष प्रोत्साहन दिया जा रहा है। यह तो आवश्यक है ही कि ऐसी पुस्तकें उच्च कोटि की हो, किन्तु यह भी जरूरी है कि वे अधिक महगी न हों ताकि सामान्य हिन्दी पाठक उन्हे खरीदकर पढ सके। इन उद्देश्यो को सामने रखते हुए जो योजनाए बनाई गई हैं, उनमे से एक योजना प्रकाशको के सहयोग से पुस्तकें प्रकाशित करने की है। इस योजना के अधीन भारत सरकार प्रकाशित पुस्तको की निश्चित सख्या मे प्रतिया खरीदकर उन्हे मदद पहुचाती है।

प्रस्तुत पुस्तक इसी योजना के अन्तर्गत प्रकाशित की जा रही है। इसके अनुवाद और कापी राइट इत्यादि की व्यवस्था प्रकाशक ने स्वय की है तथा इसमे शिक्षा मत्रालय द्वारा स्वीकृत शब्दावली का उपयोग किया गया है।

हमे विश्वास है कि प्रकाशको के सहयोग से प्रकाशित साहित्य हिन्दी को समृद्ध बनाने मे सहायक सिद्ध होगा और साथ ही इसके द्वारा ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित अधिकाधिक पुस्तके हिन्दी के पाठको को उपलब्ध हो सकेंगी।

आशा है, यह योजना सभी क्षेत्रो मे लोकप्रिय होगी।

ए. चंद्रहासन

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय
नई दिल्ली

(ए० चन्द्रहासन)
निदेशक

विषय-क्रम

अध्याय 15

अध्याय 16

अध्याय 17

अध्याय 18

परिशिष्ट

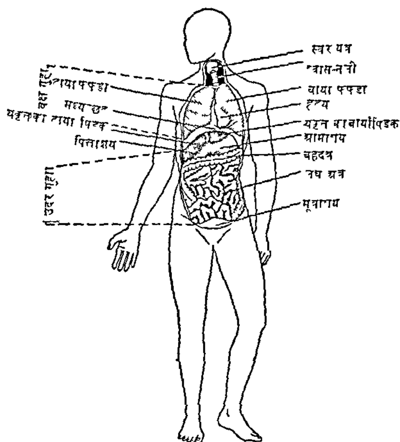
मानव-शरीर चित्रावली

मानव-शरीर

संरचना और कार्य

मानव-शरीर

संरचना और कार्य



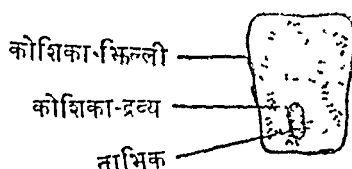
आकृति 1—कुछ प्रमुख आंतरिक अंग

के मंडन से उत्पन्न अंग हैं। कोशिकाओं को पोषण और ऑक्सीजन मिलना ही चाहिए। हम सब इस बात का अनुभव करते हैं कि हमारे इस जटिल समाज में रहने का अर्थ मात्र खाना या सांस लेना ही नहीं है। फिर भी यह सच है (और संभवतः कुछ लोगों के लिए इतना प्रकट कि इसकी उपेक्षा कर दी जाती है) कि मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं की समुचित रूप से तुष्टि किए बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता। इस पुस्तक का उद्देश्य आपको इन आवश्यकताओं से इन अर्थों में परिचित कराना है कि देह के भीतर क्या होता है और विभिन्न अंग किस प्रकार एक साथ काम करके एक स्वस्थ तथा शारीरिक रूप से संपूर्ण मानव का निर्माण करते हैं।

देह के तत्र

आइए, अब हम देह की प्रमुख सक्रियताओ पर सरसरी नजर डाल ले। हमे इस बात को याद रखना चाहिए कि आगामी अध्यायो मे हम इन्ही बातो पर अधिक विस्तार से विचार करेगे। आकृति 1 मे देह की बाह्याकृति दी गई है और उसके प्रमुख आतरिक अग दर्शाए गए है।

देह की सरचक इकाइया—सभी सजीव वस्तुए (प्राणी तथा पौधे, दोनो) अतीव सूक्ष्म खडो से मिलकर बने है, जिन्हे कोशिकाए कहते है। ये सरचना तथा कार्य, दोनो ही की इकाइयो का काम देती है। जिस पदार्थ से कोशिका बनती है, उस 'प्राणपदार्थ' को 'जीवद्रव्य' या 'प्रोटोप्लाज्म' कहते है। हर प्राणी (और मानव) कोशिका का विशेष लक्षण यह है कि उसमे एक सघनतर भाग, नाभिक, होता है, जो एक कम सघन, दानेदार भाग—कोशिका-द्रव्य या साइटोप्लाज्म—से घिरा रहता है। कोशिका-द्रव्य के बाह्य सीमात को 'कोशिका-झिल्ली' कहते है (आकृति 2)। समान प्रयोजन के लिए समूहबद्ध एक ही प्रकृति की कोशिकाए 'ऊतक' कहलाती है। पेशीय, तत्रिकायिक आदि विभिन्न ऊतको को एक बडी सरचक इकाई मे वर्गबद्ध किया जा सकता है, जिसे इन्द्रिय या अग कहते है। प्रत्येक अग (जठर या आमाशय, नेत्र, वृक्क आदि) का एक निश्चित कार्य है। जिन अगो के सयुक्त कार्यो से अधिक बडी आवश्यकताओ की पूर्ति होती है, वे



आकृति 2—कोशिका

मिलकर किसी एक तत्र (परिवहनीय, पाचक, उत्सर्गी आदि) का निर्माण करते है। इन सभी भागो का एकीकृत संग्रह जीव (मनुष्य, कुत्ता, पेड, मक्खी आदि) है। सभी बहुकोशी जीव अपनी नाना सक्रियताओ का सचालन श्रम-विभाजन के सिद्धात के अनुसार करते है—उनके कुछ विशेष अग विशिष्ट उपयोगो की विशिष्टता प्राप्त कर लेते है।

पाचक तत्र—हम जो खाना खाते है, वह सामान्यत इतना जटिल होता है कि देह की कोशिकाओ को तुरन्त उपलब्ध नही हो सकता। जैसा कि हम देख चुके है, शरीर के ईंधन हमारे खाए हुए भोजन के खडन से उत्पन्न पदार्थ ही है। इसलिए पाचक तत्र का कार्य जटिलतर भोजन को सूक्ष्मतर और रासायनिक दृष्टि से सरलतर पदार्थो मे परिवर्तित करना है। निगले जाने पर भोजन मुख से ग्रसनी मे और फिर एक पेशीय नली—ग्रसिका या ग्रास-नली—**में जाता** है, जो उसे जठर या आमाशय मे ले जाती है। आमाशय मे भोजन **मथा जाकर** छोटे-

छोटे कणों म टूटता है और उसम पाचक रसो का मेल होता है जो उसको सरलतर पदार्थों मे रूपातर आरम्भ कर देते हैं। आमाशय से अधतरल तथा अशत पचित भोजन क्षुद्रात्र मे धकेल दिया जाता है। क्षुद्रान्त्र एक लम्बी तथा बडा मुडी तुडी नली है जिसम अन्य पाचक रसो की किया से पाचन अतत सपूण होता है। इस प्रकार उत्पन्न सरलतर पदाथ अन्त्र की गुहा से निकलकर रुधिर प्रवाह म मिल जाते है। क्षुद्रान्त्र स भोजन का अपचित तथा किसी हद तक तरल अवशेष बृहदन्त्र म आता है जहा उसका पानी सोखा जाता है। अब यह अधिक ठोस रूप म आ जाता है और इसे तब तक के अस्थायी सग्रह के लिए मलाशय म ठल दिया जाता है कि जब तक यह गुदा द्वारा निष्कासित नही हो जाता।

उपरिलिखित सभी अग पाचक क्षेत्र या आहार नाल के भाग है जो मूलत मुख से लेकर गुदा तक एक लबी नली है। लार ग्रथिया, यकृत या जिगर तथा अग्न्याशय जसे अन्य अग भी पाचक क्षेत्र म ही सम्मिलित हैं यद्यपि वे पाचन प्रणाली के शारीरीय भाग नही हैं क्योकि वे ऐसे पाचक स्राव उत्पन्न करते हैं जो भोजन के उपभोग्य पदार्थों मे परिवतन के लिए बडे महत्वपूर्ण हैं।

परिवहन तत्र—पाचन से उत्पन्न हुए उन सरल पदार्थों का जो लघु अन्त्र स रुधिर प्रवाह म चले जाते हैं देह भर की कोशिकाओ तक पहुचाया जाना आवश्यक है। यह काय परिवहन-तत्र के विभिन्न अगो द्वारा किया जाता है। इसकी तुलना हम बद नलियो की एक ऐसी प्रणाली स कर सकते हैं कि जिसम एक पप भी सीलबद कर दिया गया है। हृदय स बडी-बडी रुधिर वाहिकाए—धमनिया—निकलती हैं जो क्रमश छोटी छोटी वाहिकाओ म बटती चली जाती हैं। इनमे स सबस छोटी वाहिकाए आकार म बहुत ही सूक्ष्म होती हैं और केशिकाए कहलाती हैं। जिस प्रकार छोटे छोटे नालो के मिलने से बडी-बडी नदिया बनती हैं उसी प्रकार केशिकाए भी एक-दूसरे स मिल मिलकर अधिक बडी वाहिकाए बनाती हैं और ये बडी वाहिकाए अपनी जसी बडी वाहिकाओ से मिलकर और भी बडी वाहिकाओ का निमाण करती हैं। इस प्रकार के मेलो से बनी वाहिकाए शिराए कहलाती हैं और य वापस हृदय की ओर जाती हैं। हृदय इस परिपथ पर रुधिर को लगातार पप करता रहता है—हृदय से धमनियो म धमनियो से केशिकाओ म केशिकाओ स शिराओ म और शिराओ स वापस हृदय म। किन्तु इस बद प्रणाली के भीतर जानेवाले पोषण पदाथ देह की कोशिकाओ तक क्यो कर पहुचते हैं? केशिकाओ से ये पदाथ पानी सहित रिस जाते हैं। इस जलीय विलयन को ऊतकीय तरल कहते हैं क्योकि यह देह की अधिकाश ऊतकीय कोशिकाओ को तर करता रहता है। इस तरल से पोषण पदाथ कोशिका म प्रवेश कर जाते हैं। कुछ ऊतकीय तरल केशिका भित्तियो से रुधिर म सीधा लौट आता है जबकि शेष अन्य छोटी-छोटी नलिकाओं म छनकर चला जाता है। इन नलिकाओ को लसीका-वाहिकाए कहते हैं। य वाहिकाए एक-दूसरी से मिलकर क्रमश दीघतर वाहिकाए बनाती जाती हैं और दीघतम वाहिकाए अपना तरल

शिराओ मे खाली करती जाती है। इस प्रकार लसीका-तत्र परिवहन-तत्र का एक सयोजक भाग ही है।

श्वसन-तत्र—कोशिकाओ को अब आवश्यक पोपरण-पदार्थ मिल चुके है। किन्तु इन पोपरण-पदार्थो मे से कुछ को ऐसे रूप मे परिवर्तित करने के लिए, कि जिसमे वे जीवनदायी ऊर्जा मुक्त कर सकते है, कोशिकाओ को ऑक्सीजन भी चाहिए। वायु, जिसमे ऑक्सीजन भी सम्मिलित होती है, नासिकीय अथवा मुखीय गुहा—नासिका अथवा मुख—द्वारा ग्रसनी मे, और वहा से श्वास-नली अथवा 'वायु-नली' मे खिचकर जाती है। श्वास-नली ब्राकी या श्वसनी नाम की दो नलिकाओ मे विभक्त हो जाती है। इनमे से प्रत्येक एक-एक फुपफुस या फेफडे को जाती है। इन नलिकाओ तथा इनसे शाखारूप मे निकलती उपनलिकाओ से गुजरकर वायु अतत फुपफसीय ऊतक मे स्थित सूक्ष्म वायु-कोपो मे चली जाती है। वायुकोप श्वास-नली के सूक्ष्मतम उपविभागो के अतिम द्वार है। वायु-कोपो मे की ऑक्सीजन कोपो तथा उनसे मिली कोशिकाओ की भित्तियो मे से विसरित होकर (रिसकर) रुधिर मे चली जाती है, जबकि रुधिर मे की कार्बन डाई-ऑक्साइड रिसकर वायु-कोपो मे आ जाती है। रक्त मे पहुचने के साथ ऑक्सीजन लाल रुधिर-कोशिकाओ को लाल रग देनेवाले रजक—हीमोग्लोबिन के—साथ सयुक्त हो जाती है और उनके साथ देह के सभी भागो मे चली जाती है। देहीय ऊतको मे हीमोग्लोबिन द्वारा ऑक्सीजन मुक्त कर दी जाती है और वह ऊतकीय तरल मे, और उससे कोशिकाओ मे चली जाती है।

प्रश्वसन, अर्थात् सास खीचने की प्रक्रिया, क्या है ? इसलिए कि वायु को फेफडो के भीतर खीचा जा सके, वक्षीय गुहा का प्रसार होना चाहिए। यह क्रिया वक्षीय तथा उदरीय गुहाओ को विभाजित करनेवाले पेशीय परदे, मध्यच्छद या डायफ्राम, के सकुचन तथा तज्जनित गिरने और पसलियो की उपरिमुखी व बाह्यगामी गति द्वारा सपादित होती है। उच्छ्वसन, अर्थात् सास का बाहर निकलना, सामान्यत एक निष्क्रिय प्रक्रिया है, इससे मध्यच्छद तथा पसलियो मे गति उत्पन्न करनेवाली पेशियो का तनाव कम हो जाता हे, जिससे वक्षीय गुहा का आयतन कम हो जाता है और फेफडे अपनी निजी प्रत्यास्थता (लचकाव) के कारण अशत. पिचक जाते है।

उत्सर्गी या उत्सर्जन-तत्र—कोशिकाओ को सरल पोपरण पदार्थ तथा ऑक्सीजन, दोनो की प्राप्ति हो जाने पर ऑक्सीकरण हो जाता है। कोशिकाओ मे और भी कई प्रकार की रासायनिक प्रतिक्रियाए होती है, चाहे वे ऑक्सीकरण के साथ-साथ हो, चाहे ऑक्सीजन के अभाव मे। सभी प्रतिक्रियाओ द्वारा उन्मुक्त ऊर्जा कई प्रयोजनो के लिए उपयोग मे लाई जाती है। ऊर्जा का कुछ अश कोशिका के रासायनिक कार्य को बढाने के लिए प्रयुक्त हो जाता है। साधारण-तया सभी कोशिकाओ मे दो प्रकार की रासायनिक प्रतिक्रियाए होती रहती है। एक प्रकार की प्रतिक्रिया मे बड़े तथा जटिल पदार्थो का सूक्ष्म तथा सरलतर

पदार्थों म खडन होता है। कोशिकाओ द्वारा उत्पन्न ऊर्जा इसी प्रकार क परिवतनो क कारण होती है (आक्सीकरण स्वय इसका एक उदाहरण है)। इन परिवर्तनो का दूसरा प्रकार वह है जिसम सरल पदार्थों म जटिल पदार्थों का निर्माण होता है और जो ऊतको की वृद्धि तथा मरम्मत का आधार है। खडन प्रतिक्रियाओ द्वारा उत्पन्न सभी सरलतर पदार्थ कोशिकाओ के लिए उपयोगी अथवा उनके द्वारा उपयोग क योग्य नही होते चाहे वे कितने ही मूल्यवान् क्यो न हो, यह हो सकता है कि उनका उत्पादन कोशिकाओ की आवश्यकता स अधिक मात्रा मे हो जाए। इस प्रकार के बेकार पदार्थों को यदि एकत्र होने दिया जाए तो वे देह की काय क्षमता म बाधक होगे या उसके लिए वस्तुत हानिकारक तक हो जाएगे। इनम स अधिकाश उन कोशिकाओ स जिनम वे पैदा हुए थे रिसकर ऊतकीय तरल म और फिर रुधिर म आ जाते हैं। पानी सहित इनका अधिकाश रुधिर के गुर्दो या वृक्को स गुजरते समय उसस छनकर अलग हो जाता है। वृक्कीय नलिकाओ म लबी और धीमी यात्रा के बाद जलीय विलयन म मिल इन बेकार पदार्थों से मूत्र बन जाता है जो वृक्क स मूत्रवाहिनी म होकर मूत्राशय म चला जाता है। मूत्राशय म कुछ समय तक जमा रहने के बाद मूत्र मार्ग नामक एक और नलिका म होकर मूत्र देह के बाहर चला जाता है।

मुख्य उत्सर्गी मार्ग वृक्क-तत्र ही है किन्तु कुछ बेकार माल देह को अन्य मार्गों से भी त्यागता है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि फुफ्फुस उच्छ्वसित वायु म कार्बन डाई आक्साइड तथा पानी का (वाष्प के रूप म) उत्सर्जन करते हैं। त्वचा म स्थित पसीने की ग्रथियां भी पानी तथा लवणो के उत्सर्जन म सहायक होती है।

पेशियां तथा ग्रथियां—य वे अग है जो देह के अधिकाश प्रत्यक्ष काय को करते है। य देह क भागो को चलाते हैं और उन आवश्यक रासायनिक पदार्थों का स्रवण करते हैं जो कुछ आवश्यक काय करते है। पेशियो का सकुचन हमारे पैरो बाहुओ धड हनु (जबाडा) आदि की गतियो का कारण है। ऐसी पेशियां ककाल क भागो स जुडी रहती हैं और वे किसी अस्थि विशेष को खीचकर किसी नई स्थिति म लाकर गति को सपादित करती हैं। इस प्रकार की पेशी बहुत तेज काम कर सकती है। इनके अलावा धीमी चाल स काम करनेवाली और पेशियां भी हैं जो हमारे आतरिक अगो को गति देती हैं। इन पेशियो म हृदय की पेशियां पाचन प्रणाली की भित्तियां तथा रुधिर वाहिनियां ग्रथीय वाहिनियां श्वास-नली मूत्रवाहिनी आदि नम विभिन्न नलिकीय अगो की भित्तियो म की पेशियां आती हैं। इस प्रकार य पेशियां रुधिर क किसी अग म प्रवाह वायु के फुफ्फुसो म प्रवाह तथा भोजन के आहार नाल म होकर जान आदि जसी प्रक्रियाओ का प्रभावित करती हैं।

पेशीय सक्रियता क दौरान ऊष्मा उत्पन्न होती है। पेशीय सक्रियता तथा पेशी अवस्था का पुन प्राप्ति के दौरान उत्पन्न समस्त ऊर्जा उपयोगी काय म

परिणत नही हो जाती, वस्तुत उसका अधिकाश ऊष्मा के रूप मे निकल जाता है। किसी भी मशीन मे यह शुद्ध व्यर्थ होता। किन्तु देह मे ऊष्मा का इस प्रकार उत्पन्न होना देह के ताप को कायम रखने की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी है।

देह की ग्रथिया वे रासायनिक कार्यशालाए है, जो देह के विभिन्न अगो के ठीक से कार्य करने तथा उनकी सक्रियताओ के लिए आवश्यक पदार्थ तैयार करती है। बडी पाचक ग्रथियो का हम उल्लेख कर ही चुके है। आमाशय तथा लघु अत्र की भित्तियो मे स्थित छोटी ग्रथिया अन्य पाचक रसो का स्राव करती है, जो अन्तर्गृहीत भोजन के खडन मे सहायता देते है। श्लैष्मिक ग्रथिया श्लेष्मा का स्राव करती है, जो अनेक कोटरो तथा अगो के अस्तरो को स्निग्ध(चिकना) रखता है।

अभी तक हमने अगो की कुछ ऐसी प्रमुख सक्रियताओ की ही जानकारी प्राप्त की है, जिनका जीवन की ऊर्जा को बनाए रखने से ही अधिक सीधा सबध है। यदि देह के अन्य अगो तथा तन्त्रो का ऊर्जा के उत्पादन से सीधा सम्बन्ध नही है, तो देहीय अर्थतत्र मे उनकी भूमिकाए क्या है ? वे भी जीवन के लिए पूर्णत. उतने ही महत्त्वपूर्ण है, जितने कि वे अग कि जिनकी हम चर्चा कर चुके है। जैसा कि हम देखेगे, किसी भी एक तत्र का अन्य सभी तत्रो से घनिष्ठ अत.-सबध है और वह अन्य सभी तत्रो पर आश्रित है। देह सयुक्त रूप से एक सपूर्ण इकाई है और इसके विभिन्न विभागो को अलग करना उसकी विशिष्ट सक्रियताओ के अनुसधान और परिचर्या मे सहायक है। यदि हम उपर्युक्त तन्त्रो के अगो को ऐसी मशीने माने, जिनके द्वारा विभिन्न कार्य किए जाते है, तो तत्रिका तथा अत स्रावी तत्रो को इन मशीनो की सक्रियताओ को निर्देशित करनेवाले इजीनियर मानना होगा, जो इनको रोकते-चलाते है तथा इस बात का निर्णय करते है कि उनमे से किस से, किस समय और किस चाल से काम करवाया जाए।

तत्रिका-तत्र तथा ज्ञानेन्द्रिया—अपनी शाखाओ-उपशाखाओ द्वारा तत्रिका-तत्र देह के हर भाग मे फैला हुआ है। इसे मोटे तौर पर दो भागो मे बाटा जा सकता है—केद्रीय तत्रिका-तत्र, जिसमे मस्तिष्क और मेरु-रज्जु या रीढ-रज्जु आते है, तथा केन्द्र के बाहर का परिवीय तत्रिका-तत्र, जो मस्तिष्क तथा रीढ-रज्जु से विकसित होकर देह के बाहरी भागो को जानेवाली तत्रिकाओ का बना है। तत्रिकाए ततुओ के बडलो की बनी है, जिन पर होकर केद्रीय तत्रिका-तत्र को समाचार—तत्रिका-आवेग—आते-जाते है। केद्रीय तत्रिका-तत्र से निकलनेवाले कई तत्रिका-ऊतक ककालीय पेशियो मे जाकर खत्म होते है और उन तक आवेगो का प्रेषण करते है, जिनसे वे सकुचित होते है। अन्य ततु आतरिक अगो की पेशियो को या कुछ अन्य ग्रंथियो को जाते है। इन ततुओ मे के आवेग इन प्रदेशो मे पेशीय या ग्रथीय सक्रियताओ को आरभ और रोक या तेज और धीमा कर सकते है।

इनके अलावा दूसरे तत्रिका-ततु भी है, जो विभिन्न ज्ञानेद्रियो या ग्रहीताओ से आवेगो का केद्रीय तत्रिका-तत्र मे चालन करते है। ग्रहीता वातावरण **मे आने**

वाले कुछेक परिवर्तनों के प्रति विशेष संवेदनशील होते हैं। हमारी देह में प्रकाश किरणें, ध्वनि-तरंगें, रसायनों की गंध या स्वाद, स्पर्श, दाब, वेदना, गरमी, सरदी तथा कई अन्य प्रकारों की संवेदनाओं को ग्रहण करनेवाले ग्रहीता ही हैं। ये ज्ञानेंद्रियां केवल देह की सतह पर या उसके निकट ही नहीं, प्रत्युत आंतरिक अंगों तथा पेशियों, कंडराओं तथा संधियों में भी स्थित हो सकती हैं। जब आवेग किसी ग्रहीता से केंद्रीय तंत्रिका-तंत्र को जाते हैं, तो उनकी सूचना का एक अथवा अधिक केंद्रों में निर्वचन होता है। यदि आवश्यक प्रतिवेदन क्रिया या कार्य हो, तो एक केंद्र बाह्यगामी तंत्रिका-तंतुओं द्वारा आवेगों का योजन कर देता है और इससे पेशियां अथवा ग्रंथियां उस क्रिया के लिए उद्दीपित हो जाती हैं। यह प्रक्रिया अनेक तंत्रिका-कार्यों का आधार है और प्रतिवर्ती क्रिया कहलाती है।

उच्चतम तंत्रिका-कार्यों का केंद्र मस्तिष्क है। मस्तिष्क के उच्चतम स्तरों में तंत्रिकीय प्रक्रियाएं अध्ययन, स्मरण तथा विचारणा को जन्म देती हैं; भावनाओं के केंद्र भी यहीं हैं। इन कार्यों तथा अन्य तंत्रों पर तंत्रिकीय प्रभाव के बारे में हम इस बात पर सहमत हो सकते हैं कि तंत्रिका-तंत्र का सर्वप्रमुख कार्य समन्वयन तथा एकीकरण है—अर्थात् अन्य अंगों को इस प्रकार नियंत्रित करना जिससे सभी अंगों तथा संस्थानों का एक संपूर्ण जीव में समस्वर सहकार तथा संयोजन सुनिश्चित हो सके।

इस प्रकार तंत्रिका-तंत्र अंगों तथा तंत्रों के घनिष्ठ अंतःसम्बन्ध के लिए उत्तरदायी है। ऊर्जा के उचित वितरण तथा नियंत्रण के लिए यह सम्बन्ध अत्यावश्यक है।

अंतःस्रावी तंत्र—तंत्रों की हमने अब तक जिन अर्थों में चर्चा की है उस दृष्टि से अंतःस्रावी तंत्र को एक तंत्र की अपेक्षा कुछेक ग्रंथियों को समूह-बद्ध करने का एक अधिक सुविधाजनक तरीका कहना ज्यादा ठीक होगा। हम देख चुके हैं कि कुछ ग्रंथियां (उदाहरण के लिए यकृत) अपने स्रावों को वाहिनियों द्वारा स्रवित करती हैं। अंतःस्रावी ग्रंथियां अथवा आंतरिक स्राव करनेवाली ग्रंथियों के वाहिनियां नहीं होतीं और वे अपने स्राव रुधिर प्रवाह में स्रवित करती हैं। इससे इन स्रावों अथवा हारमोनों का विस्तृत वितरण तथा उनके द्वारा अपने निर्माण-स्थलों से काफी दूर पर भी संस्थानों तथा इंद्रियों का नियंत्रण करना संभव हो जाता है। सामान्य तौर पर अपने हारमोनों द्वारा अंतःस्रावी ग्रंथियां [illegible] संस्थानों को काफी धीमी गति से समन्वित तथा निर्देशित करती हैं। जब तंत्रिकीय संस्थान देह का अपने वातावरण से [illegible] है, अंतःस्रावी [illegible] अनुकूलन का [illegible] करता है।

[illegible]

जिसके हारमोन, अन्य चीजो के अलावा, कई अन्य अत स्रावी अगो की वृद्धि तथा स्रावो को नियत्रित करते है। थाइरॉयड ग्रथि देह की समस्त कोशिकाओ मे ऑक्सीकरण की चाल को नियत्रित करती है। पैराथाइरॉयड ग्रथिया रुधिर मे 'सक्रिय' कैल्शियम की मात्रा को नियमित करती है। अधिवृक्क-ग्रथिया रुधिर मे अन्य महत्त्वपूर्ण खनिजो की मात्रा को नियमित करती है। अग्न्याशय के अत -स्रावी भाग—पिट्यूइटरी, अधिवृक्क, तथा थाइरॉयड ग्रथिया—ये सब देह मे ऑक्सीकरणित अथवा सगृहीत खाद्य पदार्थो की मात्रा के नियत्रण मे भाग लेते है। लिंग-ग्रथिया अथवा जनद यद्यपि बनावट मे अत स्रावी ही है, किन्तु उनपर विचार उन्हे जनन-तत्र के भाग मानते हुए ही किया जाएगा।

किसी भी अत स्रावी ग्रथि की अतिक्रियाशीलता (हारमोन का वर्धित स्राव) अथवा अध क्रियाशीलता (अल्प स्राव) से गभीर अव्यवस्थाए, और किन्ही-किन्ही हालतो मे तो मृत्यु तक, उत्पन्न हो सकती है। उदाहरण के लिए, अग्न्याशय की अतिसक्रियता से मधुमेह और थाइरॉयड ग्रथि की अध क्रियाशीलता से विभिन्न प्रकार की गडमालाए-जैसे रोग हो सकते है।

जनन-तत्र—देह के अन्य तत्र जहा विशिष्ट रूप से व्यक्ति मे जीवन के सरक्षण से ही सबद्ध है, वहा ये तत्र जात या जाति की निरतरता के लिए भी उत्तरदायी है। विश्वास किया जाता है कि पिट्यूइटरी ग्रथि के हारमोन लिंग-ग्रथियो तथा जनन-कोशिकाओ की वृद्धि के नियत्रण द्वारा यौवनावस्था लाते है। नर की शुक्राणु-कोशिकाए वृषण मे उत्पन्न होती है, और मादा की अड-कोशिकाए अडाशयो मे। जब मैथुन के बाद एक शुक्राणु-कोशिका एक अड-कोशिका के साथ सयुक्त हो जाती है, तो उससे उत्पन्न ससेचित अड-कोशिका ही नये व्यक्ति के जीवन की पहली अवस्था है।

यौवनावस्था प्राप्त होने पर जनद (वृषण या अडाशय) द्वितीयक लैगिक लाक्षणिकताओ (केश का वितरण, स्वर की तेजी आदि) का निर्धारण करते है। लैगिक रूप से वयस्क पुरुष अथवा स्त्री की लैगिक क्रियाविधि का नियमन, पिट्यूइटरी तथा जनद, दोनो, हारमोनो का काम है। स्त्रियो के बारे मे यह बात खासकर ठीक है, जिनमे ये दोनो हारमोन मासिक धर्म-चक्र तथा सगर्भावस्था की घटनाओ के क्रम को नियत्रित करते है।

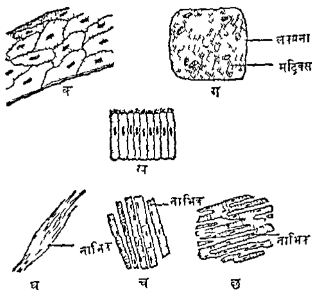
अध्याय 2

देह की संरचना

जिस विज्ञान में ऊतकों की सूक्ष्म लाक्षणिकताओं का अध्ययन किया जाता है उसे अणुवीक्ष्य शारीर या ऊतकी कहते हैं। सम्पूर्ण रचनाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान शारीर कहलाता है।

ऊतक

देह की संरचना तथा कार्य की मूलभूत इकाई कोशिका है। एक ही प्रकार की कोशिकाएं समूहबद्ध होकर ऊतक बनाती है। ऊतकों के यद्यपि कई प्रकार हैं तथापि प्रमुख इन चार को ही माना जाता है



आकृति 3—ऊतकों के उदाहरण (क) बाह्य त्वचा (ख) रोमाभ स्तंभाकार (ग) कटोरा में कोशिका वाली उपास्थि (घ) समतल पेशी (च) कंकालीय पेशी (छ) हृदीय पेशी

(क) तलीय ऊतक अथवा बाह्य त्वचा या एपीथीलियम जिसमें कोशिकाएं कसकर भरी होती हैं जिससे सभी खुली सतहों पर एक सुरक्षात्मक आवरण बन जाता है। आकार में ये कोशिकाएं छोटी बड़ी तथा पतली—स्क्वैमुअस

घनाकार अथवा अपेक्षाकृत लम्बी तथा पतली—स्तभाकार हो सकती है। विशेप-कर स्तभाकार कोशिकाए ही प्राय स्रावी अथवा ग्रथीय कोशिकाओ मे विकृत या विरूपित हो जाती है। या ये उनके खुले किनारो से केशीय प्रवर्धो या रोमाभो के रूप मे निकली पाई जा सकती है।

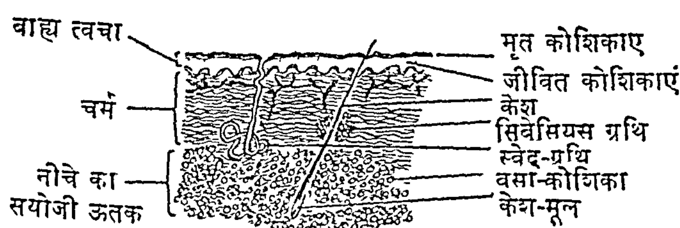
(ख) सयोजी तथा सहायक ऊतक—जिसकी पहचान उसमे वडी मात्रा मे अत कोशिकायिक पदार्थ मैट्रिक्स की उपस्थिति है—मैट्रिक्स कोशिकाओ द्वारा ही उत्पन्न किया जाता है और यह उन्हे पृथक् रखता है। मैट्रिक्स द्रव हो सकता है—जैसे रुधिर मे है, या यह वसा-ऊतको, कडराओ तथा स्नायुओ के मैट्रिक्स की तरह अर्धद्रव या उपास्थियो तथा अस्थियो के मैट्रिक्स की भाति ठोस भी हो सकता है। भारी सयोजी ऊतक, जो स्तरीय या फेशिया कहलाता है, कुछेक पेशियो की सतह को ढाकता है।

(ग) कुचनशील या पेशीय ऊतक, जिसमे सिकुडकर काफी छोटा हो जाने की क्षमता होती है, के तीन प्रकार है—ककाल पेशी या ऐच्छिक पेशी, समतल या अनैच्छिक पेशी और हृद्-पेशी। ककाल-पेशी अस्थियो या त्वचा से जुडी होती है, समतल पेशी अधिकाश आतरिक अगो मे पाई जाती है, और हृद्-पेशी केवल हृदय मे ही होती है।

(घ) चालक अथवा तत्रिका-ऊतको की सबसे वडी विशेपता विद्युतीय सदेशो (तत्रिका-आवेगो) का चालन करने की क्षमता है। प्रत्येक तत्रिका-कोशिका—न्यूरान—के एक या अधिक सिरे होते है, जिन पर होकर आवेग जाते है। न्यूरानो के बीच समुचित सपर्क द्वारा देह-भर मे सदेशो के सचरण के पथ वन जाते है।

अधिक उपरितलीय अंग

हमारे सामने जो पहला अग आता है, वह देह की समस्त सतह को ढकने-वाली प्रत्यास्थ (लचकीली) और अर्धपारदर्शक त्वचा है (देखिये आकृति 4) और त्वचा और नख तथा बाल जैसी उसकी विकृतिया तथा सहायक सरचनाए सरक्षात्मक आवरण का काम करती है। यह किसी हद तक चोट से वचाती है,



आकृति 4—त्वचा की अनुप्रस्थ काट

और यदि यह कटी हुई न हो, तो परतीली बाह्य त्वचा की इसकी सबसे बाहरी परत बक्टीरियाई आक्रमण के विरुद्ध एक प्रभावशाली दीवार का काम करती है। त्वचा का फैलाव सारी देह पर निरंतर है, जिसमें इसकी श्लेष्मिक झिल्लियां हैं, (इन्हें यह नाम इसलिए दिया गया है कि इन झिल्लियों में श्लेष्मा का स्राव करने वाली ग्रंथियां होती हैं) जो बाहरी वातावरण से संपर्क में आनेवाले कोटरों या छिद्रों (जैसे मुख, नासिका, गुदा आदि) में मुड़ी होती है। त्वचा के दो विभाग होते हैं बाहर की बाह्य त्वचा या एपीडर्मिस और भीतर का चर्म या डर्मिस। एपीडर्मिस का कार्य संरक्षणात्मक है इसकी मोटाई का अधिकांश मृत बाह्यचर्मीय कोशिकाओं का बना होता है। ये मृत कोशिकाएं सतही परतों से लगातार झड़ती रहती है और इनकी जगह नीचे की जीवित कोशिकाएं लेती रहती हैं जिनकी जगह फिर और नई नई जीवित कोशिकाएं उत्पन्न होती जाती हैं। चर्म या डर्मिस संयोजी ऊतकों रुधिर तथा लसीका वाहिनियां स्वेद तथा तेल उत्पन्न करनेवाली सिबेशियस ग्रंथियों तथा बालों की जड़ों का अन्त मिश्रण है। दोनों ही प्रदेशों में अनेक संवेदन तंत्रिका द्वार होते हैं जो या तो स्वतंत्र होते हैं या किसी विशेष ज्ञानेन्द्रिय का भाग या जाते है।

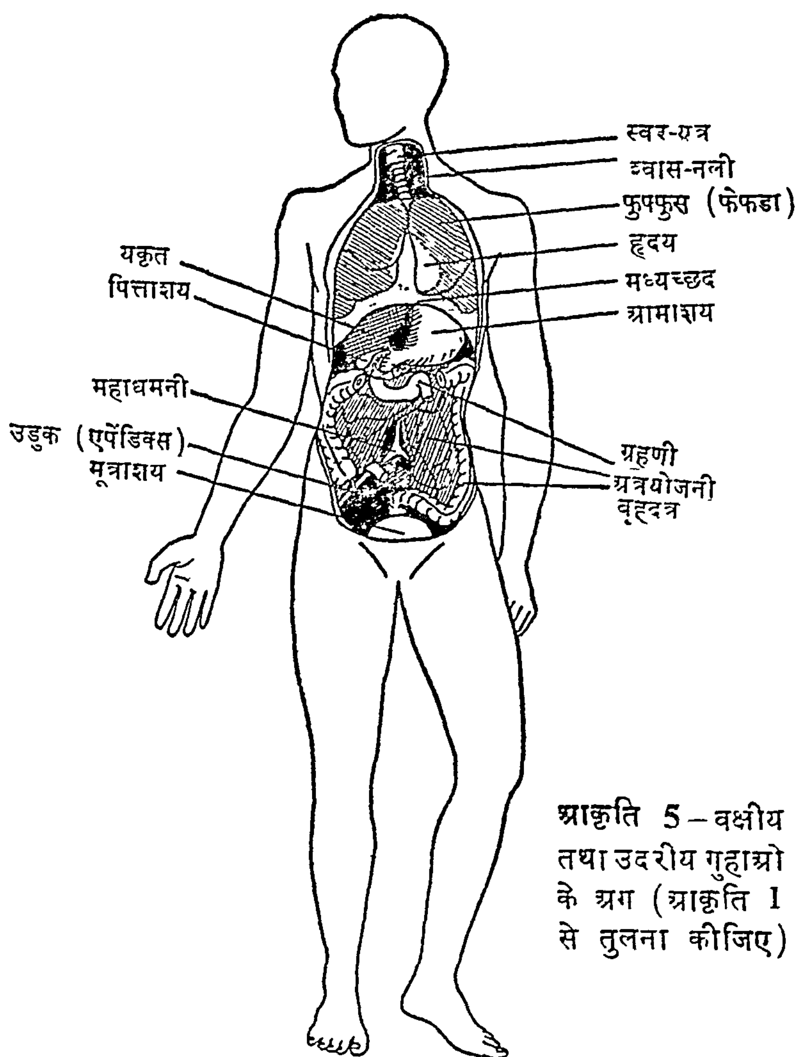
त्वचा के नीचे संयोजी ऊतकों की एक परत होती है जिसमें वसा ऊतकों का भी काफी भाग होता है। संयोजी ऊतक त्वचा को नीचे की पेशी या अस्थि से जोड़ता है जबकि वसा पृथक्करण का काम करती है। देह के अधिकांश क्षेत्रों में त्वचा के ठीक नीचे पड़नेवाले अंग कंकाल-पेशियां हैं, (देखिए आकृति 22) जो कंडराओं द्वारा अस्थि से या अपने ऊपर की त्वचा में जुड़ी होती हैं। कंकाल (आकृति 20) पेशियों के नीचे है और देह के मजबूत ढांचे का निर्माण करता है।

आंतरिक अंग

देह का आंतरिक भाग तीन छिद्रों या गुहाओं का बना हुआ है जिनमें आंतरांग या आंतरिक अंग स्थित हैं।

कपालीय गुहा—कपाल या खोपड़ी के भीतर की जगह जो मस्तिष्क द्वारा लगभग पूर्णतः भरी हुई है कपालीय गुहा कहलाती है। खोपड़ी मस्तिष्क को घेरनेवाली झिल्लियां तथा झिल्लियों में बन्द जलीय अस्तर—ये सब मिलकर मस्तिष्क का सामान्यतः समुचित संरक्षण प्रदान करते हैं।

वक्षीय गुहा—(आकृति 5 तथा 6)—वक्ष या छाती के भीतर वक्षीय गुहा है जिसमें हृदय तथा फेफड़े या फुफ्फुस हैं। यह गर्दन और की हड्डी के वक्षीय भाग पसलियों तथा छाती की हड्डी में बने अस्थियों के मजबूत पिंजड़े में बन्द है। इस गुहा पर फुफ्फुसावरण या प्लूरा नामक झिल्ली का अस्तर है जो गुहा अन्दर से ऊपर चढ़ा हुआ है और फेफड़ों को भी ढकती है। गुहा के बीच में कुछ बाईं तरफ हटकर हृदय है जो हृदयावरण या पेरिहृद नामक झिल्लीनुमा थैली से घिरा हुआ है। ग्रासनली नाम की एक पेशीय नली जिसमें खाद्य-पदार्थ



आकृति 5—वक्षीय तथा उदरीय गुहाओं के अंग (आकृति 1 से तुलना कीजिए)

अंतर पर उपास्थि के बने वलय हैं, ग्रसनी या फेरिंक्स और गर्दन में से होकर जाती है और इस गुहा के सबसे ऊपरी भाग के बीच के हिस्से में दो श्वसनियों में विभक्त हो जाती है। संरचना में ये श्वसनियां श्वास-नली के ही समान हैं किन्तु इनका व्यास उससे कम है। ये नलियां फेफड़ों में जाकर क्रमशः छोटी-छोटी नलिकाओं में बंटती जाती हैं, जिनका अंत वायुकोष्ठों में होता है। ग्रसनी से ही आरंभ होकर और श्वास-नली के ठीक पीछे होकर जानेवाली ग्रसिका, ग्रास-नली या ईसोफेगस है, जो आमाशय जाते समय हृदय के पीछे से और कोटर की मध्य रेखा पर होते हुए वक्षीय कोटर में होकर गुजरती है।

उदरीय या उदर-गुहा—(आकृति 1, 5 तथा 6)—वक्षीय कोटर को

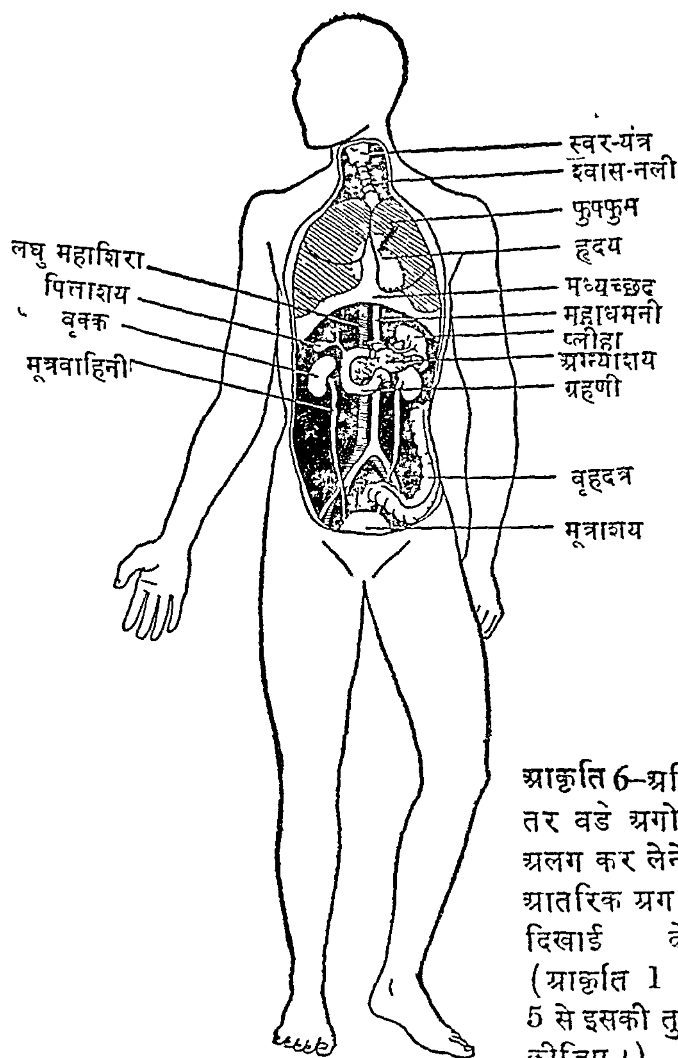
उदरीय गुहा से डायफ्राम या मध्यच्छद अलग करता है, जो कंकाल पेशी की बनी एक पतली झिल्ली है।

अधिकांश पाचक अंग उदर में ही स्थित हैं। मध्यच्छद के ज़रा ही नीचे अधिकतर दाईं ओर ही यकृत् या जिगर है जो देह की सबसे बड़ी ग्रंथि है (इसका रंग लालिमा लिए भूरा होता है)। बाईं तरफ जिगर की उल्टी दिशा में ग्रास नली जठर या आमाशय से मिलती है। आमाशय का आकार कुछ कुछ नासपाती जैसा है। स्वयं आमाशय से अनेकों कुंडलोंवाली लघु अंत्र (छोटी आंत) निकलती है। उदरीय गुहा का अधिकांश मध्य भाग छोटी आंत ने ही घेर रखा है। इसके अंत के साथ वृहत् अंत्र या बड़ी आंत का आरंभ होता है। यह अंग (बड़ी आंत) पहले गुहा के दाहिनी ओर ऊपर चढ़ता है फिर समकोण पर मुड़कर बाईं ओर चला जाता है और छोटी आंत को तीन ओर से घेरता हुआ नीचे उतर आता है। बड़ी आंत गुहा के निचले भाग में स्थित मलाशय में जाकर खाली होती है। आमाशय तथा लघु अंत्र के संगम पर और कुछ दूर लघु अंत्र के साथ साथ जाता हुआ लालिमायुक्त सफेद रंग का एक लंबाकार पिंड—अग्न्याशय है। आमाशय से मलाशय तक की पाचन प्रणाली एक पतली झिल्ली को छोड़कर जो किसी हद तक इस गुहा की पिछली दीवार से लटकाए रखती है किसी से जुड़ी हुई नहीं है। उदर-गुहा के सभी अंगों को फुफ्फुसावरण जैसी एक झिल्ली—उदर्या या पेरिटोनियम—ढके हुए है। यह इस गुहा की दीवारों को मढ़े हुए भी है। इस गुहा के दोनों ओर पीछे की तरफ ऊंचाई पर किंतु उदर्या के बाहर सेम के बीज के आकार के वृक्क हैं जिनसे निकलकर दोनों मूत्रवाहिनियां मूत्राशय या ब्लैडर में जाकर रीती हो जाती हैं। मूत्राशय पेशी का बना एक थैला है जो काफी फैल सकता है। यह इस गुहा के निम्नतम मध्यभाग में स्थित है।

अन्य अंग

उन अनेक रुधिर-वाहिनियों, लसीकावाहिनियों तथा तंत्रिकाओं का अभी उल्लेख नहीं किया गया है जो देह के लगभग सभी अंगों को जाती हैं (आकृति 7 तथा 23)। इनके बारे में हम आगे चलकर कुछ कहेंगे। मेरुरज्जु या रीढ़रज्जु मेरुदंड या कशेरुकदंड की एक गुहा में स्थित है और उसी प्रकार सुरक्षित है जैसे कि मस्तिष्क।

अंतःस्रावी तंत्र की विभिन्न ग्रंथियों (आकृति 38) का वितरण व्यापक है। 'पिट्यूटरी' ग्रंथि मस्तिष्क के निचले तल में लटकी हुई है। थाइरायड ग्रंथि स्वर यंत्र के दोनों ओर स्थित है। स्वर-यंत्र श्वास दंड का मध्यरेखा का बाहर अपने दोनों सिरों या पालियों को जोड़नेवाला एक पतला तंतु है। पैराथाइरायड ग्रंथियां थाइरायड ऊतक में स्थित हैं और आकार में काफी छोटी हैं। अधिवृक्क ग्रंथियां वृक्कों के ऊपर वसा के उस बड़े पिंड में स्थित हैं जो इन अंगों के आस पास साधारणतौर पर उपस्थित रहता ही है। अग्न्याशय की चर्चा की ही जा चुकी है।



आकृति 6—अधिकतर बडे अगो को अलग कर लेने पर आतरिक अग ऐसे दिखाई देगे। (आकृति 1 तथा 5 से इसकी तुलना कीजिए।)

पुरुप के मुख्य जनन-अग (आकृति 39) वृपण है, जो उदरीय गुहा के वाहर वृपण-कोश मे पाये जाते है। स्त्री के जनन-अग (आकृति 41) उदरीय गुहा के भीतर ही स्थित है। दोनो ओर एक-एक अडाशय लम्वी अडवाहिनियो द्वारा वीच मे स्थित गर्भाशय से सवधित है।

अध्याय 3

परिवहन-तंत्र

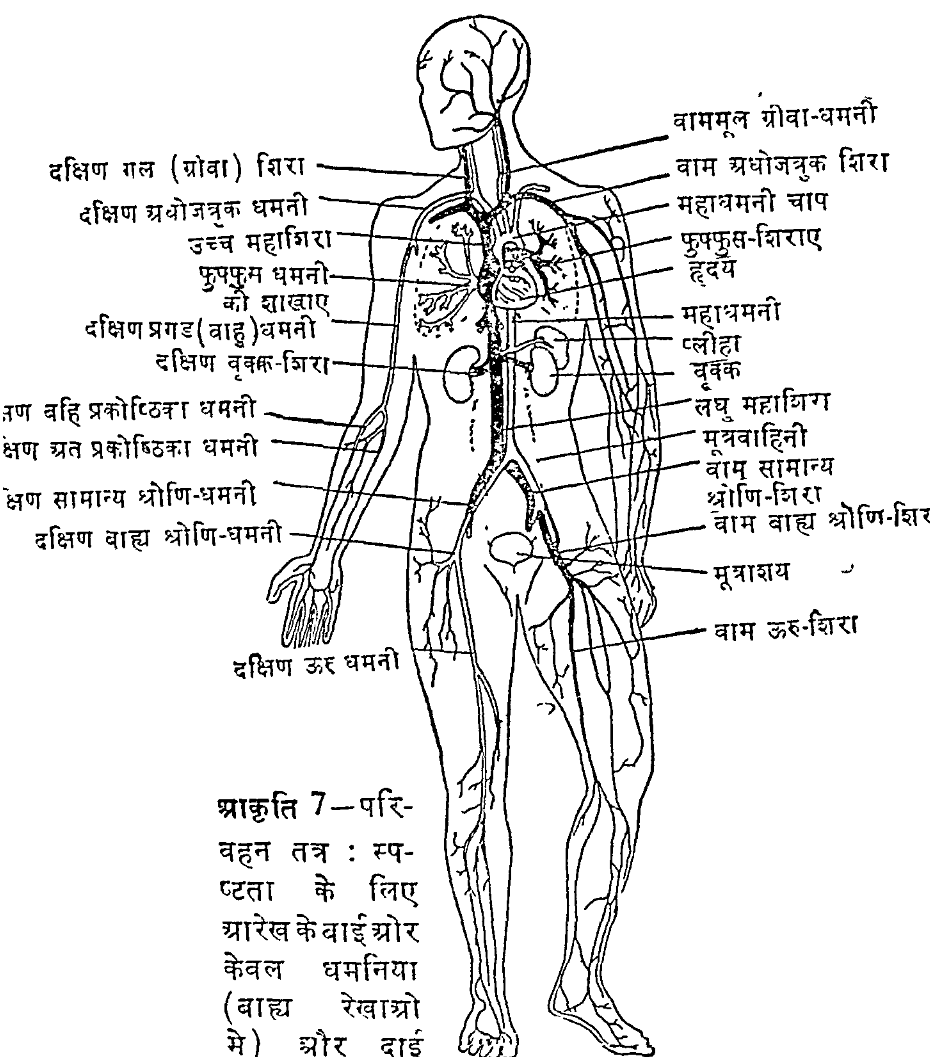
मानव देह की अधिकांश कोशिकाएं न तो बाहर से सीधे पोषक पदार्थ ग्रहण कर सकती है और न वे व्यर्थ पदार्थों को सीधे बाहर त्याग सकती हैं। परिवहन-तंत्र जिसकी अनेक वाहिकाएं देहभर में फैली हुई हैं कोशिकाओं तक पदार्थों के लाने ले जाने में बिचौलिए का सा काम करता है। इन वाहिकाओं में प्रवाहित होने वाला रुधिर वाहन के माध्यम का काम करता है।

रुधिर

मानव रुधिर को संग्रह करना अब एक सामान्य प्रक्रिया हो गई है। इस कारण अध्ययन के लिए देह के किसी भी अन्य संरचक की अपेक्षा रुधिर अधिक सुलभ है। देह के बाहर परीक्षण के समय रुधिर अन्य देहीय संरचकों की अपेक्षा जिन्हें रुधिर की भांति सुगमतापूर्वक परिरक्षित नहीं किया जा सकता सामान्य अवस्था में अधिक रहता है।

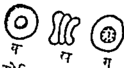
परख नली में रुधिर सभी जगह समान गाढ़ेपन का एक लाल गाढ़ा सा तरल दिखाई देता है। तथापि सूक्ष्मदर्शी से देखे जाने पर यह अनेक कोशिकाओं वाला एक जलीय तरल सा दिखाई देता है। इन कोशिकाओं को लाल रुधिर-कोशिका तथा श्वेत रुधिर कोशिकाओं का नाम दिया जा सकता है। इन कोशिकाओं तथा बिंबाणु या प्लेटेलेट नाम के कुछ कोशिका खंडों को सामूहिक रूप से निर्मित अवयव कहा जाता है। द्रव भाग प्लाज्मा है।

लाल रुधिर कोशिकाएं (संख्या आकार तथा संरचना)—निर्मित अवयवों का एक बड़ा अंश लाल रुधिर कोशिकाओं या एरीथ्रोसाइट का है। एक घन मिलीमीटर मानव रुधिर में औसतन लगभग 55 00 000 लाल कोशिकाएं पुरुषों में और लगभग 50 00 000 स्त्रियों में पाई जाती हैं। इनका आकार ऐसा होता है कि 3200 लाल कोशिकाओं की एक पंक्ति लम्बाई में एक इंच होगी। मनुष्य तथा अन्य स्तनधारियों में परिपक्व लाल रुधिर कोशिकाएं बिना नाभिक की उभयावतली तश्तरियां जैसी होती हैं (आकृति 8) यद्यपि लगता यह है कि उनका कोई संरचक ढांचा नहीं है तथापि जब उन्हें किसी रंजक द्वारा उचित अभिरंजन या रंग दिया जाता है तो कोशिकाओं में फैला एक जाल-सा देखा जा सकता है। यह ढांचा लाल कोशिकाओं की नम्यता का कारण जानने में सहायता देता है। महीन कोशिकाओं से गुजरते समय यह देखा जा सकता है कि इन कोशिकाओं में विभिन्न अंगों में विकृतियां आती हैं तथापि अधिक खुले स्थानों में वे सदा अपनी मौलिक आकृति ग्रहण कर लेती है।



आकृति 7—परिवहन तंत्र : स्पष्टता के लिए आरेख के बाईं ओर केवल धमनियां (बाह्य रेखाओं में) और दाईं ओर केवल शिराएं (काले में) ही दर्शाई गई है।

हीमोग्लोबिन अंश—लाल रुधिर-कोशिका का सबसे महत्त्वपूर्ण रासायनिक संरचक हीमोग्लोबिन नामक लाल रंजक है जो ऑक्सीजन के साथ संयोग करता है और रुधिर में ऑक्सीजन के वाहक का काम करता है। नाभिक की अनुपस्थिति मे यही प्रतीत होगा कि इससे कोशिका के भीतर हीमोग्लोबिन के लिए अधिक स्थान हो जाएगा। लाल कोशिका के मुख्य कार्य—ऑक्सीजन का परिवहन, कार्बन डाई-ऑक्साइड के परिवहन मे सहायता देना, तथा रुधिर में **अत्यधिक**



आकृति 8—लाल रुधिर कोशिकाएं (क) परिचय (ख) परिपक्वता के निकट (ग) अपरिपक्व

अक्षमता को रोकना—उसके हीमोग्लोबिन द्वारा ही किए जाते हैं।

स्तनहीन कशेरुकदंडियों—जैसे मछली, मेंढक, सांप, पक्षी आदि की लाल रुधिर-कोशिकाएं नाभिकित और स्तनधारियों की कोशिकाओं की अपेक्षा बड़ी होती हैं। इन गतरों से स्तनधारी कोशिकाएं ही लाभान्वित होती हैं। उनके प्रति इकाई आयतन में अधिक हीमोग्लोबिन होता है और इसीलिए अपने आकार के अनुपात में वे अधिक आक्सीजन का वहन कर सकती हैं।

लाल कोशिका का जीवन चक्र—हिसाब लगाया गया है कि रुधिर प्रवाह में लाल कोशिकाएं कोई दस से तीस दिन तक जीवित रहती हैं। चूंकि रुधिर में लाल कोशिका गणन अपेक्षाकृत स्थिर रहता है इसलिए इसका यही मतलब निकलना चाहिए कि लाल कोशिकाओं के निर्माण और विनाश की प्रक्रियाएं समान गतियों से चलती हैं। लाल कोशिकाओं का निर्माण मुख्यतः लाल अस्थि मज्जा द्वारा किया जाता है। अगर पसली जैसी किसी सपाट हड्डी को चीरा जाए तो एक लाल सा ऊतक दिखाई देता है। जांघ की हड्डी जैसी लम्बी हड्डियों के सिरों पर भी इसी प्रकार का ऊतक मिलता है। लाल मज्जा का सूक्ष्मदर्शी द्वारा परीक्षण करने पर लाल कोशिका के परिवर्धन की सभी अवस्थाएं दिखाई देती हैं। आदिम संयोजी ऊतकीय कोशिकाएं लाल कोशिकाओं की पुरोगामी हैं। इन कोशिकाओं के विभाजन और गुणन के फलस्वरूप कई अवस्थाएं उत्पन्न होती हैं जो सभी नाभिकित होती हैं। इन अवस्थाओं के अंत में हीमोग्लोबिन उत्पन्न होता है और नाभिक निष्कासित हो जाता है तथा तज्जनित परिपक्व लाल कोशिका रुधिर प्रवाह में चली जाती है।

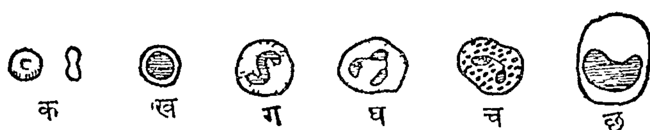
यकृत् तथा प्लीहा से गुजरने वाले रुधिर में से कुछ कोशिकाएं यकृत् तथा प्लीहा की कुछ कोशिकाओं द्वारा पकड़ी जाकर ग्रस ली जाती तथा नष्ट कर दी जाती हैं। इस प्रकार का विनाश सदा होता रहता है किन्तु यह नहीं मालूम कि ये विनाशक लाल कोशिकाओं का चयन किस आधार पर करते हैं।

विनष्ट कोशिकाओं से उन्मुक्त हीमोग्लोबिन यकृत् तथा प्लीहा-कोशिकाओं में खंडित हो जाता है। ग्लोबिन प्रभाग का गंतव्य स्थल अज्ञात है। हेमाटिन अंश या तो फिर से उपयोग के लिए अस्थि मज्जा में वापस चला जाता है या वह यकृत् में पित्त रंजकों में परिवर्तित हो जाता है। पित्त रंजक पित्तवाहिनी द्वारा क्षुद्रांत्र में प्रवेश करते हैं और अन्ततः देह से जाते रहते हैं। विष्ठा में वर्तमान पित्त रंजकों की मात्रा के निर्धारण द्वारा यह अनुमान लगाया गया था कि लाल

कोशिकाओ के दसवे-तीसवे तक भाग का नित्य विनाश हो जाता है। दस दिवसीय आयु-सीमा के आधार पर इसका मतलव प्रति-मिनट 21,00,00,00,000 कोशिकाओ का निर्माण तथा विनाश निकलेगा।

रुधिराभाव—यदि किसी व्यक्ति के रुधिर मे लाल कोशिकाओ की सख्या वहुत कम हो, या प्रत्येक कोशिका का हीमोग्लोविन-अश घट जाए, या ये दोनो ही वाते हो, तो उस व्यक्ति को रुधिराभावी कहा जाता है। न्यूनित हीमोग्लोविन या लाल कोशिका-न्यूनता का मतलव रुधिर के ऑक्सीजन-अश का कम हो जाना और इसके फलस्वरूप ऊतको को कम ऑक्सीजन मिलना तथा उपायचयन ऊर्जा (भोजन के पाचन से प्राप्त ऊर्जा) के अभाव मे दैनिक क्रियाविधियो मे शारीरिक अक्षमता है। रुधिराभाव उत्पन्न होने का कारण लाल कोशिकाओ या हीमोग्लोविन का अत्यधिक व्यय या विनाश या अपर्याप्त उत्पादन है।

श्वेत रुधिर-कोशिकाए (**सख्या तथा संरचना**)—एक घन मिलीमीटर रुधिर मे 5,000 से 9,000 तक श्वेत रुधिर-कोशिकाए या ल्यूकोसाइट होती है। हम इन्हे पहले दो वडे समूहो मे पृथक् कर सकते है—एक वे, जिनके कोशिकाद्रव्य (साइटोप्लाज्म) मे दाने होते है, और दूसरी वे जिनके दाने नही होते (आकृति 9)। दानेदार प्रकार मे न्यूट्रोफिल सवसे आम हैं। उनकी कोशिकाए फूली हुई और दाने वडे महीन होते है, जो सामान्य रुधिर-अभिरजको से लैवेडर अभिरजक ले लेते है। इओसिनोफिल तथा वैसोफिल न्यूट्रोफिलो के ही सादृश्य है, भेद वस इस वात का है कि उनके दाने अधिक वडे होते है और एक के दाने लाल अभिरजन ग्रहण करते है, तो दूसरे के नीला। ये तीनो ही प्रकार लाल कोशिकाओ से कुछ वडे होते है। दानाहीन श्वेत कोशिकाओ मे लसीका-कणिका या लिंफोसाइट



आकृति 9—श्वेत रुधिर-कोशिकाए (ख) लिफोसाइट, (ग) वेसोफिल, (घ) न्यूट्रोफिल, (च) इयोसिनोफिल, (छ) मोनोसाइट। आकृति मे आकार की तुलना के लिए एक लाल रुधिर-कोशिका (क) भी रख ली गई है।

और मोनोसाइट भी सम्मिलित है। लिफोसाइट या लसीका-कणिकाए आकार मे लगभग लाल कोशिकाओ जितनी ही होती है और उनमे एक वडा, फली के-से आकार का नाभिक होता है, जो कोशिका को लगभग भर देता है। मोनोसाइट श्वेत कोशिकाओ मे सवसे वडी होती है और उनके नाभिक गहरे दातेदार होते है। प्रति 200 श्वेत कोशिकाओ मे, औसतन 70 न्यूट्रोफिल होगी, 22 लिंफोसाइट, 4 मोनोसाइट, 3 इओसिनोफिल और 1 एवेसोफिल होगी।

जीवन चक्र तथा काय—दानेदार ल्यूकोसाइट किसी हद तक लाल कोशिकाओं की ही भांति लाल अस्थि मज्जा स उत्पन्न होती हैं और परिपक्वता प्राप्त करने के पूर्व परिवतन की कई अवस्थाओं स गुज़रती हैं। लिंफोसाइट (लसीका कणिकाए) विशेषकर लसीका ग्रंथिया म निर्मित होती है (लसीका ग्रंथिया लसीकावाहिनिया पर थोडी थोडी दूर पर दिखाई देनेवाली उठी हुई जगह हैं)। मोनोसाइटो का उद्गम स्पष्ट नही है। श्वेत कोशिकाओं के विनाश के बारे म चूकि हमारी जानकारी अपेक्षाकृत कम है इसलिए उनकी जीवनावधि का अनुमान लगाना कठिन है। किन्तु यह देखते हुए कि वे लगातार उत्पन्न होती रहती है फिर भी रुधिर म इनकी सख्या खासी स्थिर रहती है य नष्ट भी लगभग उसी रफ्तार स होती होगी जिस रफ्तार स पैदा होती हैं।

न्यूट्रोफिल रेंगकर रुधिर प्रवाह के बाहर आ सकती है और छूत के स्थलो पर पहुच सकती है। यहा य संक्रामक जीवो तथा घायल अथवा मृत ऊतकीय कोशिकाओं को घेर तथा पचा लेती हैं। बैक्टीरियाई आक्रमण के बाद होनेवाले युद्ध म इनम स अनेको की जान जाती रहती है। छूत वाले रोगो के साथ जो पीप लगा रहता है वह न्यूट्रोफिलो की मृत देहो तथा बैक्टीरिया तथा ऊतकीय कोशिकाओं के अवशेषो का ही बना होता है।

लिंफोसाइट (लसीका कणिकाए) कुछ ऐसे रासायनिक पदार्थों के स्रोत हैं जो रोग का प्रतिरोध करन म उपयोगी है। य ऊतको की सामान्य मरम्मत म भी उपयोगी हो सकते है। अन्य ल्यूकोसाइटो के काय ज्ञात नही है।

रुग्णावस्था म श्वेत कोशिका के गणन म खासा वैभिन्न्य हो सकता है। अधिकतर यह सामान्य स्तर स ऊचा रहता है किन्तु कभी-कभी नीचा भी हो जाता है।

प्लाज्मा—रुधिर का द्रव भाग सपूर्ण रुधिर (निर्मित तत्त्वो तथा प्लाज्मा) के लगभग 55 प्रतिशत का निर्माण करता है और यह मुख्यत पानी का बना होता है (औसत तौर पर 90 प्रतिशत)।

इस जलीय तरल म अनेक महत्त्वपूर्ण पदार्थ होते हैं जो देह के सभी भागो म ले जाए जाते है—वे पोषण पदार्थ जो कोशिकाओं को ऊर्जा उत्पादन तथा वृद्धि के लिए चाहिए अत स्रावी ग्रंथियो के हारमोन और कोशिकाओं के सामान्य वातावरण को बनाए रखने के लिए आवश्यक पदार्थ हैं। इसमे कोशिकाओं के व्यर्थ उत्पाद भी मिलते हैं जो वृक्को द्वारा निष्कासित होने के लिए जा रहे है।

रुधिर का आतचन या जमना—रुधिर के थक्करण से हम सभी परिचित है। रुधिरवाहिनिया को चोट लग जाने पर मूल्यवान रुधिर की अत्यधिक हानि रोकने म यह घटना बहुत ही भारी महत्त्व की है।

आतचन का भौतिक आधार—थक्करण की प्रक्रिया म सबसे आवश्यक प्रतिक्रिया प्लास्मा म पाये जानेवाले पदार्थ फाइब्रिनोजन का द्रव स अधिक ठोस अवस्था म आना है। यद्यपि हम यह देखे कि इसमे थक्करण कम होता है। रुधिर

के सूक्ष्मदर्शीय परीक्षण से पता चलता है कि जब रुधिर थक्कित होता है, तो फाइब्रिन, जो फाइब्रिनोजैन की ठोस अवस्था है, के रगहीन धागे प्रकट होने लगते है। ये आपस मे गुथकर एक जाल बना देते है, जिसमे रुधिर-कोशिकाए तथा प्लाज्मा बन्द हो जाते है। इस प्रकार तरल रुधिर एक जैली-जैसे लाल पिंड मे परिवर्तित हो जाता है, जिसे हम थक्कित रुधिर के रूप मे जानते है। यदि हम कुछ थक्कित रुधिर को कुछ घटे तक स्थिर रहने देने के बाद देखे, तो हम देखेंगे कि कुछ तरल फिर मौजूद है और थक्का सकुचित हो गया है। जैसे-जैसे वह सकुचित होता जाता है, सीरम नामक भूसे-जैसे रग का द्रव बाहर निकलकर उसके ऊपर एकत्र होता जाता है।

थक्करण अकेले प्लाज्मा का ही कार्य हे। यदि प्लाज्मा को कोशिकाओ से पृथक् कर लिया जाए, तो वह तुरन्त थक्कित हो जाता है। यदि किसी थक्के को पानी मे धोया जाए, तो कोशिकाओ के बह जाने के कारण वह अपना लाल रग गवा देता है, किन्तु उसमे और कोई परिवर्तन नही आता। थक्करण मे कोशिकाओ का होना पूर्णत आकस्मिक है।

रुधिरवाहिनियो के भीतर थक्कण—सामान्यत रुधिर देह के भीतर थक्कित नही होता, यद्यपि प्लीहा-जैसे स्थान मे यह कुछ देर के लिए रुका रह सकता है। किन्तु यदि किसी रुधिरवाहिका का अस्तर खुरदरा हो जाता है, या वह किसी बिन्दु पर चोट खा जाती है, तो थक्के के लिए एक केन्द्र-बिन्दु बन जाता है। आमतौर पर ऐसी घटना सरक्षणात्मक होती है, जो वाहिनी की दीवार के किसी कमजोर बिन्दु को मजबूती देती है, यह वाहिनी के फटने को, और तज्जनित रुधिर-स्राव को, रोकती है। तथापि कभी-कभी यह युक्ति उल्टी चोट कर जाती है। कोई थक्का बढता रह सकता है और अन्त मे वाहिनी को पूर्णत. बन्द करके रुधिर के बहाव को रोक दे सकता है। यदि वाहिनी किसी आवश्यक प्रदेश को रुधिर की प्रदाय करती है, तो ऐसा थक्का उस व्यक्ति को भारी नुकसान पहुंचा सकता है और इसका परिणाम मृत्यु तक हो सकता है। रुधिर-वाहिनी के भीतर बननेवाले थक्के को 'घनास्र' या 'थ्रावस' और वाहिनी के इस प्रकार बन्द होने को 'घनास्रता' कहते है। इसमे एक और भी खतरा है। थ्रावस चाहे वाहिनी को बन्द भी न करे, तब भी वह वहा से छूटकर रुधिर-प्रवाह के साथ बहना शुरू कर सकता है और किसी ऐसी वाहिनी मे पहुच सकता है कि जहा वह चल नही सकता। इससे रुधिर के प्रवाह मे रुकावट पैदा हो जाएगी और इसके परिणाम भी गम्भीर हो सकते है। भ्रमणशील थक्के (या हवा के बुलबुले या तेल की बूद) को 'परिवहनावरोधक' या 'एंबोलस', और इससे उत्पन्न अवस्था को 'परिवहनावरोध' या 'एंबोलिज्म' कहते है।

रुधिर का आयतन—विभिन्न तरीको से यह अनुमान लगाया गया है कि रुधिर देह के भार के तेरहवे भाग के लगभग बराबर होता है। इस प्रकार 140 पौंड भारवाले व्यक्ति की देह मे लगभग 5 क्वार्ट रुधिर होगा। ये केवल

अनुमान ही है क्योंकि रुधिर का आयतन निर्धारित करने की कोई पद्धति अभी तक नहीं निकली है कि जिसमें त्रुटियाँ न हो सकें।

अब भिन्न भिन्न अवस्थाओं में भी रुधिर में परिवर्तन करते हैं। रुधिर का आयतन साधारणतया स्थिर रहता है। इसका यही मुख्य है कि रुधिर कोशिकाओं की संख्या उनके निर्माण तथा विनाश की क्रियाओं के संतुलन के द्वारा स्थिर रखी जाती है। प्लाज्मा आयतन जल के निर्गमन तथा ग्रहण करने की मात्रा द्वारा निर्धारित किया जाता है और स्थिरता कायम रखने के लिए भी कई युक्तियाँ काम करती हैं। चूंकि पानी कोशिकाओं तथा बाहर रुधिर के बीच में चलता रहता है और चूंकि पानी त्वचा से, उच्छ्वसित वायु, पसीना, विष्ठा तथा मूत्र के रूप में निरंतर जाता रहता है, इसलिए रुधिर से पानी लगातार निकलता रहता होगा। पानी की पूर्ति हमारे पिए पानी और कुछ रासायनिक यौगिकों के दहन से उत्पन्न हुए पानी से भी होती ही रहती होगी। जल संतुलन को बनाए रखना मुख्यतः वृक्कों का काम है। यदि पानी का निगरण या ग्रहण में अधिक होगा तो मूत्र में पानी की मात्रा कम हो जाएगी। दूसरी दशा में ज्यादा उत्पन्न होगा।

इस प्रकार ऊतकों का आयतन पानी की प्रणाली के लिए रुधिर आयतन अपने स्तर पर ही रहना चाहिए। यह रुधिर-स्राव को समझने में भी एक कारण है।

रुधिर-स्राव—न्यून हुआ रुधिर आयतन यद्यपि रुधिर में उपस्थित काम और सामान्यतः अधिक गंभीर है। रुधिर आयतन के गिरने का एक अधिक सामान्य कारण रुधिर स्राव है। इसमें चूंकि संपूर्ण रुधिर की ही हानि होती है इसलिए कोशिकाओं की नियत संख्या और प्लाज्मा का आयतन दोनों ही कम हो जाते हैं। रुधिर-स्राव बंद हो जाने के बाद देह को इन क्षतियों की पूर्ति के लिए अत्यधिक संघर्ष करना पड़ता है। यदि समस्त रुधिर आयतन के 30 प्रतिशत से अधिक की हानि नहीं हुई है तो देह-तंत्र शीघ्र ही क्षति पूर्ति में सफल हो जाता है। रुधिर में लाल कोशिकाओं की कमी के कारण आक्सीजन का जो अभाव उसमें आ जाता है वह हड्डी की लाल मज्जा को अधिक संख्या में लाल कोशिकाएँ उत्पन्न करने के लिए विवश कर देता है। इस तरह कुछ ही सप्ताहों में लाल कोशिकाओं का फिर से अपने स्वाभाविक अनुपात में आ जाना संभव है। प्लाज्मा का आयतन शरीर में कोशिकाओं या ऊतकीय तरल द्वारा केशिकाओं में जल विसरण से शीघ्र पूरा कर लिया जाता है। यह पूर्ति करने की क्रिया इतनी तेज़ी से होती है कि संपूर्ण रुधिर-आयतन फिर से अपने स्वाभाविक स्तर पर आ जाता है। लाल कोशिकाओं और प्लाज्मा का अनुपात यद्यपि इस परिस्थिति में पहले से कम होता है और उस समय तक कम रहता है जब तक कि कोशिकाओं की संख्या फिर से स्वाभाविक मात्रा में नहीं आ जाती। रुधिर आयतन के इस अभाव से वृक्क कुछ अधिक गाढ़ा मूत्र स्रवित करते हैं (जिसमें जल की मात्रा कम होती

है), जिससे शरीर को आवश्यकतानुसार जल सचित करने का अवसर मिल जाता है।

रुधिर-आधान और रुधिर-वर्ग—यदि उपर्युक्त परिस्थिति से अधिक चिंताजनक रुधिर-स्राव हुआ है, तो देह केवल अपने तत्र द्वारा इस क्षति को पूरा करने के योग्य नही रहती और यदि उसे ठीक समय पर सहायता न दी जाए, तो मृत्यु तक होने की सभावना रहती है। ऐसे समय मे न्यून हुआ रुधिर-दाव, जो रुधिर-आयतन की कमी के कारण होता है, रुधिर मे ऑक्सीजन की कमी से अधिक मघातक सिद्ध होता है। रुधिर को परवहित रखने के लिए एक निश्चित न्यूनतम रुधिर-दाब की आवश्यकता होती हे, यह दाब उस न्यूनतम स्तर तक कायम रहना आवश्यक है। इससे नीचे गिरने पर महत्त्वपूर्ण अगो को समुचित मात्रा मे रुधिर नही पहुच पाता और मृत्यु होने की सभावना रहती है। इस न्यून हुए रुधिर-दाव पर नियत्रण पाने के लिए देह मे द्रव के इजेक्शन के द्वारा रुधिर-आयतन वढाना ही एकमात्र उपाय है।

इस कार्य के लिए सवसे उत्तम आधान द्रव सम्पूर्ण रुधिर ही है। वहुत-से अन्य सहायक द्रव सुझाए अवश्य गए है लेकिन उनमे से कोई भी या तो व्यावहारिक नही है या फिर हानिकारक है। पिछले कुछ वर्षो मे रक्त-वैको का प्रचलन हुआ है। ये सस्थाएं वहुत ही उपयोगी और मूल्यवान् सिद्ध हुई है। दानकर्ताओ के रुधिर की कोशिकाओ से प्लाज्मा पृथक् करके अलग एकत्रित कर लिया जाता है। फिर यह प्लाज्मा ठडा कर लिया जाता है या सुखा लिया जाता है। इस प्रकार इसका अधिक समय तक सुरक्षित रखा जाना सम्भव है। विशेष रूप से सुखाए हुए प्लाज्मा के कई लाभ है। यह आसानी से कही भी ले जाया जा सकता है। सग्रह करने के लिए भी इसे कम स्थान की आवश्यकता पडती है। व्यवहार मे लाने के लिए इसे सिर्फ आसवित जल की सही मात्रा मे घोलना पडता है। सुखाया या जमाया हुआ प्लाज्मा किसी भी व्यक्ति को सुरक्षापूर्वक दिया जा सकता है।

यह अन्तिम सुविधा वहुत ही महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण रुधिर हर व्यक्ति मे अलग-अलग प्रकार का होता है। यह प्रकार जातीय भेदो पर निर्भर नही है। यह देखा गया है कि लाल रुधिर-कोशिकाओ मे दो द्रव्य मिल सकते है। इन्हे हम A और B कह सकते है। इसी तरह प्लाज्मा मे भी दो और द्रव्य a और b हो सकते है। यदि A और a या B और b रुधिर मे एक साथ हो जाए, तो ये लाल कोशिकाओ को गुच्छित कर देते है। रुधिर के इस प्रकार गुच्छित होने से महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो को रुधिर पहुचानेवाली अत्यन्त वारीक वाहिनियो के अवरोधन से मृत्यु तक हो सकती है।

साधारणतया लाल कोशिकाओ मे पाये जाने वाले द्रव्यो के अनुसार किसी भी व्यक्ति का रुधिर इन प्रकारो मे से एक प्रकार का होता है—Ab, Ba, AB या O (O प्रकार मे न A द्रव्य होता है, न B)।

सम्पूर्ण रुधिर के आधान में पूर्ण सुरक्षा की दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि दिया जाने वाला रुधिर और पाने वाले का रुधिर एक ही प्रकार का हो। इसका सबसे अधिक विश्वसनीय ढंग यह है कि ग्रहण से लेना रुधिर मिलाकर सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखे जायें और यदि उनमें गुच्छन नहीं होता हो तो उन्हें उपयुक्त माना जाता है।

फिर भी कुछ मामलों में देखा गया कि उपयुक्त सभी सावधानियों के बावजूद रुधिर आधान के बाद कुछ अप्रत्याशित प्रतिक्रियाएं हुई। बाद के अध्ययन से Rh तत्त्व का पता चला। यह एक ऐसा द्रव्य है जो (A और B द्रव्यों के अलावा) लाल कोशिकाओं में हो भी सकता है और नहीं भी। प्लाज्मा में साधारणतया Rh तत्त्व जैसा कोई द्रव्य नहीं होता जिसकी तुलना a या b द्रव्यों से की जा सके।

यदि Rh तत्त्व वाला (धनात्मक) रुधिर किसी ऐसे व्यक्ति को दिया जाता है जिसके रुधिर में कोई Rh (ऋणात्मक) तत्त्व नहीं है तो उसका रुधिर प्रतिक्रिया करके एक ऐसा द्रव्य बनाता है जो Rh तत्त्व से मिलकर लाल कोशिकाओं को गुच्छित कर देता है। साधारणतया एक धनात्मक Rh रुधिर आधान से इतनी मात्रा में यह द्रव्य नहीं बनता कि लाल कोशिकाओं को गुच्छित कर दे और उसके बुरे परिणाम निकलें। लेकिन दूसरे या तीसरे आधान से गम्भीर परिणाम निकल सकते हैं।

गर्भावस्था में यह Rh तत्त्व विशेष उलझन पैदा कर सकता है। यदि ऋणात्मक Rh तत्त्व वाली स्त्री धनात्मक Rh तत्त्व वाले पुरुष का गर्भ धारण करती है तो गर्भ धनात्मक Rh का होगा क्योंकि धनात्मक Rh अवस्था आनुवंशिक रूप से प्रधान है। गर्भ के रुधिर में Rh तत्त्व माता को उपयुक्त तत्त्व विकसित करने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार के पहले गर्भाधान का आमतौर पर कोई बुरा परिणाम नहीं होता लेकिन यदि वही माता अन्य Rh धनात्मक गर्भ धारण करती है तो यह द्रव्य (जो अब माता के रुधिर में परिपुष्ट हो चुका होता है) गर्भ के रुधिर में प्रवेश करके गर्भ की लाल कोशिकाओं को गुच्छित कर दे सकता है। श्याम शिशुओं (ब्लू बेबीज) के पैदा होने का कारण यही परिस्थिति है। ऐसी घटनाएं वास्तव में अधिक नहीं होतीं क्योंकि संसार में ऋणात्मक व्यक्तियों की संख्या अधिक नहीं है और फिर मां के रुधिर का गर्भ के रुधिर में चला जाना भी हमेशा नहीं होता। यदि गर्भ के रक्त में कोशिका गुच्छित हो भी जाए तो आजकल चिकित्सक प्रसव के तुरन्त बाद सही प्रकार का रुधिर आधान करके शिशु के दूषित रुधिर की स्थानपूर्ति कर देते हैं। इसलिए यदि परिस्थिति को समझ लिया जाए और सुरक्षा के सभी उपाय व्यवहार में ले आए जाएं तो भावी माता के रुधिर में Rh तत्त्व का अभाव उसके गर्भ धारण करने में कोई अवरोध नहीं डाल सकता।

इसलिए उन व्यक्तियों के रुधिर प्रकार के पता रहने के लाभ प्रत्यक्ष हैं जिन्हें

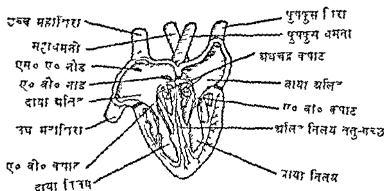
सम्पूर्ण रुधिर के आधान की आवश्यकता पडती हो। भावी माता-पिताओ के सम्बन्ध मे भी यही बात सही है। सौभाग्य से जिन व्यक्तियो को सिर्फ प्लाज्मा की आवश्यकता पडती है, उनके रुधिर-प्रकार का जानना आवश्यक नही है। सञ्चित प्लाज्मा के a और b द्रव्य रुधिर मे A या B द्रव्य रखनेवाले व्यक्ति के अन्दर अवाछित प्रतिक्रियाए उत्पन्न नही करते। अनेकानेक लाभ होने के कारण सुखाया हुआ प्लाज्मा, युद्ध और शाति, दोनो मे ही सर्वाधिक उल्लेखनीय जीवन-रक्षक तत्त्वो मे एक माना गया है।

हृदय

हृदय वह पप है, जो रुधिर को परिवहन-तन्त्र की वाहिकाओ मे परिवहित करता है। यह वक्षीय गुहा के मध्य मे स्थित है और सयोजी ऊतक के दृढ खोल मे बद है, जिसे परिहृद् कहते है। आजीवन, दिन और रात, हृदय औसतन प्रति मिनट सत्तर बार धडकता है।

परिवहन का मार्ग—सपूर्ण परिवहन-तत्र आकृति 7 मे दिखाया गया है। वे वाहिकाए, जो हृदय तक रुधिर ले जाती है, शिराए कहलाती है और जो वाहिकाए रुधिर को हृदय के बाहर ले जाती है, वे धमनिया। हृदय के मुख्य चार कक्ष है। ऊपर के दो अलिद कहलाते है और नीचे के निलय। बाये निलय से बाहर जानेवाली धमनी देह की सबसे बडी धमनी है, जो महाधमनी कहलाती है और फेफडो को छोडकर देह के सभी क्षेत्रो मे अपनी शाखाओ द्वारा रुधिर वितरित करती है। सभी ऊतको मे लघुतम धामनिक उपविभाग केशिकाओ मे बट जाते है और ये मिलकर शिराओ का निर्माण करती है। हृदय के नीचे की तमाम शिराए लघु महाशिरा मे और हृदय के ऊपर की उच्च महाशिरा मे विलय हो जाती है। ये दो बडी शिराए हृदय के दाये अलिद मे मिलती है। रुधिर-परिवहन का यह मार्ग, जो महाधमनी मे से प्रारम्भ होता है और महाशिरा मे समाप्त होता है, देहीय परिपथ कहलाता है। फुपफुस-परिपथ फेफडो को रुधिर देता है। इस परिपथ मे दाये निलय की फुफ्फुस-धमनी, फेफडो की केशिकाए और फुफ्फुस-शिराए होती है, जो बाये अलिद को रुधिर ले जाती है। इस चार कक्षवाले हृदय के दाये और बाये पक्ष बिलकुल अलग-अलग होते है। दाये भाग मे देहीय ऊतको से न्यून ऑक्सीजन की मात्रावाला रुधिर आता है और बाये मे फेफडो से ऑक्सीजन से परिपूर्ण।

हृदय की बनावट—हृदय चार कक्षवाला हाथ की मुट्ठी के बराबर एक पेशीय अंग है। इसकी दीवारो का मुख्य ऊतक हृद्पेशी या कार्डियक पेशी है। जो एक-दूसरे से पूर्णरूप से जुडे हुए भागो का एक जाल है। कार्य और बनावट की दृष्टि से दोनो अलिदो की पेशी अनगिनत शाखाओवाली एक कोशिका है। निलयो की पेशी भी इसी प्रकार की एक और कोशिका है। पेशीय ऊतक सयोजी ऊतको द्वारा एक सूत्र मे बधा हुआ है। अलिदो को भी निलयो से सयोजी ऊतक ही जोडते है।



आकृति 10—हृदय की आंतरिक संरचना का अर्ध आरेखीय चित्र

भित्तियों में रुधिर वाहिकाएं और तंत्रिका तंतु होते हैं। इनके अलावा यहां एक प्रकार का चालक ऊतक भी होता है, जिसकी चर्चा हम बाद में करेंगे।

बायें निलय की भित्तियां दायें निलय की भित्तियों से अधिक मोटी होती हैं जबकि अलिंदीय भित्तियां बायें निलय की भित्तियों से भी अधिक पतली होती हैं। भित्तियों का यह मोटापन हर कक्ष का रुधिर-दाब पैदा करने की शक्ति से संबंध रखता है। अलिंदों का कार्य केवल अपने समीपवर्ती निलयों को रक्त देना भर है। दायें निलय को ज्यादा दूर स्थित फेफड़ों तक रक्त भेजना पड़ता है जब कि बायें निलय पर समस्त देहीय परिपथ में रक्त संचार करने का भार है।

अलिंद और निलय के बीच एक कपाट होता है, जिसे अलिंद निलयीय कपाट या ए० वी० कपाट कहते हैं। ये कपाट इस प्रकार कार्य करते हैं कि रुधिर केवल अलिंद से निलय की ओर ही जा पाता है, विपरीत दिशा में नहीं। हर निलय और उससे निकलनेवाली धमनी के बीच एक एकमार्गी कपाट भी होता है (अर्धचन्द्र कपाट क्योंकि इसके द्वार आधे चन्द्रमा की तरह होते हैं) जो रुधिर को निलय में केवल धमनी की ओर ही जाने देता है। शिराओं और अलिंदों के जोड़ पर कोई कपाट नहीं होते।

हृदय की क्रिया—कुंचनशीलता की क्षमता हर प्रोटोप्लाज्म में निहित है लेकिन पेशीय ऊतकों में यह इस स्तर तक विकसित हो चुका है कि यह उनका प्रमुख लक्षण हो गई है। हृत्पेशी का तालपूर्ण कुंचन हृदय का धड़कन कहलाता है।

हृदय की धड़कन का उद्गम—यह बड़ी ही वाद विवाद का विषय रहा है कि हृदय की धड़कन हृत्पेशी में अंतर्निहित है या वह उन तंत्रिकाओं की तरंगों से आती है जो हृदय को तंत्रित करती हैं। यद्यपि इसका मूलभूत कारण अभी तक ज्ञात नहीं है लेकिन प्रमाण यही मिलता है कि धड़कन मूलतः एक पेशीय गुण है, भ्रूणीय हृत्पेशी तंत्रिका ऊतक के प्रभाव में भी ताल के साथ धड़कती है।

युवा हृदय उस तक जानेवाली सभी तंत्रिकाओं के काट देने पर भी धडकता रहता है।

यह सत्य है कि हृदय के हर क्षेत्र मे यह ताल समान नही होती। यदि मेंढक के पृथक् किए हुए हृदय के अलिंद काटकर निलयो से अलग कर दिए जाए, तो अलिंद फिर भी धडकते रहते है और वह भी निलयो की अपेक्षा अधिक तेजी से। यदि हृदय-अवरोध की अवस्था आ जाए, तो मनुष्य मे भी निलय अलिंद से अलग गति पर धडक सकते है।

कार्डियक चक्र—निकट से देखने से पता चलता है कि हृदय का हर भाग एक साथ नही धडकता। वास्तव मे वहा कई घटनाओं का एक सुव्यवस्थित क्रम चलता है, जिसे कार्डियक चक्र कहते है और जो वारम्वार दुहराया जाता है। यह चक्र दायें अलिंद के प्रकुचन से प्रारम्भ होता है, जिसके तुरन्त वाद वाये अलिंद का कुचन होता है। थोडे-से विराम के वाद दोनो निलय प्रकुचित हो जाते है। हर कक्ष के प्रकुचन के वाद उनके फैलने या शिथिलन का अवसर आता है और फिर थोडा-सा विराम। हृदय की धडकन उपर्युक्त विशेप चालक ऊतक मे प्रारम्भ होती है। यह ऊतक, नोड-ऊतक (आकृति 10) के अनुसार वितरित है। वाये अलिंद मे इसका सचय होता है, जिसे साइनो-औरिकुलर या एस० ए० नोड कहते है। यह नोड हृदय का सवसे अधिक उत्तेजक भाग है और वाकी हृदय के लिए वेगोत्पादक का कार्य करता है। यहा पर हृदय की धडकन जन्म लेती है और इससे उत्पन्न उत्तेजना सारे अलिंदो मे प्रसारित कर दी जाती है (स्वय अलिन्दीय पेशी द्वारा)। दाये अलिंद के वाये अलिंद से पहले कुचित होने का यही कारण है।

अलिंदीय और निलयी पेशिया निरतर नही है, इसलिए यह उत्तेजना एक अलिंद से दूसरे अलिंद मे रुधिर नही पहुचा सकती। एस० ए० नोड द्वारा उत्पादित उत्तेजना-तरग अलिंद और निलय के वीच सधि के नोड ऊतक को, जिसे अलिंद-निलय नोड या ए० वी० नोड कहते है, उत्तेजित करती है। इससे एक अलिंद-निलय तन्तु-गुच्छ निलयी पेशियो तक आता है और अपनी शाखाए सभी निलयी भित्तियो की ओर भेजता है। ए० वी० नोड और गुच्छ द्वारा उत्तेजना की दशा निलयो तक प्रसारित कर दी जाती है, जो तुरन्त ही प्रकुचित हो जाते है।

जव सचालन-तन्त्र ठीक कार्य कर रहा होता है, तो कार्डियक चक्र अपने स्वाभाविक ढग से चलता जाता है। कभी-कभी अलिंद और निलय के वीच का सचालन-तन्त्र अवरुद्ध हो जाता है—या तो यान्त्रिक कारणो से या अपनी कायिकी अवस्था मे कोई परिवर्तन आने से—और हृदय-अवरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि यह अवरोध अपूर्ण है, तो वेगोत्पादक का उत्तेजक प्रभाव कभी निलयो तक पहुच जाता है और कभी नही। इस प्रकार इन विरामो मे (जो नियमित रूप से भी हो सकते है) निलय एक धडकन धडकना छोड जा सकते है।

लेकिन पूर्ण अवरोध की स्थिति में एक भी उत्तेजना-तरंग नोड-ऊतक से होकर निलयों तक नहीं पहुंच सकती। इसका अर्थ यह नहीं कि निलयीय धड़कन पूरी तरह बंद हो जाए (जिससे तुरन्त मृत्यु हो सकती है)। ऐसी हालत में निलय का एक भाग वेगोत्पादक का कार्य करने लगेगा और निलय का कुंचन प्रारम्भ कर देगा। निलय की यह धड़कन अलिंद की धड़कन से धीमी होती है। हृदय अवरोध की दशा में ऊतकों का रुधिर उस नियमितता से नहीं दिया जाता जो साधारणतया रुधिर संचालन में होती है और इस अनियमितता का कारण है अलिंदीय तथा निलयी कुंचन की असंबद्धता। इसलिए विशेषकर ज़ोर पड़ने की अवस्था में जीव कुछ असुविधा की स्थिति में रहता है।

दाब परिवर्तन और कपाटों की क्रिया—अलिन्दों तथा निलयों के रुधिर से भरने कुंचित होने तथा शिथिलन के साथ-साथ उनके भीतर दाब परिवर्तन होता है जो कपाटों का नियन्त्रण करता है और इस प्रकार हृदय में से जानेवाले रुधिर के प्रवाह की दिशा निश्चित करता है। अलिन्दीय शिथिलन के समय शिरा रुधिर दोनों अलिन्दों में बह आता है और जैसे जैसे वे रक्त से भरते जाते हैं उनमें दाब बढ़ने लगता है। जब यह अन्तर अलिन्दीय दाब निलय के दाब से बढ़ जाता है तो ए० वी० कपाट खुल जाते हैं और रुधिर निलयों को भरने लगता है। अलिन्दीय कुंचन फिर अलिन्दों का शेष रुधिर निलयों में भरने लगता है। अलिन्दीय हुए होते हैं और कुंचित होना शुरू करते हैं। वे जैसे ही कुंचित होने लगते हैं उनके अन्दर का दाब शीघ्रता से बढ़ता है। जैसे ही यह दाब अन्तर अलिन्दीय दाब से बढ़ जाता है वह ए० वी० कपाटों को बन्द कर देता है और रुधिर का अलिन्दों में वापस आना रोक देता है। और भी अधिक बढ़ता हुआ अन्तर निलयीय दाब निलयों से निकलनेवाली धमनियों में के दाब से बढ़ जाता है। यह अर्धचन्द्र कपाटों को खोल देता है और रुधिर धमनियों में धकेल दिया जाता है। आकस्मिक रुधिर का आगमन धामनिक दाब बढ़ा देता है और अन्तर निलयीय दाब घटा देता है। जब अन्तर निलयीय दाब धामनिक दाब के नीचे गिर जाता है तो अर्धचन्द्र कपाट झट से बन्द हो जाते हैं और जैसे जैसे अन्तर निलयीय दाब गिरता जाता है तथा अन्तर अलिन्दीय दाब बढ़ता जाता है त्यों त्यों एक स्थिति ऐसी आ जाती है कि अन्तर अलिन्दीय दाब शीघ्र ही अन्तर निलयीय दाब से बढ़ जाता है और ए०वी० कपाट फिर से खुल जाते हैं। इस प्रकार यह चक्र बार बार दुहराया जाने लगता है।

इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम—कार्डियक पेशी की क्रिया के साथ साथ विद्युतीय परिवर्तन भी होते हैं (हृदय की धड़कन का आरम्भ अंशतः इन्हीं से होता है)। ये इतने शक्तिशाली होते हैं कि देह की सतह तक पहुंच सकते हैं वहां किसी संवेदनशील विद्युतीय यन्त्र द्वारा उनकी उपस्थिति दर्शाई जा सकती है। यह यन्त्र इलेक्ट्रोकार्डियोग्राफ कहलाता है और इसके द्वारा अंकित रेकार्ड इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम कहलाते हैं। इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम चिकित्सकों और जीव विशेषज्ञों के लिए

अत्यन्त लाभप्रद है। चिकित्सक कार्डियोग्राम देखकर यह जान लेता है कि विद्युतीय तरगो मे कुछ प्रकार के अभाव हृदय के कार्य मे गडवड होने का सकेत है और जीव-विशेषज्ञ के प्रयोग के लिए यह वडा मूल्यवान् है। उदाहरण के लिए कुत्ते के हृदय के ए० वी० गुच्छ को चोट पहुचाई जा सकती है और चोट को इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम पर दर्शाया जा सकता है।

हृदय की ध्वनियां—हर कार्डियक चक्र के दौरान हृदय से दो ध्वनिया उत्पन्न होती है। पहली ध्वनि दूसरी की अपेक्षा देर तक रहनेवाली और दवी-सी हल्की ध्वनि होती है। दूसरी ध्वनि अर्धचन्द्र कपाटो के एकाएक वन्द होने से उत्पन्न होती है। पहली ध्वनि शायद ए०वी० कपाटो के वन्द होने के शोर और निलयीय पेशियो की वडी राशि के कुचन से होती है (कोई भी पेशी अपने कुचन के समय ध्वनि उत्पन्न कर सकती है)।

आप इन ध्वनियो को किसीके वक्ष के हृदय-क्षेत्र पर कान रखकर या स्टेथस्कोप द्वारा आसानी से सुन सकते है। मुह से 'लव्व-डव' का उच्चारण, करके और दूसरे स्वर पर अधिक जोर देकर इन ध्वनियो के समान ध्वनि पैदा की जा सकती है। हृदय के कपाटो की पहुची हुई क्षति या चोट इन ध्वनियो मे परिवर्तन ला सकती है। उदाहरण के लिए यदि अर्धचन्द्र कपाट ठीक से वन्द नही होते है तो रुधिर धमनियो से सीत्कार की ध्वनि करता हुआ निलयो मे वापस चला जाता है। यह ध्वनि अव 'लव्व-डव' से वदलकर 'लव्व श्' हो जाती है। हृदय की यह अवस्था हृदय की वडवडाहट कहलाती है।

हृदय की धडकन के वल का नियमन—व्याप्त परिस्थिति मे हृदय अधिक से अधिक सभव जोर के साथ प्रकुचित होता है, लेकिन कुचन की शक्ति परिस्थिति के साथ वदलती जाएगी। रुधिर मे प्रवाहित होनेवाले कुछेक रासायनिक तत्त्वो के प्रभाव-स्वरूप हृदय की धडकन अधिक (या कम) जोर की हो सकती है। फिर चूकि पेशी लचीली होती है और लचीला पिंड अपने लचीलेपन की सीमा तक खीचा जाने पर अधिक वल के साथ प्रकुचित होता है, इसलिए हृदय को भरनेवाले रुधिर की मात्रा धडकन के वल को निश्चित करने मे महत्त्वपूर्ण है। हृदय मे जव भी शिरा के रुधिर की वापसी वढ जाती है, तो धडकन अधिक शक्तिशाली हो जाती है और अधिक रुधिर हृदय के वाहर भेजा जाने लगता है।

विश्रामपूर्ण अवस्था मे निलय का हर कुचन लगभग चौथाई गिलास पानी के वरावर आयतन के रुधिर का निष्कासन करता है। कठिन श्रम के समय यह निष्कासन तिगुना तक हो सकता है।

हृदय की गति का नियमन—विश्राम की अवस्था मे वयस्को के हृदय की औसत गति लगभग 70 प्रति-मिनट रहती है (वालको मे यह कुछ अधिक तेज होती है)। लेकिन कठिन श्रम के समय यह वढकर 200 प्रति-मिनट तक जा सकती है, या अन्य परिस्थितियो मे यह गिरकर लगभग 60 पर भी पहुंच

सकती है। जो यत्र प्रनम हृदय की सामान्य गति को कायम रखते हैं या उसम अतर आने देते है उन्हे तीन वर्गों म विभक्त किया जा सकता है तन्त्रिकायिक, रासायनिक और ऊष्मीय।

तन्त्रिकायिक नियत्रण—यद्यपि हृदय की धडकन स्वत चालित है तथापि उसपर तन्त्रिकायिक आवेगो द्वारा गहरा प्रभाव डाला जा सकता है। तन्त्रिकायिक नियत्रण के बिना परिवर्तनशील देहीय परिस्थितियो के अनुसार इसकी अनुकूलित होने की क्षमता अधिकाशतया समाप्त हो जाएगी।

हृदय की गति को प्रत्यक्षत नियन्त्रित करनेवाली तन्त्रिकाओ के दो जोडे हैं—दो वागी तन्त्रिकाए तथा दो त्वरक तन्त्रिकाए। प्रथमोक्त मस्तिष्क के पृष्ठभाग के एक क्षत्र मेडयूला या अतस्था से निकलती है और हृदय सहित वक्षीय तथा उदरीय गुहाओ के विभिन्न अगो को अपनी शाखाए भेजती हैं। त्वरक तन्त्रिकाए रीढ रज्जु के वक्षीय भाग स निकलती है और अन्तत हृद् पेशी म विलीन हो जाती हैं। मनुष्य या प्रयोगागतगत जतु म त्वरक तन्त्रिकाओ की विद्युतीय उत्तजना हृदय की गति को बढा देती है। लकिन वागी तन्त्रिकाओ की उत्तजना हृदय की गति को धीमा कर दती है और यदि उत्तजना काफी शक्तिशाली है और काफी तन्त्रिका आवेग हृदीय पशी तक पहुचत हैं तो थोडी दर के लिए हृदय की गति पूरी तरह स रुक भी सकती है।

हमारे पास इस बात के प्रमाण है कि य दोनो ही तन्त्रिका समूह हृदय पर लगातार प्रभाव डालते हैं। यदि वागी तन्त्रिकाए काट दी जाए और त्वरक तन्त्रिकाए सुरक्षित बनी रहे तो हृदय की गति बढ जाती है और बढी ही रहती है। इससे यह पता चलता है कि आवेग लगातार वागी स अतस्था म आ रहे हैं और हृदय की गति को धीमा करन का प्रयास कर रहे है। ऐसे अवरोधक आवेगो के अभाव म हृदय अपनी रोक लगाने की क्रिया स मुक्त हो जाता है और उसकी गति बढ जाती ह। जब त्वरक तन्त्रिकाए काट दी जाती हैं तो इसके बिलकुल विपरीत होता ह।

इस तन्त्रिकायिक क्रिया के कारण हृदय को दो प्रकार से त्वरित किया जा सकता ह—वागीय आवेगो की सख्या म कमी करके या त्वरक आवेगो म वृद्धि करके—और दो ही प्रकार स धीमा भी किया जा सकता ह। इन तन्त्रिकाओ की क्रिया द्वारा हृदय की गति साधारण और आकस्मिक कार्यों के लिए तजी के साथ और बडी अच्छी तरह अनुकूलित की जा सकती ह। त्वरक और अवरोधक तन्त्रिका आवगो का यह क्रमिक काय हृदय की गति को हर अवसर के लिए पूरी मितव्ययिता और निपुणता के साथ नियमित करन लगता ह। वागीय और त्वरक आवग एक-दूसर का पूणत सतुलित नही कर दत इनम वागीय आवगो का प्रभाव अधिक होता ह। यह एक दृष्टि स स्वाभाविक ही ह क्योकि शरीर की हर क्रिया हृदय की गति को बढानवाली होती ह।

मस्तिष्क के उच्चतर स्तरो स उद्भूत तन्त्रिका आवग भी हृदय की गति म

नियमन मे महत्त्वपूर्ण है। इससे विदित होता है कि केद्रीय तन्त्रिका-तन्त्र के भीतर प्रवाहित होनेवाले तन्त्रिका-आवेग भी अतर्गामी आवेगो जितने ही महत्त्व-पूर्ण है। उनके प्रभाव के सबसे प्रकट उदाहरण भावातिरेक की अवस्थाओ द्वारा हृदय-गतियो मे आए परिवर्तनो मे देखे जा सकते है। हममे से अधिकतर लोग क्रोध, उत्तेजना और आशका के कारण उत्पन्न हुए हृदय के तीव्रतर वेग या अत्यधिक भय से उत्पन्न धीमी हृदय-गति से परिचित है। निश्चय ही बहुत-सी युक्तिमगत मानसिक क्रियाए भी किसी सीमा तक हृदय की गति मे परिवर्तन ला सकती है।

रासायनिक नियंत्रण—रुधिर मे कार्बन डाई-ऑक्साइड की वृद्धि से हृदय की गति बढ सकती है, लेकिन ऐसा हृदीय पेशी पर सीधी क्रिया द्वारा नही होता। वस्तुत रुधिर मे इसकी वर्द्धित मात्रा अतस्था मे कार्डियो-त्वरक केन्द्र पर कार्य करती है। केन्द्र की सक्रियता से त्वरक तन्त्रिकाओ मे आवेगो के रेले पैदा हो जाते है, जिससे हृदय की गति बढ जाती है। कार्बन डाई-ऑक्साइड की मात्रा मे कमी इसके विपरीत प्रभाव डालती है। घटे या बढे उपापचयी अम्लीय उत्पादन के कारण रुधिर की अम्लता मे हुए परिवर्तन भी हृदय पर इसी प्रकार प्रभाव डालते है। यह क्रिया भी उसी प्रकार और उसी यत्र-प्रक्रम द्वारा होती है, जिसके द्वारा कार्बन डाई-ऑक्साइड हृदय की गति बढाती है।

अत स्रावी ग्रथियो के कुछ हारमोन, खास तौर से अधिवृक्क और थायरॉयड ग्रथियो के हारमोन, भी हृदय की गति पर प्रभाव डालते है। हम उनके कार्यो की चर्चा दसवे अध्याय मे करेगे।

ऊष्मीय नियंत्रण—हमारे आसपास की वायु के ताप का हृदय की गति पर कोई प्रभाव नही पडता या बहुत ही नगण्य प्रभाव होता है। लेकिन रुधिर का ताप कुछ अश तक हृदय की गति पर प्रभाव डालता है। जब देह का ताप 104° फारनहाइट तक चढ जाता है (सामान्य ताप 98 6° है,) तो हृदय की गति थोडी बढ जाती है। खैर, यह बात देर तक रहने वाले बुखार की दशा मे ही महत्त्वपूर्ण होती है, स्वस्थ अवस्था मे उच्च ताप की अल्पकालिक अवधियो मे (जैसे कठोर श्रम की अवस्था मे) नही।

कार्डियाई उत्पादन—हृदय का प्रति-मिनट उत्पादन 'मिनट-आयतन' कहलाता है। हृदय की क्रिया का समस्त नियमन मिनट-आयतन को वर्तमान परिस्थिति मे उपयुक्त बनाने के लिए होता है। इस बात का निर्धारण, कि एक निश्चित काल-अवधि मे ऊतको को कितना रुधिर जाता है, हृदय के उत्पादन से होता है।

अधिकाश परिस्थितियो मे, उत्पादन मे कोई परिवर्तन वृद्धि की ओर ही होता है। यह स्पष्ट है कि हम प्रति-मिनट उत्पादन को या तो प्रति धड़कन के उत्पादन को बढाकर (धडकन की शक्ति बढाकर), या धडकन की गति को बढा-कर, या दोनो का ही मिश्रण करके बढा सकते है। इस प्रकार **हृदय की** धटकन

के बल और हृदय की गति का नियमन उनका की आवश्यकता की तुष्टि के लिए समुचित मात्रा म रुधिर पम्प करन की ओर ही निर्दिष्ट रहता ह ।

रुधिर वाहिकाए

हृदय की सक्रियता रक्त दाब और रुधिर प्रवाह को नियंत्रित करनेवाले सभी यत्र प्रक्रमो का लक्ष्य कशिकाओ म समुचित मात्रा म रुधिर पहुचाना ह जहा गसो पोषको और अनुपयोगी तत्त्वो का महत्त्वपूर्ण आदान प्रदान होता ह ।

वाहिकाओ की सरचना--धमनिया और शिराए इसी आदान प्रदान के आधार पर बनी होती है। दानो की भित्तियो म तीन परत होती है । सबस भीतरी एपीथीलियम कोशिकाओ की एक इकहरी चिकनी परत होती ह जो सयोजी ऊतक पर आधारित रहती ह । यह चिकनापन रुधिर प्रवाह के दौरान भित्तियो के साथ होनेवाल घषण को कम कर देता ह । बीच की परत अधिक बडी होती है और शिरा और धमना म विभेद करती ह । दोनो ही वाहिकाओ म सयोजी ऊतक म जुडी चिकनी पेशी रहती है लेकिन बडी धमनियो म अनेक लचील या प्रत्यास्थ ततु भी होत है जो इन वाहिकाओ को इनकी लाक्षणिक लचक प्रदान करते हैं। सबसे बाहरी परत मस्त सयोजी ऊतक की बनी होती ह जिसम चिकनी पेशी को जानेवाले कुछ लचील ततु और तत्रिका ततु भी पाए जा सकते हैं ।

धमनिया और शिराओ के छोटे विभाग क्रमश धमनिका ततु शिरा या शिरिका कहलाते है । धमनिकाए धमनिया से आकार म और इस बात म भिन्न होती हैं कि बीच की परत म चिकनी पेशी म लचीले ततु का अनुपात अधिक होता ह । ततु शिराए शिराओ का ही छोटा रूप होती हैं ।

लघुतम वाहिकाए केशिकाए कहलाती हैं जिनकी भित्तिया केवल एकपरती होती हैं और एपीथीलियम की बनी होती हैं । ये सूक्ष्म वाहिकाए कोरी आख से नही देखी जा सकती क्योकि उनका व्यास लाल कोशिका स कुछ ही अधिक होता ह और उनकी लम्बाई औसतन एक इच का लगभग पच्चीसवा भाग होती ह ।

धामनिक रुधिर दाब--रुधिर जब हृदय स बाहर निकलता ह तो उसम काफी दाब होता ह । फिर भी निलयीय प्रकुचन द्वारा रुधिर को प्रदत्त समस्त ऊर्जा रुधिर का प्रवाह बनाने क काम नही आती । इस ऊर्जा का कुछ अश बडी धमनियो की लचीली दीवारो के फुलान क काय म व्यय हो जाता ह । इसके बाद धामनिक भित्तिया के पुन कुचन की तरग हृदय को वाहिकाओ म स रुधिर परिवहित करन म सहायता देती ह । इस पुन कुचन की तरग स ही नाडी-तरग की उत्पत्ति होती ह जो किसी भी धमना म अनुभव की जा सकती ह (अर्थात् देह की सतह क निकट की धमनियो म) । यदि धमनिया लचीली नालियो न होकर कठोर होती तो हर निलयीय प्रकुचन क साथ उनम दाब एकदम म बढता

और हर कुचन के साथ एकदम गिरता। इन परिस्थितियो मे रक्त-प्रवाह अविरल न होकर (जैसा कि यह वास्तव मे है) रुक-रुक करके होता। इस प्रकार धामनिक दाव और रुधिर-प्रवाह को निरन्तर कायम रखने का अधिकाश श्रेय धामनिक भित्तियो के लचीलेपन को ही है।

दाव-प्रवणता—धमनियो से धमनिकाओ, केशिकाओ और शिराओ मे रुधिर-दाव मे क्रमिक कमी होती जाती है। एक स्थान से दूसरे स्थान के बीच यह अतर दाव-प्रवणता कहलाता है, जिसके बिना प्रवाह हो ही नही सकता, अर्थात्, यदि रुधिर-दाव सभी स्थानो पर एक-सा होता तो एक स्थान से दूसरे स्थान मे रुधिर-प्रवाह नही हो पाता। यदि हृदय से निकलने और उसीमे लौटनेवाली केवल एक ही वाहिका होती और उसका व्यास सभी जगह एक-सा ही होता, तो वाहिका मे दाव धीरे-धीरे गिरता और यह पतन हृदय से उस स्थान की दूरी के अनुपात मे होता। दाव मे यह पतन वाहिकाओ की दीवारो से द्रव के घर्षण के समय उत्पन्न हुए अवरोध के कारण होता है। हृदय से निकलनेवाली धमनिया शीघ्र ही कई शाखाओ मे विभक्त हो जाती है, जिनमे से प्रत्येक धमनी कई-कई धमनिकाओ मे वट जाती है, जो स्वय कई केशिकाओ मे विभक्त हो जाती है। इस तमाम विभाजन का कुल नतीजा घर्षण-अवरोध प्रदान करनेवाली भित्तियो के अवकाश को वढाना है और उन भागो मे, जहा अनेक शाखाए उत्पन्न होती है, आकस्मिक दाव-पतन पैदा करना है। हृदय से रुधिर के आगे बढ़ने के साथ-साथ वडी धमनियो मे दाव धीरे-धीरे ही गिरता है, लेकिन धमनिका-क्षेत्र मे दाव-पतन आकस्मिक और वडे अनुपात मे होता है और केशिका-क्षेत्र मे यह पतन और भी अधिक हो जाता है। रुधिर जिस समय शिराओ मे पहुचता है, तव उसमे लगभग कोई दाव नही होता।

तकनीकी शब्दो की परिभाषा—हृदय की हर धडकन के साथ धामनिक रुधिर-दाव घटता-वढता है। रुधिर के निलय से धमनी मे निष्कासन के साथ रुधिर-दाव एकाएक वढ जाता है। दाव का शिखर-विंदु प्रकुचन-दाव कहलाता है, क्योकि यह निलयीय प्रकुचन या कुचन के कारण उत्पन्न होता है। निलय के विश्राम या अनुशिथिलन की अवस्था मे धमनी मे दाव कम हो जाता है, लेकिन धामनिक भित्तियो के पुन कुचन द्वारा वह अव भी काफी ऊचे स्तर पर कायम रखा जाता है। इस स्तर पर उसे अनुशिथिलन-दाव कहते है। अनुशिथिलन-दाव और प्रकुचन-दाव के वीच का अतर नाडी-दाव कहलाता है, जव कि उनका औसत माध्य धामनिक दाव होता है।

धामनिक रुधिर-दाव का माप—वाह पर कुहनी के ऊपर रवर की एक थैली लपेट दी जाती है और उसे हवा मे फुला दिया जाता है। यह थैली एक दाव-युक्ति से जुडी होती है, जो दाव की ऊचाई दर्शाती है। दाव मापनेवाला व्यक्ति स्टेथस्कोप के चोगे को कुहनी के अन्दर की तरफ रख देता है। यहा पर त्वचा के विलकुल नीचे ही एक धमनी जाती है। रवर की थैली का दाव फिर

इतना बढ़ाया जाता है कि यह धमनी को बन्द करके रुधिर का प्रवाह अवरुद्ध होता देख लेता है। अब इस जगह कोई ध्वनि नहीं सुनी जा सकती। इसके बाद धमनी में दाब धीरे धीरे कम कर लिया जाता है और धमनी के ऊपर को बराबर सुना जाता है कि हृदय की हर धड़कन के साथ रुधिर का एक प्रवाह उसमें गुजर सकती है। इस समय एक हल्की सी 'धुक्-धुक्' की आवाज सुनी जा सकती है। इस स्तर पर धमनिक दाब प्रकुंचन-दाब होता है। स्तर को धीरे धीरे और कम किया जाता है—'धुक्-धुक्' की आवाज कमजोर होती जाती है। सारा दाब निकल जाने पर जब ही रुधिर धमनी में निरन्तर बहने दिया जाता है, धमनी की आवाज बिलकुल बन्द हो जाती है। इस स्तर पर जब ध्वनि बन्द ही होती है, यह बिन्दु अनुशिथिलन-दाब प्रकट करती है।

इस ढंग से मापा गया दाब (उसे अभिलिखित करने के लिए पारे की ऊँचाई के मिलिमीटरों में मापा जाता है—एक मिलिमीटर एक इंच के लगभग पच्चीसवें भाग के बराबर होता है) यह इंगित करता है कि एक तरुण वयस्क व्यक्ति में औसत प्रकुंचन-दाब लगभग 120 मि॰ मी॰ और अनुशिथिलन दाब लगभग 80 मि॰ मी॰ होता है। रुधिर-दाब या शरीर में कोई भी दाब वायुमंडल के दाब (760 मि॰ मी॰) को 'शून्य' बिन्दु मानकर मापा जाता है। धमनिक दाब वायुमंडलीय दाब से ऊँचा होता है। इसका प्रमाण यह है कि कटी हुई धमनी से तुरन्त ही रुधिर बाहर आने लगता है। यदि यह दाब वायुमंडल के दाब से कम होता तो ऐसा होना संभव नहीं था।

धमनिक दाब का नियमन—सामान्य रुधिर-दाब बनाए रखनेवाले कारक—पांच बातें या कारक सामान्य रुधिर दाब बनाए रखने में सहायक होते हैं।

हृदय का पंप करने की क्रिया—हृदय किसी भी निश्चित अवधि में धमनी में जानेवाले रुधिर की मात्रा को नियन्त्रित करता है। यदि दूसरे कारक अचर रहें, तो हृदय के उत्पादन में वृद्धि धमनिक दाब में वृद्धि कर देगी—चाहे वह किसी भी कारण से क्यों न उत्पन्न हुई हो और इसी प्रकार हृदय के उत्पादन में कमी उसे कम कर देगी।

रुधिर आयतन—किन्हीं बन्द नलियों के तंत्र में दाब उत्पन्न करने के लिए उन्हें पूरी धारिता तक भरना आवश्यक है। साधारणतया धमनियाँ इसी प्रकार भरी रहती हैं। लेकिन उनके लचीलेपन के कारण उनमें अधिक रुधिर का प्रवेश कराया जा सकता है। परिवहनशील तरल के आयतन में वृद्धि उन्हें फैला देगी और बढ़ा हुआ दाब उत्पन्न कर देगी। तरल का निष्कासन दाब कम कर देता है। यह जैसा कि हम पहले कह चुके हैं पहला प्रभाव है जो रुधिर स्राव के बाद उत्पन्न होता है। हालांकि जीव घटा हुआ रुधिर दाब अधिक समय तक नहीं सह सकता फिर भी वह दाब में बड़ी गिरावट सह सकता है। प्रयोग के लिए रखे जन्तु में तो धमनिक दाब रुधिर के निष्कासन द्वारा एक तिहाई तक कम कर दिया जा सकता है और फिर बस वही निष्कासित रुधिर वापस डालकर सामान्य

स्तर पर लाया जा सकता है।

ऐसे अवसरो पर, जब अधिक रुधिर-आयतन की आवश्यकता होती है, तो प्लीहा इस कार्य मे प्राय सहायता देती है। रुधिर-स्राव, कठिन श्रम या भावात्मक परिस्थितियो मे प्लीहा की दीवारो की चिकनी पेशी कुचित होती है और प्लीहा मे सचित रुधिर परिवहनशील रुधिर मे धकेल दिया जाता है।

धामनिक दीवारों का लचीलापन—यह अनुशिथिलनीय दाव को उत्पन्न करता और बनाए रखता है। अनुशिथिलनीय दाव निलयीय प्रकुचन द्वारा एकाएक रुधिर फेके जाने और उसमे धामनिक भित्तियों के खिचने के बाद उनके सिकुडने की क्रिया से उत्पन्न होता है। अनुशिथिलन दाव प्रकुचन-दाव से अधिक सतुलित होता है, अर्थात् इसपर प्रकुचन-दाव की तरह रुधिर-दाव बनाए रखनेवाले कारको के परिवर्तन से अधिक प्रभाव नही पडता।

रुधिर का गाढापन या श्यानता—रुधिर पानी से करीब पाच गुना अधिक श्यान (गाढा) होता है। कोई तरल जितना ही श्यान होता है, उसके प्रवाहित होने मे उतनी ही बाधा होती है और उसे पतली नलियो मे भेजने के लिए उतना ही अधिक दाव चाहिए। यदि रुधिर की श्यानता कम हो जाती है, तो उसके प्रवाह का अवरोध भी कम हो जाता है और रुधिर-दाव गिर जाता है, इसी प्रकार श्यानता बढने पर रुधिर-दाव भी बढ जाता है।

परिधीय अवरोध—धमनिकाए धमनियो से अधिक पतली होती है और उनकी अपेक्षा किसी निश्चित अवधि मे अधिक रुधिर प्रसारित नही कर सकती। इसलिए धमनी से धमनिका मे रुधिर के जाते समय रुधिर-अवरोध होता है और इसी कारण कुछ कम सीमा तक धमनिका से केशिकाओ के बीच रुधिर-प्रवाह की भी यही स्थिति रहती है। यही परिधीय अवरोध है। यदि धामनिक अर्धव्यासो को कम कर दिया जाए, तो अवरोध बढ जाता है और रुधिर-दाव भी उसी अनुपात मे चढ जाता है।

तंत्रिकायिक नियंत्रण—रुधिर-दाव मे हृदय की गति को नियत्रित करनेवाले तन्त्रिकायिक प्रक्रमो और रुधिर-वाहिकाओ के छिद्रो (खास तौर से धमनिकाओ) के द्वारा आकस्मिक और तीव्र समजन किए जा सकते है।

धामनिक भित्तियो की चिकनी पेशी तत्रिका-आवेगो द्वारा सिकोडी या कुचित की जा सकती है। हृदय के समान ही इन पेशियो को भी तन्त्रिकाओ के दो जोडे जाते है। ये तन्त्रिकाए केद्रीय तन्त्रिका-तन्त्र से उत्पन्न होती है। ये तन्त्रिकाए, जो रुधिर-वाहिकाओ के प्रसार और कुचन को सचालित करती है, वेसोमोटर या वाहिका-प्रेरक तन्त्रिकाए कहलाती है। इनमे से एक समूह की वेसोकास्ट्रिक्टर या वाहिकासकोचक तन्त्रिकाओ के उत्तेजन से पेशियो का और वाहिकाओ के छिद्रो का कुचन होता है, दूसरे समूह की वेसोडायलेटर या वाहिका-विस्फारक तन्त्रिकाओ के उत्तेजन से पेशियो का शिथिलन होता है और वाहिका-छिद्रो का फैलाव बढ़ता है। यदि बहुत सारी धमनिकाए कुचित हो जाती है,

तो परिधीय अवरोध बढ़ जाता है तथा रुधिर दाब ऊंचा हो जाता है और यदि धमनिकाओं के फैल जाने पर रुधिर दाब न्यून हो जाता है।

परिधीय अवरोध में अधिकांश परिवर्तन उदरीय क्षेत्र में होते हैं जिसमें अंग अत्यधिक वाहिकी (बहुत सी रुधिर वाहिकाओं वाले) होते हैं। तन्त्रिका आवेग अविरल गति से वाहिका संकोचक तन्त्रिकाओं द्वारा, और कुछ सीमा तक वाहिका विस्फारक तन्त्रिकाओं द्वारा भी इस क्षेत्र की धमनिकाओं को आते रहते हैं। फिर भी वाहिका-संकोचक प्रभाव स्पष्ट प्रधान है। वाहिका-संकोचक और वाहिका विस्फारक केन्द्रों में ये आवेग हृदय को जानेवाली वागी और त्वरक तन्त्रिकाओं जैसे आवेगों की तरह ही उठते हैं। ये केन्द्र मस्तिष्क की अन्तस्था में स्थित है और सभी अभिवाही तन्त्रिकाओं से कार्डियक केन्द्रों की भांति ही प्रभावित होते हैं।

ऐसे वाहिका प्रेरक प्रतिवर्त भी हैं जिनके कारण खासकर रुधिर दाब का समजन होता है।

ये प्रतिवर्त इस प्रकार कार्य करते हैं कि रुधिर-दाब बदलती परिस्थितियों में शरीर की आवश्यकतानुसार कम या ज्यादा हो जाता है फिर भी यह सामान्य स्तर के निकट ही बना रहता है। इस प्रकार रुधिर दाब में न्यूनता आने पर ये प्रथम स्वतः क्रियाशील हो जाते हैं जो रुधिर-दाब को फिर से बढ़ा दें जबकि बढ़ा हुआ रुधिर दाब इसके विपरीत प्रतिवर्त को क्रियाशील कर देता है, जो रुधिर दाब को नीचे की ओर ले जाते हैं।

रासायनिक नियन्त्रण—रुधिर में कार्बन डाई आक्साइड या अम्ल परिमाण में वृद्धि सीधे सीधे वाहिका संकोचक केन्द्र पर क्रिया करती है जिससे सामान्य वाहिका कुंचन उत्पन्न हो जाता है और रुधिर दाब बढ़ जाता है। तथापि ऊतकीय उपापचयन द्वारा स्थानीय रूप से मुक्त की हुई कार्बन डाई आक्साइड जिन धमनिकाओं के सम्पर्क में आती है वह उनकी दीवारों की चिकनी पेशी को शिथिलित करके उनको फैला देती है। रुधिर में आक्सीजन परिमाण की उल्लेखनीय कमी भी वही परिणाम उत्पन्न कर सकती है जो कार्बन डाई आक्साइड की अधिकता से उत्पन्न होते हैं लेकिन इनमें अन्तिम स्थिति ही अधिक देखने में आती है और यही अधिक शक्तिशाली कारक भी है।

धामनिक रुधिर दाब में वैभिन्न्य—जैसा कि हम देख चुके हैं वयस्कों का सामान्य रुधिर दाब औसतन 120 मि० मी० प्रकुंचन के समय और 80 मि०-मी० अनुशिथिलन के समय होता है। प्रकुंचन दाब अनुशिथिलन दाब की अपेक्षा बहुत कम स्थायी होता है और उसमें उतार चढ़ाव भी काफी अधिक सीमा तक होते हैं। मिसाल के तौर पर कठिन परिश्रम के समय प्रकुंचन दाब 200 मि० मी० तक जा सकता है जब कि अनुशिथिलन दाब अधिक से अधिक 110 मि० मी० तक हो जाता है। इससे नाड़ी दाब बढ़ जाता है और हम नाड़ी को अधिक तेज़ी से धड़कता हुआ पाते हैं।

रुधिर-दाब आयु के साथ-साथ बढ़ता जाता है साठ वर्ष की आयु में प्रकुंचन

दाब लगभग 135 मि० मी० हो जाता है जबकि अनुशिथिलन दाब बढकर केवल 90 मि० मी० तक ही जाता है। किसी भी आयु मे बहुत मोटे या भारी व्यक्तियो का रुधिर-दाब हलके व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक ही रहता है। भावातिरेक की अवस्थाए रुधिर-दाब मे काफी परिवर्तन ला सकती है और इस परिवर्तन की दिशा इस बात पर निर्भर करती है कि हृदय पर रुधिर-वाहिकाओ के अन्तर्व्यासो का क्या प्रभाव पडता है।

उच्च रुधिर-दाब—रोग-विज्ञान की दृष्टि से उच्च रुधिर-दाब या अति-रुधिर-तनाव कोई असाधारण बात नही। रुधिर-दाब 250 मि० मी० (प्रकुचन) और 130 मि० मी० (अनुशिथिलन) तक जा सकता है। यह उच्च दाब हृदय पर जोर डालता है, क्योकि निलयो का दाब रुधिर-निष्कासन से पहले धामनिक दाब से अधिक पहुचना चाहिए। हृदय के कार्य मे वृद्धि बाये निलय को बढने और अपनी भित्तियो को मोटा करने पर विवश करती है। अत्यधिक दाब कालान्तर मे रुधिर-वाहिकाओ मे हानिकारक परिवर्तन भी पैदा करता है। धमनी-काठिन्य (धमनियो का सख्त हो जाना और फलत. उनका लचीलापन कम हो जाना) इन मामलो मे अतिरुधिर-तनाव नही उत्पन्न करता, यद्यपि यह सामान्यत आयु-वृद्धि के साथ होनेवाली दाब मे वृद्धि के लिए उत्तरदायी हो सकता है।

रोगविज्ञान-सम्बन्धी परिस्थितियो मे अतिरुधिर-तनाव का कारण धमनिकाओ के दीर्घकालिक सकुचन के कारण उत्पन्न हुआ परिधीय अवरोध होता है। तथापि बहुत-से मामलो मे यह स्पष्ट रूप से समझ मे नही आ पाता कि यह सकुचन किन कारणो से होता है। कुछ मामलो मे अतिरुधिर-तनाव वृक्क-रोगो के कारण होता है। रोग वृक्को के रुधिर-प्रवाह मे अवरोध डाल देते है, जिससे उन्हे कम ऑक्सीजन मिलती है। ऑक्सीजन की कमी से वृक्क एक ऐसा द्रव्य उत्पन्न करते है, जो धामनिक दीवारो मे चिकनी पेशी का अत्यधिक कुचन कर देता है। इसका कुछ प्रायोगिक प्रमाण भी है। यदि कुत्ते की वृक्क-धमनी पर एक शिकजा इस प्रकार कस दिया जाये कि उससे रुधिर-प्रदाय तो कम हो जाए, पर वृक्क-कोशिकाओ के लिए ऑक्सीजन की मात्रा ठीक बनी रहे, तो भी वृक्क द्वारा उत्पन्न द्रव्य अतिरुधिर-तनाव उत्पन्न कर देता है।

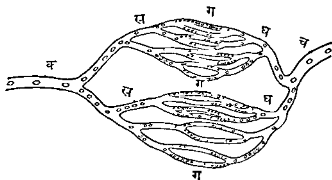
दूसरे मामलो मे, अतिरुधिर-तनाव तन्त्रिकायिक कारको के कारण या अधिवृक्कीय कार्टेक्स की अति क्रिया के कारण भी हो सकता है। तन्त्रिकायिक कारको के सम्बन्ध मे भी यह सम्भव है कि वाहिका-प्रबोधक केन्द्र आनेवाले तन्त्रिका-आवेगो द्वारा नियत्रण मे रखा जा सके (जैसाकि साधारणतया होता है)। अति-रुधिर-तनाव के बहुत-से मामले 'रिसपाईन' नामक औषधि के द्वारा बडी सीमा तक सुधारे गए है। इस औषधि की क्रिया अत्यधिक सक्रिय तन्त्रिका-केन्द्रो मे शिथिलिन उत्पन्न करनेवाली प्रतीत होती है। अतिरुधिर-तनाव मे अधिवृक्कीय कोर्टेक्स का कारण होने के सम्बन्ध मे यह सन्देह किया जाता है कि शायद इसके हारमोनो का अत्यधिक स्राव (अध्याय 10 देखिए) इस अवस्था को उत्पन्न

करता हो। इस प्रकार से अतिरुधिर-तनाव के लिए अभी तक कोई सफल उपचार नहीं मिल पाया है हालांकि नमक की मात्रा में कमी करना रोगी के लिए लाभदायक अवश्य होता है।

न्यून रुधिर-दाब—रुधिर-दाब लगातार 110 मि० मी० से कम बने रहने की स्थिति को अल्प तनाव कहते हैं। इसका कारण अभी तक ज्ञात नहीं है। यह स्थिति अतिरुधिर-तनाव की अपेक्षा कम ही पाई जाती है और व्यक्ति के लिए कोई ऐसे आसार नहीं उत्पन्न करती कि जो उसके लिए खतरनाक हों। इस अवस्था के साथ रोगी को अत्यधिक थकान और चक्कर आने की शिकायत होती है।

रुधिर प्रवाह—रुधिर प्रवाह जैसा कि हम देख चुके हैं धमनियों से धमनिकाओं और धमनिकाओं से केशिकाओं के बीच दाब प्रवणता के कारण होता है। और यह दाब प्रवणता रुधिर को हृदय द्वारा दी गई ऊर्जा के क्रमिक ह्रास के कारण होती है जिसका कारण वाहिकाओं द्वारा रुधिर प्रवाह में पैदा किया गया अवरोध है। हृदय की रुधिर निष्कासन क्रिया के अलावा—जो रुधिर प्रवाह और दाब का मुख्य स्रोत है—रुधिर प्रवाह का दूसरा कारक धमनियों की प्रत्यास्थता या लचीलापन है (जो हृदय की धड़कन द्वारा डाले गए दाब के एक बड़े अंश को साथ रखती है)।

रुधिर की गति को नियन्त्रित करनेवाला एक और कारक भी है। यह कारक—वाहिकाओं के सम्पूर्ण अनुप्रस्थ काट क्षेत्र—परिवहन वृक्ष—के विभिन्न भागों में होनेवाले रुधिर वेग सम्बन्धी सभी परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी है। इसी प्रकार के परिवर्तन नलिकाओं वाले ऐसे किसी भी तन्त्र में देखे जा सकते हैं जिसकी नालियां व्यास में अलग अलग हों। इस प्रकार आकृति 11 में क बिन्दु नलिका (धमनी) पर चौड़ी है इसलिए रुधिर प्रवाह तेज है ख और ग (धमनिकाओं और केशिकाओं पर यद्यपि हर नलिका धमनी से कम चौड़ी है, फिर भी नलिकाओं का सम्पूर्ण अनुप्रस्थ-काट क्षेत्र बढ़ जाता है और रुधिर प्रवाह धीमा



आकृति 11—रुधिर प्रवाह विवरण के लिए पाठ देखिए।

पड जाता है, और 'घ' और 'च' (छोटी शिराए और बडी शिरा) पर रुधिर-प्रवाह फिर बढ जाता है, क्योकि सम्पूर्ण अनुप्रस्थ-काट क्षेत्र कम हो जाता है। देह मे रुधिर का वेग बिल्कुल इसी प्रकार बदलता रहता है। धमनियो मे प्रवाह तेज होता है, धमनिकाओ और केशिकाओं मे धीमा पड जाता है और छोटी तथा बडी शिराओ मे फिर बढ जाता है।

शिरागत रुधिर-प्रवाह—हृदय के नीचेवाली धमनियो मे रुधिर-दाब और पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण एक ही दिशा मे कार्य करते है, इसलिए रुधिर-प्रवाह मे कोई कठिनाई नही होती। हृदय के ऊपर की ओर की धमनियो से यद्यपि गुरुत्वाकर्षण रुधिर-प्रवाह के विपरीत पडता है, तथापि प्रतिवर्ती क्रियाए रुधिर-दाब बनाए रखती हैं। और अविरल रुधिर-प्रवाह होता रहता है।

तथापि हृदय के नीचेवाली धमनियो मे हृदय मे रुधिर का वापस पहुंचना सुनिश्चित करने वाले प्रक्रमो को काम करना पड़ता है। शिरागत दाब अत्यन्त न्यून होता हैं तथा गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध रुधिर को ऊपर पहुंचाने मे असमर्थ होता है। देह के निचले भागो मे सबसे महत्त्वपूर्ण सहायक प्रक्रम ककाल-पेशियो की 'पप करने' की क्रिया है। जब ये पेशिया कुचित होती है, तो वे अपेक्षाकृत पतली भित्तिवाली शिराओ को दबाती है और रुधिर को ऊपर की ओर धकेल देती है। कपाटो की क्रिया द्वारा रुधिर को केशिकाओ मे वापस नही जाने दिया जाता है। ये कपाट शिराओ मे थोडी-थोडी दूर पर स्थित होते है और रुधिर को केवल हृदय की ओर ही जाने देते हैं। कंकाल-पेशियो के फैलने के साथ शिराएं भी फैलती है और नीचे के रुधिर से भर जाती है। कठिन श्रम के समय रुधिर की शिरागत वापसी मे यह प्रक्रम विशेप महत्त्व का है। शिरागत वापसी मे श्वसन-गतिया (अध्याय 4) भी बडा महत्त्वपूर्ण योग देती है।

हृदय के ऊपर की शिराओ मे चूकि रुधिर-प्रवाह को गुरुत्वाकर्षण से सहायता मिलती है, इसलिए इसे बनाए रखने के लिए किसी सहायक प्रक्रम की आवश्यकता नही पडती।

किसी अंग को जानेवाले रुधिर-प्रवाह का नियंत्रण—किसी अग-विशेप को जानेवाले रुधिर की मात्रा और गति को तन्त्रिकायिक और रासायनिक कारको द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। इनमे प्राधान्य रासायनिक प्रभावो का ही लगता है। कोई अग सक्रिय होता है, तो उसका उपापचयन वेग बढ जाता है और विश्राम की अवस्था की अपेक्षा अधिक कार्बन डाई-ऑक्साइड उत्पन्न होती है। अतिरिक्त कार्बन डाई-ऑक्साइड रुधिर-धारा मे विसरित हो जाती है और उस अग की धमनिकाओ की चिकनी पेशियो पर क्रिया करके उन्हे फैला देती है। फैली हुई धमनिकाओ के कारण उस अग को अधिक रुधिर जाने लगता है, जिसका वेग भी अधिक होता है।

वाहिकाप्रेरक तन्त्रिकाएं भी रुधिर-प्रवाह का नियन्त्रण करती है। वाहिका-सकोचक तन्त्रिकाओ की उत्तेजना धमनिकाओ मे रुधिर की मात्रा और उसके

न्द हो जाते हैं [illegible] देता है। धमनिका शिराओं [illegible] तक
[illegible] हो जाती है। [illegible] धमनियों [illegible]
धीरे धीरे शिथिल हो जाती हैं। इस प्रकार [illegible]
कर देती है जो [illegible] को शिथिल करके रक्त का धमनिकाओं
में भर देता है। इससे धमनिकाएं फैल जाती हैं और इसका परिणाम
यह [illegible] होता है।

रुधिर [illegible] सदा एक सा नहीं रहता है [illegible] किसी
[illegible] रुधिर प्रवाह बढ़ जाता है तो किसी अन्य स्थान में वह घटना ही चाहिए।
[illegible] यह है कि धमनियों की [illegible] में समय प्रतिक्रियाएं
[illegible] सम्बन्धित हो जाती हैं। अधिक [illegible] धमनियों का अधिक रुधिर प्रवाह
की आवश्यकता होती है। उनके ऊतकों में स्थानीय कार्बन डाई ऑक्साइड की
मात्रा (परिमाण) बढ़ जाता है और उनकी धमनिकाएं फैल जाती हैं। यदि
अधिक रुधिर में कार्बन डाई ऑक्साइड की अधिकता धमनिका संकोचक केन्द्र को
उत्तेजित करके सर्वांगीण धमनिका संकुचन उत्पन्न कर देती, और रुधिर-स्राव
बढ़ा देती है। लेकिन स्थानीय कार्बन डाई ऑक्साइड का स्थानीय धमनिका
धमनिका-संकोचक भावना के बावजूद धमनियों में धमनिकाओं को विस्तृत बनाए
रखता है। इस प्रकार सक्रिय अंगों को अधिक दाब के साथ अधिक रुधिर भेजा
जाता है जबकि निष्क्रिय अंग कम रुधिर पाते हैं।

आघात—किन्हीं कारणों से जिन्हें अभी पूरी तरह समझा नहीं जा सका है, कई स्थितियां ऐसी होती हैं जिनमें व्यक्ति आघात की दशा में पहुंच जाता है। वस्तुतः होता यह है कि छोटी वाहिकाएं एकाएक साधारण स्थिति से अधिक पारगम्य हो जाती हैं और उनके द्वारा ऊतकीय अवकाशों में अधिक मात्रा में रुधिर चला जाता है। इससे रुधिर आयतन के कम हो जाने से व्यक्ति का अचेत हो जाना स्वाभाविक है। यह स्थिति अनेकानेक कारणों से उत्पन्न हो सकती है, जैसे रुधिर-स्राव, ऊतकों की क्षति (जल जाना या दब जाना), शल्य क्रिया के बाद के प्रभाव और अत्यधिक भावनात्मक गड़बड़ इत्यादि। आघात की सभी अवस्थाओं का मूल कारण एक ही है या अनेक, यह अभी तक पता नहीं चल सका है, लेकिन कुछ परिस्थितियों से यह स्पष्ट लगता है कि यह अवस्था रुधिर में स्थित रासायनिक द्रव्यों के कारण उत्पन्न होती है।

कोई भी कारण क्यों न हो, आघात का उपचार यही है कि रुधिर दाब अपने स्वाभाविक स्तर तक वापस न आया जाए। प्लाज्मा का दान इसके लिए सबसे उपयुक्त होता है। फिर भी आघात की स्थिति की गड़बड़ों के बारे में काफी अध्ययन की आवश्यकता है, क्योंकि कुछ मामले उपयुक्त उपचारों से ठीक नहीं होते।

लसीका-तंत्र

समस्त परिवहनीय समजनो का प्रयोजन केशिकाग्रो मे समुचित रुधिर-प्रवाह की व्यवस्था करना ही है। इन सूक्ष्म वाहिकाग्रो मे रुधिर ग्रौर ऊतकीय तरल के बीच महत्त्वपूर्ण ग्रादान-प्रदान होते है।

ग्रन्य सभी दैहिक तरलो की भाति ऊतकीय तरल भी रुधिर से ही प्राप्त होता है। केशिकाग्रो मे जल ग्रौर रुधिर मे घुले हुए ग्रधिकाश द्रव्य पतली दीवारो को ग्रासानी से भेद सकते है ग्रौर ऊतकीय ग्रवकाशो मे 'रिस' सकते है। ऐसा तब सबसे ग्रधिक होता है कि जब रुधिर-दाब केशिकाग्रो मे इन द्रव्यो को खीचने वाले बलो को ग्रधिसतुलित करके इन्हे बाहर 'धकेल' देता है। इस प्रक्रिया के ग्रत्यधिक बढ जाने से उत्पन्न ऊतकीय द्रव्य का ग्रतिसचय जलोदर कहलाता है।

लसीका-तत्र की सरचना—ऐसी छोटी-छोटी पतली भित्तियोवाली ग्रनेक वाहिकाए है, जो ऊतकीय ग्रवकाशो से तरल को क्षरित करती है। ये वाहिकाए लसीका-केशिकाए कहलाती है। एक-दूसरे से मिल-मिलकर ये वाहिकाए ग्रधिक बडी लसीका-वाहिकाए बनाती है। हृदय के निचले क्षेत्रो से निकली सारी लसीका-वाहिकाए ग्रत मे दो बडी वाहिकाग्रो—दक्षिण लसीका-वाहिनी तथा वाम लसीकावाहिनी या वक्षीय वाहिनी—मे मिल जाती है। इसके बाद ये वाहिनिया ग्रपना तरल उन शिराग्रो मे डाल देती है, जो क्रमश दाई ग्रौर बाई भुजाग्रो से रुधिर वापस लाती है। हृदय के ऊपर की छोटी लसीका-वाहिकाए ग्रत मे दाई ग्रौर बाई ग्रैव लसीकाग्रो मे मिल जाती है, जो उन्ही शिराग्रो मे रिक्त होती है जिनमे लसीका-वाहिनिया मिलती है।

बडी लसीका-वाहिकाग्रो के मार्ग मे कुछ ग्रपवृद्धिया होती है, जिन्हे लसीका-ग्रथिया कहते है। लसीका-वाहिकाए इन ग्रथियो मे प्रवेश करके छोटी-छोटी शाखाग्रो मे विभक्त होकर ग्रथियो के हर भाग मे प्रविष्ट हो जाती है ग्रौर ग्रत मे मिलकर फिर बडी वाहिकाए बना देती हे जो लसीका-ग्रथि से बाहर जाती है।

लसीका का प्रवाह—ग्रतिरिक्त ऊतकीय तरल को लसीका-वाहिकाए रुधिर मे वापस ले जाती है। लसीका-वाहिकाग्रो मे पहुचने पर यह तरल 'लसीका' कहलाने लगता है। यह तरल लसीका-वाहिकाग्रो मे कैसे पहुच जाता है, यह बात ग्रभी तक ग्रस्पष्ट है। लसीका-केशिकाए ऐसी बद वाहिकाए होती है, जो ऊतकीय ग्रवकाशो मे जाकर समाप्त हो जाती है। ग्रौर चूकि उनकी दीवारो के दोनो तरफ तरलो की रचना ग्रौर दाब समान होते है, इसलिए यह नही कहा जा सकता कि तरल का लसीका-तन्त्र मे प्रवाह किसी भी सामान्य शारीरिक प्रक्रिया से होता है।

लसीका का प्रवाह बहुत ही धीमा होता है। इस प्रवाह की चालक शक्ति भी बहुत क्षीण होती है (इसमे हृदय की भाति कोई प्रभावशाली पम्प नही है)। यदि ऊतकीय तरल का उत्पादन बढ जाए, तो लसीका-वाहिनियो मे वर्तमान दाब पर इस नवनिर्मित तरल के दाब से लसीका-प्रवाह त्वरित हो जाता है।

हृदय के नीचे की वाहिकाओं में लसीका का प्रवाह भी शिरागत प्रवाह की भांति पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से प्रभावित होता है। इसलिए कंकाल पेशियों की पम्प क्रिया लसीका प्रवाह के लिए शिरागत रुधिर प्रत्यागमन से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। लसीका का जो प्रवाह होता है, उसे कायम रखने में उन असंख्य कपाटों का भी बड़ा महत्त्व है, जो लसीका को रुधिर प्रवाह में उसके निर्गम की ओर ही जाने देते हैं।

किसी भी जगह लसीका प्रवाह के अवरुद्ध हो जाने से वहां जलोदर या एडीमा हो जाता है।

लसीका तन्त्र के कार्य—हम पहले ही देख चुके हैं कि यह तन्त्र ऊतकीय तरल को रुधिर में वापसी कराता है। यह देह के उन आवश्यक द्रव्यों के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है जो रुधिर के बाहर निकल तो जाते हैं, लेकिन फिर उसमें सीधे वापस नहीं जा पाते। इसके विपरीत, आवश्यकता पड़ने पर जल सीधा रुधिर प्रवाह में वापस जा सकता है।

लसीका-कणिकाओं की उत्पत्ति लसीका ग्रंथियों में ही होती है। इसी कारण लसीका में लसीका कणिकाओं की मात्रा रुधिर से अधिक होती है।

लसीका ग्रंथियां और लसीका ऊतकों के अन्य संचयन, जैसे टांसिल और एडेनायड, बाहरी कणों तथा बैक्टीरिया को अवरुद्ध करते हैं और हानिकारक द्रव्यों का देह भर में प्रसार रोकते हैं।

अध्याय 4

श्वसन-तन्त्र

ऑक्सीजन का अन्तर्ग्रहण तथा कार्बन डाई-ऑक्साइड का निष्कासन जीवन के लिए आवश्यक प्रक्रियाएं हे। श्वसन मे ये दोनो प्रक्रियाए दो भिन्न स्तरो पर क्रियान्वित होती है। श्वसन का अधिक प्रकट रूप सास लेना या वाह्य श्वसन है, जिसमे देह द्वारा ऑक्सीजन का अन्तर्ग्रहण होता है और कार्बन डाई-ऑक्साइड का उत्सर्जन होता है। आतरिक श्वसन, शरीर की कोशिकाओ द्वारा ऑक्सीजन के उपयोग और कार्बन डाईऑक्साइड के उत्पादन मे कई रासायनिक प्रतिक्रियाए सम्मिलित होती है, जिसके मिलने से कोशिका का उपापचयन होता है। 'श्वसन' शब्द का अर्थ यदि दूसरे रूप मे इगित न किया जाए, तो हम इसे वाह्य श्वसन के ही रूप मे लेगे।

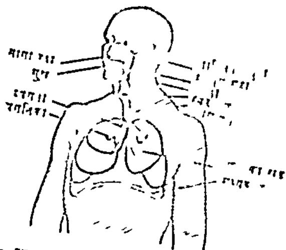
वायु हमारे फेफडो या फुपफुसो मे एकत्र होती है। फेफडो की पतली भित्तियो के आर-पार होकर विभिन्न गैसें रुधिर मे विसरित तथा निष्कासित होती है। रुधिर इन गैसो को कोशिकाओ तक लेकर जाता और वापस ले आता है।

श्वसनांगो का शारीर

वायु नासारध्रो या मुख द्वारा अदर खीची जाती है और ग्रसनी मे चली जाती है। ग्रसनी से मुख्य श्वसन-नली निकलती है, जो स्वर-यत्र से आरम्भ होती है और स्वर-ततुओ का पात्र या केन्द्र है। श्वसननली आगे चलकर श्वासनली मे परिणत हो जाती है जिसका अन्त वक्षीय गुहा के समीप होता है (आकृति 12 देखिए)।

स्वर-यत्र की भित्तियो मे उपास्थियो की पट्टिकाए है, जो स्वर-ततुओ के आधार का कार्य करती है। उपास्थि श्वास-नली मे भी मौजूद है और इसका आकार अधूरे छल्लो जैसा होता है। ये छल्ले श्वास-नली को, उनके बिना वह जितनी दृढ होती, उससे दृढ वना देते है और उसे आसानी से ढहने से भी रोकते है। तथापि इन छल्लो का केवल तीन-चौथाई भाग ही पूर्ण होता है, जिससे कि श्वास-नली थोडी-बहुत कुचित की जा सकती है। श्वास-नली की भित्तियो मे भी चिकनी पेशी होती है। सकोचक और विस्फारक तन्त्रिकाए पेशी को नियंत्रित करती और इसके द्वारा श्वास-नली के भीतरी व्यास को नियमित करती है। भित्तियो का एक अन्य मुख्य सरचक भाग लचीला ऊतक है (जो फेफडे के ऊतक मे भी विद्यमान है)। इसकी चर्चा हम श्वसन के प्रक्रम का अध्ययन करते समय करेंगे।

श्वास-नली अन्त मे दो श्वसनियो या ब्रोकियो मे विभाजित हो जाती है, जिनमें से प्रत्येक एक-एक फेफड़े मे जाती है। श्वसनिया और भी छोटी-छोटी तथा



आकृति 12— ग्वसन तन्त्र (ग्वसन पसलियाँ तथा भीतरी पसलियाँ यहाँ दर्शाई गई हैं।)

ग्र म नलिकाओं ग्वसनिकाओं (ब्रांकियोल्स) म विभक्त होती जाती है जिनका अन्त वायु नलिकाओं म होता ह । ग्वसनी भित्तियाँ ग्वसन-नली की भित्तियों क समान ही होती है । धीरे म ग्वसनिकाओं म भित्तियाँ पतली होती जाती है और उनमे अब उपास्थि नहीं रहता ।

ग्रसनिकाओं नलिकाओं ग्वसन नली ग्वसनी स्वर-यन्त्र और नासिका भाग के भागो क अन्दर की सतहो पर पक्ष्माकार एपीथीलियम की इनकी परत होती ह । इसकी कोशिकाएँ कई स्थानो पर परिवर्तित होकर श्लेष्मा ग्रन्थियाँ बनाती है जो श्लेष्मा या एक तलीय तरल स्रवित करती हैं । य स्राव ग्वसन क भाग को निरन्तर तर करते है और सतही कोशिकाओं क लिए एक आर्द्र वातावरण रखता है । पक्ष्माकार कोशिकाएँ अपनी मुक्त सतह पर एक अतिसूक्ष्म केश जैसे प्रवर्धो सीलिया की उपस्थिति स और भी अधिक बन्द जाती ह । सीलिया की गति अविरल रूप स फेफड़ो स बाहर की ओर ही रहती ह । अपनी गति द्वारा ये धूल जैसे बाह्य द्रव्यो को बाहर की ओर फेंकती रहती ह उन्ह फेफड़ो म नहीं जाने देती ।

ग्वसन (वृक्ष) की लघुतम शाखाएँ अनको छोटी छोटी वायु थैलियो म बँट जाती है जिनकी भित्तियो म कई कई उभार होते हैं । इन उभारो स छोटे छोटे कक्ष या वायु-कोष्ठिकाएँ बनाती हैं । जिनके नीचे चपटी एपीथीलियम कोशिकाओं की एक इकहरी परत होती ह । फेफड़ो म अत्यधिक संख्या म रुधिर वाहिकाएँ होती हैं और कोशिकाएँ वायु कोष्ठिका भित्तियो स बिलकुल मिली ही रहती हैं । इसलिए वायु-कोष्ठिका से रुधिर तथा रुधिर से वायु कोष्ठिकाओं म जाने के लिए ग्वसन गसो को केवल दो कोमल भित्तियो म स ही विसरित होना पड़ता ह

(किसी-किसी स्थान पर वायु-कोष्ठिका भित्तिया नही होती, जिससे गैसो और रुधिर के बीच केवल एक ही दीवार की आड होती है)।

श्वास-क्रिया का प्रक्रम

अपने फेफडो मे दाव कम करके हम उनमे वायु भर लेते है। हमारे सास भरने के साथ एक घटना-क्रम आरम्भ हो जाता है। वक्ष का आयतन बढ जाता है और वक्षीय गुहा तथा फेफडो मे दाव गिर जाता है, जिसके कारण वायु अन्दर जाती है। सास छोडने पर इसके विपरीत घटनाए घटती है। वक्ष का आयतन घट जाता है, उपरिलिखित दाव बढ जाता है और हवा फेफडो के बाहर धकेल दी जाती है। ये घटनाए केवल इसी कारण सम्भव हो पाती है कि वक्षीय गुहा पूर्णत बद है और इसपर भी वह आयतन मे घट-बढ सकती है। साधारणतया सास लेना या प्रश्वसन एक सक्रिय और सास छोडना या उच्छ्वसन निष्क्रिय प्रक्रिया है। प्रश्वसन मे फेफडो की क्षमता मे आगे से पीछे तक, एक सिरे से दूसरे सिरे तक और ऊर्ध्व तल मे वृद्धि होती है। ऊर्ध्व तल मे वृद्धि वक्षीय और उदर-गुहाओ के बीच की पेशीय भित्ति—मध्यच्छद—के कुचन द्वारा होती है। विश्राम की अवस्था मे मध्यच्छद का आकार गुबद-जैसा होता है (आकृति 12 देखिये), किन्तु कुचन के समय यह चौरस होने लगता है यह गति ऊपर से नीचे तक वक्ष का आयतन बढा देती है। इसी समय पसलियो के बीच की पेशियो (पर्शुकातर) का कुचन पसलियो को ऊपर और सामने की ओर सरका देता है। पसलियो की हरकत से वक्ष का आयतन आगे से पीछे की ओर (ऊपर की पसलियो की गति), और एक सिरे से दूसरे की ओर (नीचे की पसलियो की हरकत से) बढ जाता है।

वक्ष के आयतन मे वृद्धि के कारण फेफडे फैलते है और वायु अन्दर खिच जाती है। आइए, अब हम इसके प्रक्रम का पता चलाए। जन्म के समय फेफडो मे वायु नही होती और वे पिचकी हुई दशा मे होते है। लेकिन उसी समय वक्ष फैलता है और फेफडो तथा वक्षीय भित्ति के बीच के अवकाश मे दाव गिर जाता है (यदि किसी तत्र मे और कोई परिवर्तन नही होता, तो आयतन मे वृद्धि के साथ दाव गिर जाता है)। फेफडो के बाहर दाव मे कमी आने से वे फूल जाते है। चूकि अब फेफडो के भीतर का आयतन बढ जाता है, इसलिए उनके भीतर का दाव कम हो जाता है। फेफडो के अन्दर का दाव वायुमडल के दाब से कम होने के साथ वायु तेजी से श्वास-मार्ग से होती हुई फेफडो मे आ जाती है।

इस वायु-प्रवेश के पहले क्षण से जीवन के अन्त तक फेफडे कभी भी पूरी तरह से नही पिचकते और वक्षीय गुहा के अपने भाग को वे लगभग पूरी तरह भरे रहते है। इस प्रकार फेफडो और वक्षीय भित्ति के बीच का अवकाश--अन्तर्-वक्षीय गुहा नाम को ही एक गुहा है—वास्तव मे इसमे फेफडो और वक्षीय भित्तियो के बीच तरल की एक पतली परत के अलावा और कुछ नही होता। तथापि

वक्षीय भित्ति जब जब फलती है तो फेफड़े लचीले होने के कारण इस प्रसार का विरोध करते है। फलती हुई वक्षीय भित्ति तथा अपने ही प्रसार का विरोध करती फुफ्फुसीय भित्ति का संयोग अन्तरवक्षीय गुहा म दाब कम कर देता है।

साधारण उच्छ्वसन प्रश्वसन के समय होने वाले परिवर्तनो के विपरीत हो जाने पर होता है। प्रश्वसनीय गति उत्पन्न करने वाली पेशियां शिथिल हो जाती हैं, जिससे मध्यच्छद के ऊपर उठने और पसलियों के अपनी विश्रामावस्था म वापस आने के साथ साथ वक्ष का आयतन कम हो जाता है। अन्तरवक्षीय दाब बढ़ जाता है। फेफड़े अपने ही प्रत्यास्थ (लचीले) ऊतको के खिचाव के कारण छोटे हो जाते है। फुफ्फुस आयतन के कम हो जाने से फेफड़ा के भीतर का दाब वायु मडलीय दाब से बढ़ जाता है क्योकि फेफड़ो की भित्तियां अन्दर की वायु को खिंचा हद तक भींचती है। अब चूंकि फेफड़ो के भीतर का दाब वायुमडलीय दाब से अधिक होता है इसलिए उनके अन्दर की वायु बाहर उच्छ्वसित हो जाती है।

जब हम सास को जोर लगाकर बाहर निकालते है तो इस प्रक्रिया म कुछ पेशियों का कुचन सहायक होता है। उदर की भित्ति की पेशियां कुचित होती हैं और उदरीय अगो को दबाती हैं जो फिर मध्यच्छद को ऊपर धकेलती है जिसके कारण उसका उभार जल्दी हो जाता है। अन्य पर्शुकान्तर पेशियां कुचित होती है और पसलियों को नीचे तथा पीछे की तरफ ले जाती है। ये अत्यन्त पेशीय गतियां सामान्य गुरुत्वाकर्षण म योग देती हैं और इस प्रकार य परिवर्तनो की रफ्तार और विस्तार बढ़ा देती है। इन अधिक सक्रिय घटनाओ का परिणाम यह होता है कि वक्षीय गुहा का आयतन साधारण परिस्थिति की अपेक्षा अधिक कम हो जाता है। प्रतिक्रियास्वरूप फेफड़े तीव्रतर प्रत्यास्थ—प्रकुचन—करते हैं फलत वायु को अधिक तेजी और अधिक बल से निष्कासित कर देते हैं।

जसा कि हमने ऊपर कहा है अन्तरवक्षीय गुहा म कम तरल की एक पतली परत ही होती है। यदि किसी प्रकार इस अवकाश म अधिक तरल या कुछ हवा घुस जाय तो श्वसन अवरुद्ध या बन्द हो जाएगा। यह इसलिए होता है कि अन्तर वक्षीय दाब बढ़ जाता है और फेफड़ा एक इस हद तक पिचक जाता है कि जो इस बात पर निर्भर करती है कि दाब कितना अधिक है। ऐसी परिस्थिति आकस्मिक घटनाओ के कारण (जैसे चाकू या गोली का घाव), या किसी रोग के कारण (जैसे फुफ्फुसावरण या प्लूरा की सूजन और उसमे तरल का जमा हो जाना या गुहा म रुधिर-स्राव होना इत्यादि) उत्पन्न हो सकती हैं।

तथापि चिकित्सक इस घटना का अच्छा उपयोग कर सकते हैं। यदि एक फेफड़ा सक्षत हो जाय तो उसके अच्छा होने म इस बात से अधिक सहायता मिलती है कि वह गतिहीन बना दिया जाये। चूंकि प्रत्येक फेफड़ा दूसरे फेफड़े के अलग कक्ष म होता है और वह उसमे झिल्लियों तथा हृदय को स्थान देने वाले अवकाश द्वारा पृथक रहता है इसलिए अन्तरवक्षीय गुहा के एक पक्ष म इजक्शन द्वारा हवा भरना सभव है। दाब में वृद्धि से फेफड़ा अपनी वायु बाहर निष्कासित

कर देता है और पिचक जाता है। जब तक बाहर का दाब फेफडे के भीतर के दाब से अधिक रहता है, वह पिचका ही रहता है। कुछ अवधि के बाद गुहा के भीतर की हवा रुधिर मे विलय हो जाती है, फिर भी यदि फेफडे को पिचकी अवस्था मे ही रखना वाछनीय हो तो इसी उपचार को दुहराया जाता है।

फुफ्फुसीय सक्रमण का एक महत्त्वपूर्ण रूप फेफडो का क्षय या तपेदिक है। क्षय एक विशेप प्रकार के बैक्टीरिया द्वारा उत्पन्न रोग है, जो देह के किसी भी ऊतक मे जम सकता है। लेकिन अधिकतर संक्रमण का स्थान फेफडे ही रहते है।

कृत्रिम श्वसन—श्वासावरोध या आघात की अवस्थाओ मे, जब स्वचलित श्वसन रुक जाता है, कृत्रिम श्वसन तुरन्त प्रारम्भ कर देना चाहिए और तब तक जारी रखना चाहिए कि जब तक या तो रोगी फिर स्वाभाविक ढग से सास न लेने लगे या चिकित्सक आकर उसे सभाल न ले। कृत्रिम श्वसन के लिए 'पीठ पर दाब देकर बाहे ऊपर उठाने' का तरीका बहुत ही प्रभावी और सीखने मे सुगम है। रोगी को पेट के बल लिटा देते है, कुहनिया मोड देते है, हाथ एक-दूसरे के ऊपर रख देते है, चेहरे का एक भाग हाथ के ऊपर रहता है, मुह खुला और जीभ बाहर रहती है। कृत्रिम श्वास दिलाने वाला अपने घुटने रोगी के सिर को बीच मे रखते हुए, उसके कन्धो के करीब टिका देता है और अपने हाथ उसके कन्धो के ऊपर रखता है। उसकी उगलिया फैली हुई होती है और अगूठे रीढ की ओर होते है। अब बाह सीधी रखकर अपने शरीर को आगे दबाकर रोगी की पीठ पर जोर देने से उच्छ्वसन कराया जा सकता है। प्रश्वसन दो अवस्थाओ मे पूरा किया जा सकता है पहली, पीठ पर दाब कम करके (बिना धक्का दिये हुए), और दूसरी, पीछे हटते समय रोगी की बाहो को ऊपर की ओर अपनी तरफ खीचकर। इस ऊपर खीचने की क्रिया मे बाहे कुहनी के ऊपर पकडी जाती है और तब तक खीची जाती है कि जब तक कन्धो का अवरोध पूरा-पूरा महसूस न होने लगे। अब बाहे छोड दी जाती है और यह चक्र हर-एक मिनट मे बारह बार दुहराया जाता है। पुरानी शाफेर-पद्धति की अपेक्षा यह नया तरीका फेफडो मे अधिक हवा पहुचाता है।

यदि दीर्घकालिक कृत्रिम श्वसन की आवश्यकता हो, जैसा कि बाल पक्षाघात या पोलियो के मामलो मे होता है, तो यत्रो से काम लिया जा सकता है। इस यत्र को 'लोहे का फेफडा' कहते है। लोहे का फेफडा देह के बाहर बारी-बारी से दाब कम या ज्यादा करके बारी-बारी से वक्षीय भित्ति का प्रसार तथा कुचन उत्पन्न करता है।

प्रश्वसित और उच्छ्वसित वायु की रचना—हमारे आसपास की वायु कई गैसो का मिश्रण है। नाइट्रोजन समस्त वायु का लगभग 79 प्रतिशत है। ऑक्सीजन का भाग 20 प्रतिशत और कार्बन डाई-ऑक्साइड का 0 04 प्रतिशत है। शेप भाग जलवाष्प तथा अन्य विरल गैसो का है। उच्छ्वसित वायु मे नाइट्रोजन तथा विरल गैसो का प्रतिशत लगभग उतना ही रहता है, लेकिन दूसरी गैसो के अंश मे उल्लेखनीय परिवर्तन आ जाता है। ऑक्सीजन अब कुल के

16 प्रतिशत से लगभग ही रह जाती है, कार्बन डाई ग्राक्साइड का आयतन बढ़ कर 4 प्रतिशत हो जाता है और वायु वाष्प से लगभग सतृप्त हो जाती है।

सबसे महत्वपूर्ण श्वसनीय परिवर्तन ग्राक्सीजन ग्रश में प्रतिशत की कमी और कार्बन डाई ग्राक्साइड के ग्रायतन में इतनी ही वृद्धि है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रश्वसित वायु की सभी ग्राक्सीजन रुधिर द्वारा ग्रहण नहीं कर ली जाती और इसलिए इस उच्छ्वसित वायु में कुछ समय तक कष्ट का ग्रनुभव किए बिना बार-बार सांस लिया जा सकता है।

रुधिर का श्वसन से सबध—फेफडो तक ग्राने वाले रुधिर में वायु-कोष्ठिकाग्रो में नि श्वसित वायु में विद्यमान वायु की ग्रपेक्षा कम ग्राक्सीजन होती है पर कार्बन डाईग्राक्साइड की मात्रा ग्रधिक होती है। चूकि फफडा की कोशिकाग्रो तथा वायु-कोष्ठिकाग्रो की भित्तिया ग्रत्यधिक पतली होती हैं जिनको ये गैस तुरत भेदकर रुधिर के ग्रन्दर बाहर ग्रा ग्रौर जा सकती हैं इसलिए ग्राक्सीजन ग्रासानी के साथ हवा से रुधिर में ग्रौर कार्बन डाईग्राक्साइड रुधिर से हवा में ग्रा जाती है। रुधिर ग्रौर ऊतक कोशिकाग्रो में इस हस्तातरण के बिलकुल विपरीत क्रिया होती है।

वायु कोष्ठिकायिक वायु में ग्राक्सीजन सान्द्रण रुधिर की ग्रपेक्षा ग्रधिक होता है इसलिए वायु कोष्ठिकाग्रो से यह फुफ्फुसीय कोशिकाग्रो के रुधिर में चली जाती है। रुधिर में घुसते ही यह प्लाज्मा में विलीन हो जाती है। लेकिन प्लाज्मा ग्रपेक्षाकृत बहुत कम ग्राक्सीजन को सचित रख सकता है। प्लाज्मा में घुसनेवाली ग्रधिकाश ग्राक्सीजन लाल कोशिकाग्रो की भित्तियो को भेदकर हीमोग्लोबिन के साथ सयुक्त होकर एक शिथिल मेल बना लेता है। वास्तव में रुधिर में ग्राई हुई 11 प्रतिशत ग्राक्सीजन ग्राक्सी हीमोग्लोबिन की ग्रवस्था में ही रहती है। जब ग्राक्सीजन सिक्त रुधिर ऊतको तक परिवहित किया जाता है तो यह ग्रपनी कुछ ग्राक्सीजन ऊतक-तरल ग्रौर ऊतक कोशिकाग्रो को दे देता है। ऊतक-तरल ग्रौर ऊतक-कोशिकाग्रो को ग्राक्सीजन की सतत ग्रावश्यकता रहती है क्योंकि उन्हें रासायनिक क्रियाएं करनी पड़ती हैं ग्रौर इसी कारण उनका ग्राक्सीजन सान्द्रण रुधिर की ग्रपेक्षा बहुत कम होता है। एक बार फिर ग्राक्सीजन उच्च सान्द्रण से न्यून सान्द्रण के क्षेत्र में जाती है—रुधिर से (यह हीमोग्लोबिन के सयोग से मुक्त कर दी जाती है) ऊतक तरल ग्रौर उससे कोशिकाग्रो तक।

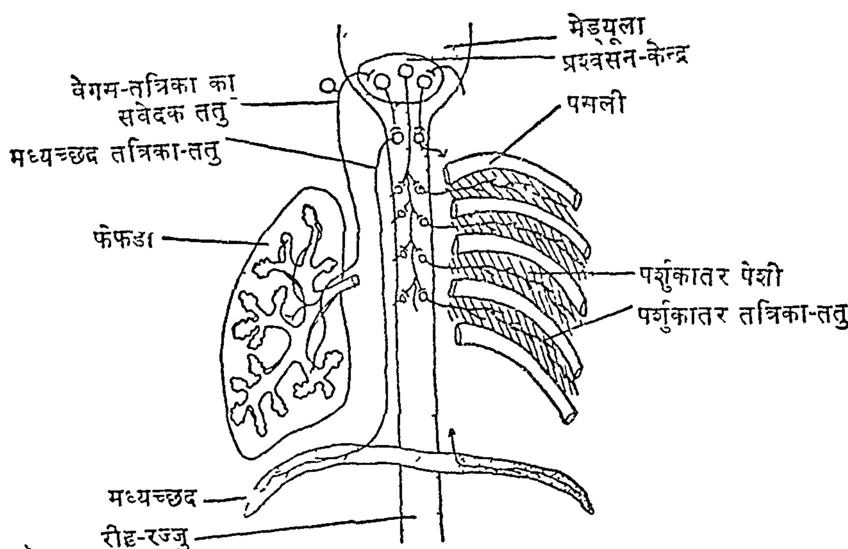
इसके विपरीत कार्बन डाईग्राक्साइड ग्रविरल रूप से ऊतक-कोशिकाग्रो द्वारा *उत्पन्न की जाती है ग्रौर कोशिकाग्रो में इसका सान्द्रण रुधिर की ग्रपेक्षा* ग्रधिक होता है। इसलिए यह कोशिकाग्रो से ऊतक-तरल ग्रौर ऊतक-तरल से रुधिर में चली जाती है। घुली हुई गैस के रूप में इसकी ग्रपेक्षाकृत थोड़ी ही मात्रा ले जाई जाती है। इसका परिवहन मुख्यत प्लाज्मा द्रव्यो के सयोग में ग्रौर किसी कम सीमा तक हीमोग्लोबिन में होता है। फुफ्फुस ऊतक में प्रवेश करने पर कार्बन डाईग्राक्साइड सिक्त रुधिर ग्रपनी गैस का एक बड़ा ग्रश वायु-कोष्ठिकाग्रो की

वायु को दे देता है।

इस प्रकार हम देखते है कि ऑक्सीजन का अतर्ग्रहण तथा कार्बन डाई-ऑक्साइड का निष्कासन—दोनो ही—के लिए रुधिर फेफडो और ऊतक-कोशिकाओ के बीच एक महत्त्वपूर्ण 'बिचौलिया' है।

श्वसन का नियन्त्रण

हृदय की धडकन के विपरीत श्वसन पर एक सीमा तक ऐच्छिक नियत्रण किया जा सकता है। लेकिन अधिकतर यह पूरी तालबद्धता के साथ तथा स्वचलित ढग से चलता रहता है। विश्राम की अवस्था मे इसमे अधिकाश मे श्वसन की गति औसतन सोलह से अठारह श्वासन प्रतिमिनट होती है। श्वसन की सख्या और उसकी गहराई मे भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे वडा भेद हो सकता है। ये परिवर्तन क्योकर होते है और यह स्वचलन किस पर आश्रित है ?



आकृति 13—तत्रिकायिक नियत्रण और श्वसन का कार्यप्रदर्शी आरेख. सरलता के लिए केवल एक फेफड़ा और एक ही ओर की पसलियां तथा पर्शुकातर पेशियां दिखाई गई है।

श्वसन-केन्द्र—मस्तिष्क की अतस्था (मेड्यूला) तत्रिकायिक कोशिका-पिडो के प्रश्वसन और उच्छ्वसन केन्द्र नाम के दो समूह है। मस्तिष्क के पौस मे एक तीसरा केन्द्र भी है, जो श्वसन पर प्रभाव डालता है। सुविधा के लिए आकृति 13 मे केवल प्रश्वसन-केन्द्र ही दिखाया गया है। प्रश्वसन-केन्द्र हर प्रश्वसन के लिए उत्तरदायी है, दूसरे दो केन्द्र सम्मिलित रूप से प्रश्वसन-केन्द्र की क्रिया रोकते है और फलत उच्छ्वसन की क्रिया मे योग देते है।

प्रश्वसन केन्द्र की तन्त्रिका-कोशिकाएं या सूत्रों द्वारा तन्त्रिका-तन्तुओं द्वारा आवेग भेजती हैं जो मेरु रज्जु की तन्त्रिका-कोशिकाओं तक पहुंच जाते हैं। ये स्वयं उत्तेजित होकर मध्यच्छदाभिक तथा पर्शुकान्तर पेशियों को आवेग भेजती हैं। विशेषतया मेरु रज्जु के ग्रीवा भाग में दोनों तरफ स्थित तन्त्रिका कोशिकाएं उन तन्त्रिकाभिक तन्तुओं को जन्म देती हैं जिनसे मध्यच्छद-तन्त्रिकाएं बनती हैं (तन्त्रिका तन्त्रिका-तन्तुओं का समूह होती हैं)। इनमें से प्रत्येक वक्षीय गुहा के बीच से होती हुई जाती है और मध्यच्छद को आवेगित करती है। पर्शुकान्तर तन्त्रिकाएं मेरु रज्जु के वक्षीय क्षेत्र के दोनों तरफ की तन्त्रिका-कोशिकाओं से निकलती हैं और पर्शुकान्तर-पेशियों को चली जाती हैं।

प्रश्वसन तभी हो सकता है जब प्रश्वसन-केन्द्र से आवेग इन प्रश्वसन-पेशियों को भेज दिए जाएं। उच्छ्वसन इन आवेगों के समाप्त हो जाने और इन पेशियों के शिथिलन से उत्पन्न होता है।

श्वसन की तालबद्धता—जब स्वचलित श्वसन अविरत रूप से चल रहा होता है तो रासायनिक तथा तन्त्रिकाभिक कारक अपनी प्रतिक्रिया से प्रश्वसन तथा उच्छ्वसन का तालबद्ध एकान्तरण उत्पन्न करते हैं। प्रश्वसन अधिकांशत रासायनिक रूप से नियन्त्रित होता है और उच्छ्वसन तन्त्रिकाभिक रूप से।

प्रश्वसन केन्द्र की तन्त्रिका-कोशिकाएं रुधिर में प्रवहमान कार्बन डाईऑक्साइड से सीधी संवेदित होती हैं। जब भी कभी कार्बन डाईऑक्साइड रुधिर में एक निश्चित सान्द्रण प्राप्त कर लेती है तो ये तन्त्रिका-कोशिकाएं आवेग भेजने के लिए सक्रिय कर दी जाती हैं। इसके बाद का प्रश्वसन कुछ कार्बन डाईऑक्साइड को रुधिर से वायु-कोष्ठिकाओं की हवा में विसरित होने और रुधिर में कार्बन डाईऑक्साइड का स्तर कम करने का अवसर दे देता है।

प्रश्वसन प्रक्रिया अपने ही अवरोध के लिए प्रक्रमों को दो प्रकार से सक्रिय कर देती है। जैसे जैसे फेफड़े फूलते जाते हैं उनके विस्तार से वायुकोष्ठिका की भित्तियों में ग्राहीता उत्तेजित हो जाते हैं। ग्राहीता कुछ आवेग उत्पन्न करते हैं जो वागी तन्त्रिकाओं के संवेदी तन्तुओं पर चलकर उच्छ्वसन केन्द्र तक चले जाते हैं। इस केन्द्र की तन्त्रिका कोशिकाएं फिर अपने आवेश भेजती हैं जो प्रश्वसन-केन्द्र की तन्त्रिका कोशिकाओं को अवरुद्ध कर देते हैं और उनका निरावेश रोक देते हैं। साथ ही साथ प्रश्वसन केन्द्र की तन्त्रिका कोशिकाओं ने आरंभ में निरावेशित होते समय न केवल मेरु रज्जु को ही वरन् पोटीन केन्द्र को भी आवेग भेजे थे। पोटीन-केन्द्र की तन्त्रिका-कोशिकाएं उच्छ्वसन केन्द्र को आवेग भेजती है जिनका कार्य हम अभी बतला चुके हैं। उच्छ्वसन केंद्र का इस प्रकार दो सूत्रों द्वारा उत्तेजित किया जाना प्रश्वसन केन्द्र की क्रिया का इतना समुचित अवरोध कर देता है कि प्रश्वसन बंद होकर उच्छ्वसन प्रारंभ हो जाए। जैसे ही फेफड़े कुंचित होना शुरू करते हैं और प्रश्वसन-केन्द्र का निरावेश बंद होता है उच्छ्वसन-केन्द्र की क्रिया धीमी पड़ने लगती है। साथ ही कोशिका उपाप

चयन द्वारा अधिक कार्वन डाई-ऑक्साइड की उत्पत्ति के कारण रुधिर मे उसके वर्द्धित साद्रण के सयोग से प्रश्वसन की परिस्थितिया फिर पैदा हो जाती है और यह चक्र फिर से चलने लगता है।

प्रयोग द्वारा यह दिखाया जा चुका है कि वागी तन्त्रिकाओ को काट देने से श्वसन की गति धीमी पड जाती है। दूसरे शब्दो मे, उच्छ्वसन-केन्द्र की सक्रियता मे कमी प्रश्वसन-केन्द्र को अधिक समय तक निरावेगित होते रहने का अवसर देती है। यदि अब उच्छ्वसन और पोटीन-केन्द्रो के बीच के सम्बन्ध भी काट दिए जाए, तो भी प्रश्वसन अवरुद्ध नही होता और प्राणी प्रश्वसन मे ही मर जाता है (क्योकि श्वसन अब तालबद्धता के साथ नही चल पाता)।

नियन्त्रण के विशेष साधन—प्रतिवर्तो द्वारा श्वसन को शरीर की तात्कालिक आवश्यकताओ के अनुरूप अनेक सवेदन-तन्तुओ द्वारा प्रभावित किया जा सकता है। अतस्था के सभी महत्त्वपूर्ण केन्द्रो की भाति श्वसन-केन्द्र भी वातावरण के परिवर्तनो के अनुसार अपनी क्रिया बदल सकते है। इसके साथ ही इसे अपनी इच्छा से भी वदला जा सकता है, इसलिए मस्तिष्क के उच्च केन्द्र श्वसन-केन्द्र को आवेश भेज सकते है। किंतु ऐच्छिक नियत्रण प्रतिवर्ती य रासायनिक नियन्त्रण की जगह पूर्णत नही ले सकता। उदाहरण के लिए, किसी चीज को निगलते समय सास लेने का प्रयत्न कीजिए (निगलने की क्रिया अपने-आप ही श्वसन रोक देती है), या अपनी श्वास अनिश्चित अवधि तक के लिए रोके रखिए (वढते हुए कार्वन डाई-ऑक्साइड के स्तर को दवाते हुए)।

आपको यह वात असगत तो लगेगी कि श्वसन के नियन्त्रण के लिए ऑक्सीजन की अपेक्षा कार्वन डाई-ऑक्साइड का साद्रण अधिक महत्त्वपूर्ण है, लेकिन प्रयोगो द्वारा यह स्पष्ट रूप से निश्चित किया जा चुका है। उदाहरण के लिए, एक ऐसे कक्ष मे सास का प्रश्वसन तथा उच्छ्वसन करने पर कि जिसमे से उच्छ्वसित वायु की कार्वन डाईऑक्साइड घुसने के साथ निकाल दी जाती है, श्वसन पर तव तक कोई विशेष प्रभाव नही पडता जव तक कि ऑक्सीजन-साद्रण बहुत कम न हो जाए। इसके विपरीत 95 प्रतिशत ऑक्सीजन और 5 प्रतिशत कार्वन डाईऑक्साइड के मिश्रण मे सास लेने पर उपलब्ध ऑक्सीजन की अधिकता के वावजूद श्वसन की गति और गहनता उल्लेखनीय रूप से वढ जाती है। कार्वन डाईऑक्साइड-स्तर के महत्त्व का एक और व्यावहारिक उदाहरण अपनी सास रोकना है। हमारा विश्वास है कि कार्वन डाईऑक्साइड-साद्रण के एक स्तर तक पहुच जाने पर श्वास रोकना असम्भव हो जाता है। यदि हम सास रोकने से पहले ही कार्वन डाईऑक्साइड का स्तर गिरा सके (इस प्रकार उल्लेख्य स्तर प्राप्त करने का समय वढा दे,) तो हम सास रोकने की अवधि वढा सकते है। वहुत तेज तथा गहरी सास लेकर हम रुधिर मे कार्वन डाई-ऑक्साइड का स्तर कम कर सकते है, इस प्रकार के वलात् श्वसन के दौरान उच्छ्वसित वायु के जरिये इससे ज्यादा कर्वन डाई-ऑक्साइड निकल जाती है, जितनी कि ऊतको से रुधिर मे आ

जाती है। अर्थात् श्वसन के साथ शोण रुधिर [illegible] लौटाई जा सकती है। गोताखोर लोग अधिक [illegible] पानी के भीतर रहने के लिए इस प्रकार का लाभ उठाते हैं।

जब ऑक्सीजन का स्तर काफी नीचा होता है तो श्वसन की गति बढ़ जाती है लेकिन ऐसा श्वसन-केन्द्रों पर सीधी क्रिया द्वारा नहीं होता (वास्तव में निम्न ऑक्सीजन स्तर श्वसन-केन्द्रों को शिथिल कर देता है)। कुछ रुधिर वाहिकाओं में ऐसे ग्राहीता होते हैं जो अनि न्यून ऑक्सीजन स्तर के प्रति बड़े संवेदी होते हैं और प्रतिवर्ती क्रिया द्वारा श्वसन-केन्द्रों की क्रिया को तेज कर देते हैं। तथापि यह उल्लेखनीय है कि यह कोई स्वाभाविक दैनिक प्रतिक्रिया नहीं है वरन् एक प्रक्रम है जो आकस्मिक परिस्थितियों में काम आने के लिए हरदम तैयार रहता है।

श्वसन-तन्त्र के दूसरे कार्य और गतिविधियां

छींकना और खांसी—ये प्रतिवर्ती क्रियाएं हैं और नासिका गुहाओं की आन्तरिक परतों की उत्तेजना या श्वास नलिका के नीचे के क्षेत्रों के क्षोभण के कारण उत्पन्न होती हैं। क्षोभकों का निकाल फेंकना ही इनका कार्य है। दोनों ही एक लघु प्रश्वसन से प्रारम्भ होते हैं और इसके बाद स्वर-तन्तुओं का कुंचन होता है (जिससे फेफड़े बाहर से बन्द हो जाते हैं) और फिर एक शक्तिशाली उच्छ्वसन। श्वास मार्ग के बन्द हो जाने में जैसे ही उच्छ्वसन प्रारम्भ होता है फेफड़ों के भीतर दाब बढ़ जाता है। इसके बाद स्वर-तन्तु अलग हो जाते हैं और वायु का एक तेज झोंका क्षोभक को नासिका या मुख के बाहर फेंक देता है।

जमुहाई उसांस तथा हिचकी—ये श्वसन प्रतिवर्त हैं। इनका महत्त्व तथा इन्हें उत्पन्न करनेवाले उद्दीपनों के बारे में अभी तक ज्ञात नहीं है। जमुहाई एक परोक्ष परिवहन प्रतिवर्त भी हो सकता है जो रुधिर परिवहन को उत्तेजित करने के काम आता है। यह बात कि जमुहाई के बाद शरीर में तनाव आ जाता है इसी निष्कर्ष की पुष्टि करती है।

बोलना और गाना—उच्चारित ध्वनियां स्वर-तन्तुओं के स्पन्दन से उत्पन्न होती हैं। ये तन्तु उच्छ्वसित वायु द्वारा सक्रिय किए जाते हैं। ध्वनि का गुण स्वर तन्तुओं के तनाव पर निर्भर करता है और यह एक ऐसी दशा है कि जिसे हम अपनी इच्छा से परिवर्तित या निश्चित कर सकते हैं। यह भी प्रकट है कि मानविक वाणी की क्षमता के अनुरूप भांति भांति के उतार चढ़ाव तथा निरन्तरता को बनाए रखने के लिए हम स्वेच्छा से श्वसन क्रिया का नियन्त्रण करना चाहिए।

शिर विवर—ललाट और ऊर्ध्वहनु अस्थियों में (आकृति 20 देखिये) वायु से भरे कुछ विवर हैं जिन्हें ललाट विवर तथा ऊर्ध्वहनु विवर कहते हैं। इन विवरों का काम अभी तक अज्ञात है। हममें से बहुतों को तो उनकी उपस्थिति

का भान भी नही होता, पर साइनस या साइनसाइटिस रोग हो जाने पर हममे से कुछ को इनकी उपस्थिति का बडा तीखा आभास मिल जाता है।

सिर के विवरो के भीतर एक पतली झिल्ली का अस्तर होता है और ये पतले मार्गो द्वारा ऊपरी नासा-गुहाओ से जुडे होते है। कभी-कभी इन मार्गो से कीटाणु विवरो मे आ जाते है और दाह या सदूपण पैदा कर देते है।

रुधिर और लसीका-प्रवाह को सहायता देना—अध्याय तीन मे हम देख चुके है कि श्वसन-क्रियाए शिरागत रुधिर और लसीका के प्रवाह मे सहायक होती है। यह सहायता अतर्वक्षीय और उदरीय गुहाओ के भीतर के दाब-परिवर्तनो के कारण सम्भव हो पाती है। प्रश्वसन के समय अतर्वक्षीय गुहा मे दाव गिर जाता है, किन्तु उदरीय गुहा मे वढ जाता है (मध्यच्छद के गिरने के कारण, जो एक हद तक उदरीय अगो पर दाव डालता है)। अपेक्षाकृत पतली भित्ति वाली शिराए और लसीका-वाहिकाए दाव-परिवर्तनो के कारण वक्ष मे फैल जाती है और उदर मे दव जाती है। उच्छ्वसन के समय इन प्रभावो का क्रम उलट जाता है, क्योकि दाव विपरीत दिशा मे चले जाते है। जव वाहिकाए फैल जाती है, तो उनमे नीचे से अधिक रुधिर और लसीका प्रवेश करते है और जव वे दवाई जाती है, तो रुधिर ऊपर धकेल दिया जाता है। पम्प करने की यह सहायक क्रिया (हर श्वसन के समय) रुधिर को हृदय मे लौटने मे और लसीका को रुधिर मे लौटने मे काफी महायता पहुचाती है।

अध्याय 5

पाचक तन्त्र

इधन वृद्धि और ऊतकों की मरम्मत के लिए आवश्यक तीन आहारीय पदार्थ कार्बोहाइड्रेट वसाएँ तथा प्रोटीन हैं। कार्बोहाइड्रेटों के सरलतम प्रकार सरल शर्कराएं कहलाते हैं (जैसे ग्लूकोज या अंगूरी शक्कर फ्रक्टोज या फल शर्करा जिससे कई फल अपनी मिठास प्राप्त करते हैं)। सरल शर्कराओं की दो इकाइयां मिलकर एक द्विगुण शर्करा का निर्माण कर सकती है जैसे इक्षुशर्करा या सुक्रोज या चीनी लैक्टोज या दुग्ध शर्करा माल्टोज या यव (माल्ट) शर्करा या सरल शर्कराओं की कई इकाइयां मिलकर अधिक जटिल कार्बोहाइड्रेट बना सकती हैं जैसे मांड या स्टार्च वसाएं ग्लिसरोल और वसीय अम्लों की बनी होती हैं। प्रोटीन जो सभी रासायनिक द्रव्यों में सबसे अधिक जटिल हैं एमीनो अम्लों की अति दीर्घ शृंखलाओं से बनते हैं। प्रोटीन और एमीनो अम्लों के बीच की प्रकृतिवाले द्रव्य अपनी जटिलता के क्रम से पेप्टाइड' पेप्टोन और प्रोटिओज़ कहलाते हैं।

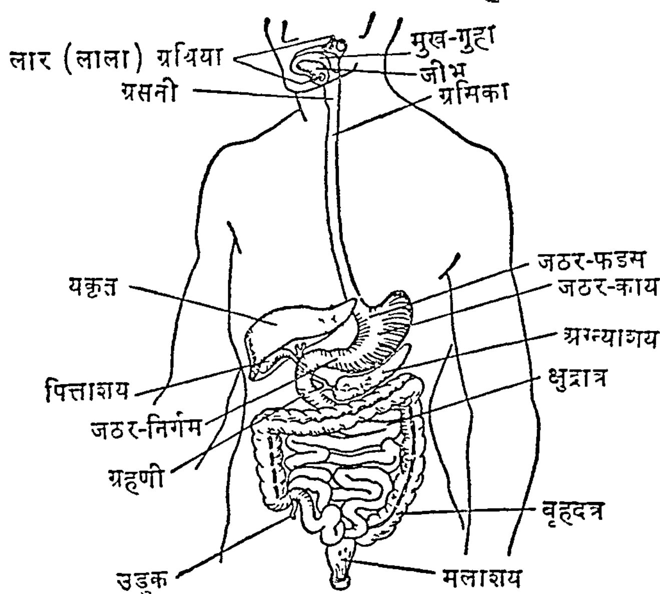
चूंकि कार्बोहाइड्रेट वसाएं तथा प्रोटीन इतने जटिल पदार्थ हैं कि जिस रूप में वे खाये जाते हैं उसी रूप में देह के काम नहीं आ सकते इसलिए पाचनतन्त्र का मुख्य कार्य उन्हें तोड़कर ऐसे सरलतम द्रव्यों के रूप में ले आना है कि जो दारिका तरलों में अवशोषित हो सकें।

पाचक अंगों का शारीर

आहार मुख से निगला जाता है और फिर वह ग्रसनी से होता हुआ ग्रसिका या ग्रास नली जठर या आमाशय तथा क्षुद्रांत्र इत्यादि में जाता है। आमाशय और क्षुद्रांत्र में पचनीय पदार्थ खंडित कर लिया जाता है। पाचन के उत्पाद क्षुद्रांत्र में अवशोषित हो जाते हैं। अवशेष बृहदांत्र तथा मलाशय में से गुजरकर गुदा द्वारा निष्कासित हो जाता है।

मुख में श्लेष्मक झिल्ली की एक परत होती है जिसे श्लेष्मल झिल्ली या श्लेष्मा अथवा म्यूकोसा कहते हैं। यह श्लेष्म से लोहित रहती है जो इसकी असंख्य सूक्ष्म ग्रंथियों से स्रवित होता है। 32 दांत अस्थीय अंग हैं जो काटने (छेदक) या चबाने (चवर्णक) आदि के लिए उपयुक्त होते हैं और जो अन्त ग्रहीत खाद्य को निगलन के लिए तैयार करने के काम आते हैं। दांतों पर एनमल या दंतवल्क की एक पतली बाहरी परत होती है जो सामान्यतः क्षयकारी कारकों के लिए अभेद्य होती है लेकिन इस बात के कई प्रमाण हैं कि भोजन में मिठाइयों (शर्करा) की अधिक मात्रा एनमल को भेद देती है और दन्तक्षय करती है।

दांतों और पेशीय जिह्वा का चबाने में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीभ भोजन की



आकृति 14—पाचन-तंत्र का आरेख

पाचक क्षेत्र की यात्रा का आरम्भ करती है। मुख मे आनेवाली अधिकाश लार लाला-ग्रथियो की तीन जोडियो से स्रवित की जाती है। ग्रंथीय कोशिकाए छोटी-छोटी वाहिनियो मे लार स्रवित करती है, जो मिलकर वडी वाहिनिया वनाती है और अन्त मे एक या दो महावाहिनियो मे परिवर्तित हो जाती है, जो तरल को मुखीय गुहा मे ले जाती है।

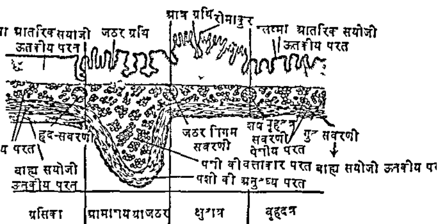
मुख्य आहार-नाल के सभी भागो का आधारभूत ढाचा यही है। हर भाग अनिवार्यत चौपरती भित्तियो की वनी एक नलिका है। ल्यूमेन या गुहा से लेकर वाहर की ओर की ये परते क्रमश 'श्लेष्मा' या 'म्यूकोसा' 'आन्तरिक सयोजी ऊतकीय परत' 'पेशीय परत' तथा 'वाह्य सयोजी ऊतकीय परते है' (आकृति 15 देखे)। इन परतो के रूपातरण विभिन्न भागो के कार्यो से सहसम्वन्धित किए जा सकते है।

श्लेष्मा या म्यूकोसा—ग्रासनली या ग्रसिका मे श्लेष्मा मुख्यत वहुपरतीली इपीथीलियम का वना होता है। अधिक घर्षणवाले अगो मे अधिकतर इसी प्रकार का श्लेष्मा पाया जाता है। आमाशय और आतो मे सभी जगह श्लेष्मा की कोशिकाए स्तभाकार होती है। आमाशय के अस्तर मे कई सलवटें होती है, जिनसे इसका सतही क्षेत्रफल वढ जाता है। इसमे असख्यो सूक्ष्म ग्रथिया भी होती है, जो सतह के भीतर घुसी होती है। क्षुद्रात्र का अस्तर देखने मे वडा ही चिकना और मखमल की तरह का होता है। पर सूक्ष्मदर्शी से देखने पर यह पता चलता है कि इसमे असख्यो ग्रन्थियो के अलावा श्लेष्मा से अगुलियो-जैसे असख्यो प्रवर्ध ल्यूमेन

की तरफ जाते हैं। बृहदांत्र में आगे बढ़ने पर इनकी संख्या कम होती जाती है लेकिन श्लेष्मा स्रावित करनेवाली कई कोशिकाएं प्रकट होती हैं। इस प्रकार इस नली के हर भाग के श्लेष्मा में विशिष्ट विभिन्नता होती है।

आन्तरिक संयोजी ऊतकीय परत—समस्त पाचक क्षेत्र में यह परत बहुत ही थोड़ी विभिन्नताएं रखती है। रुधिर वाहिकाओं की कई बड़ी शाखाएं यहां होकर जाती हैं और यहां से वे ऊपर की अन्य परतों को छोटी छोटी शाखाएं भेजती हैं। इनके अलावा इस परत में तंत्रिका तंतु और तंत्रिकाधिक कोशिकाओं का एक जाल भी है।

पेशीय परत—ग्रसिका के ऊपरी दो तिहाई भाग को छोड़कर सभी भागों (जिसमें कंकाल पेशी होती है) की पेशीय परत चिकनी पेशी की ही होती है। मोटे तौर पर यह पेशी की एक भीतरी परत में जिसके तंतु वृत्ताकार होकर नली के चारों तरफ जाते हैं और एक पेशी की बाहरी परत में जिसके तंतु नलिका की लम्बाई की दिशा में साथ साथ जाते हैं उपविभाजित होती है। वृत्ताकार परत



आकृति 15—पाचक क्षेत्र के चारों मुख्य क्षेत्रों की परतों का आरेख

का कुंचन ल्यूमन का प्रकुंचन उत्पन्न करेगा। आमाशय (जठर) की पेशी दूसरे भागों से अधिक मोटी होती है और इसके उपविभाग इतने स्पष्ट नहीं होते। यहां पर वृत्ताकार तथा अनुदैर्घ्य तंतुओं के अलावा अन्य तंतु भी होते हैं जो तिरछे जाते हैं। बृहदांत्र की अनुदैर्घ्य पेशी एक पूर्ण परत नहीं। यह पेशी की तीन अलग पट्टियों की बनी होती है। ये पट्टियां बृहदांत्र के बराबर लम्बी नहीं होतीं और जब वे कुंचित होती हैं तो आंत्र के इस भाग को मुड़ा तुड़ा हुआ आकार दे देती हैं।

किन्हीं किन्हीं भागों में—जठर और ग्रसिका के मिलन बिंदु आमाशय

(जठर) और क्षुद्रान्त्र के मिलन-विन्दु, क्षुद्र और वृहदन्त्रो के मिलन-विन्दु और गुदा पर—वृत्ताकार पेशी बहुत मोटी हो जाती है, जिससे पेशी की एक ऐसी छल्लेदार नली वन जाती है कि जो पूर्ण रूप से ल्यूमेन को वन्द कर सकती है। ये छल्ले या सवरणिया क्षेत्र के एक भाग से दूसरे भाग को जानेवाले द्रव्य पदार्थ का नियमन करती है। वृत्ताकार और अनुदैर्घ्य परतो के वीच एक और तन्त्रिकायिक जाल होता है।

बाह्य सयोजी ऊतकीय परत—यह अधिकतर एक सख्त और लचीला सरक्षणात्मक आवरण होता है, जो पाचक क्षेत्र की रक्षा करता है।

आहार का रासायनिक उपखंडन

यद्यपि पाचक क्षेत्र से आहार के सभी अवशेप बाहर निकलने मे दो दिन तक का समय लग सकता है, तथापि उसके पचनीय अश चार से दस घटो के भीतर रुधिर मे अवशोपित हो चुके होगे और कोशिकाओ द्वारा उपयोग के लिए उपलब्ध हो जाएगे। इससे पहले कि हम यह देखे कि, भोजन इस क्षेत्र मे से किस प्रकार गुजरता है, हमे इसके पाचन का अनुरेखन कर लेना चाहिए।

अठारहवी शताब्दी के मध्य से पहले के वैज्ञानिको का यह विश्वास था कि पाचन एक यात्रिक प्रक्रिया है, जिसमे आहार के जठर मे पिसते जाने के साथ-साथ पोपक रस उसमे निचुडकर निकलते जाते है। इसके वाद यह पता चला कि जठर-रस मास को यात्रिक सहायता के विना जठर के बाहर ही पचा सकते है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि पाचन एक रासायनिक प्रक्रिया है। इस समय इसके वारे मे एक बडा ही रोचक प्रयोग यह हुआ कि एक आदमी को धातु की एक छेददार गेद निगलवा दी गई, जिसमे खाना भरा था। गेद मे के छिद्रो मे से होकर जठर-रस भोजन पर हमला कर सकते थे, पर किसी भी यात्रिक शक्ति का गेद विरोध करती। कुछ समय के वाद गेद वाहर निकाल ली गई और यह देखा गया कि उसमे का भोजन पच चुका था।

लार-पाचन—लार की पाचन-क्रिया उसकी अन्य क्रियाओ कम महत्त्व-पूर्ण है।

यदि लार-स्राव यथेष्ट नही है, तो मुह और ग्रसनी की झिल्लिया शुष्क हो जाती है और प्यास की अनुभूति उत्पन्न हो सकती है। किन्तु इन झिल्लियो का मात्र शुष्क से हो जाना इस अनुभूति के लिए यथेष्ट उद्दीपन नही है। यह प्यास उसी समय अनुभव होती है जव देह मे जल की वस्तुत कमी के कारण (जव कि सामान्य लार-स्राव के लिए देह मे यथेष्ट जल नही होता) शुष्कता उत्पन्न होती है।

लार मुख और दातो को धोती तथा स्वच्छ करती है और उन द्रव्यो को जमा होने देने से रोकती है, जो दातो को क्षति पहुचा सकते है। यह मुख मे के अवयवो को भी चिकना तथा आर्द्र करती है। आर्द्र तथा स्वस्थ वातावरण वनाए रखने के अलावा यह क्रिया वातचीत के दौरान जिह्वा और होठो को चलने मे सहायता

भी देती है। और चूंकि ठोस का मात्रात्मक घुल हुए रूप में ही किया जा सकता है इसलिए लार की विनय क्रिया स्वाद की अनुभूति भी पैदा करती है।

जब भोजन मुंह में प्रवेश करता है तो यह लार के साथ अच्छी तरह से मिल जाता है। इससे भोजन कहीं अधिक कोमल और निगलने लायक बन जाता है। उदाहरण के लिए सूखे बिस्कुट को लार के अभाव में निगलना बहुत कठिन है। मंडमय आहार और लार का मिश्रण लारमय प्रकिण्व या एन्जाइम टयालिन को वास्तविक पाचन क्रिया प्रारंभ करने का अवसर देता है। टयालिन की उपस्थिति में मांड (श्वेत सार) जो एक जटिल कार्बोहाइड्रेट है विखंडित होकर माल्टोज़ नाम की द्विगुण शर्करा के रूप में आ जाता है।

एन्जाइम या प्रकिण्व एक प्रकार के उत्प्रेरक अर्थात् ऐसे पदार्थ हैं जो उन रासायनिक प्रक्रियाओं को अपनी उपस्थिति से तेज कर देते हैं जिनकी गति इनके बिना या तो बहुत धीमी रहती है या होती ही नहीं। प्रतिक्रियाओं में एन्जाइम स्वयं उपयुक्त नहीं हो जाते वरन् अपनी उत्प्रेरक क्रिया दुहराने के लिए फिर अपनी स्वाभाविक हालत में आ जाते हैं। यद्यपि एन्जाइमों में कोई परिवर्तन नहीं आता फिर भी वे देह में लगातार विलुप्त होते रहते हैं। अन्य एन्जाइम उनको रासायनिक उपखंडन कर सकते हैं या जिन विलयों में वे विद्यमान हैं उनकी अम्लता में आए तीव्र परिवर्तन उन्हें निष्क्रिय कर सकते हैं या फिर वे देह से उत्सर्जित भी किए जा सकते हैं।

किसी भी एन्जाइम की सक्रियता पर कई कारक प्रभाव डाल सकते हैं। हर एन्जाइम एक निश्चित ताप सीमा के भीतर ही सर्वाधिक कार्य करता है। चूंकि शरीर का ताप बहुत थोड़ा ही घटता बढ़ता है इसलिए यह कारक शरीर के लिए बहुत महत्त्व रखता है। प्रत्येक एन्जाइम एक विशेष अम्लता पर भी सर्वाधिक कार्य करता है। यदि यह किसी दिशा में बहुत अधिक घट बढ़ जाए तो एन्जाइम निष्क्रिय हो जाएगा। लार सामान्यतः एक अम्लीय द्रव है किंतु यह कुछ क्षारीय भी हो सकती है। टयालिन उन विलयों में सबसे ज्यादा प्रभावी होती है जो लगभग उदासीन हैं (अर्थात् जो उतने ही अम्लीय हैं जितने कि क्षारीय)।

एन्जाइमों की बड़ी विनिर्दिष्टता और प्रत्येक के विशेष कार्य ही करने की क्षमता के कारण वे कुछ ही पदार्थों पर आक्रमण करते हैं। हो सकता है कि इस प्रकार के उत्पन्न पदार्थों पर कार्य न भी कर सकें। उदाहरणार्थ टयालिन केवल मांड (श्वेतसार) पर ही क्रिया करता है पर वह माल्टोज़ का उपखंडन नहीं कर सकता।

चूंकि भोजन मुंह में बहुत थोड़े समय तक ही रहता है इसलिए लार पाचन भोजन के आमाशय में पहुंचने तक पूर्ण नहीं हो जाता। साधारणतया यह आध घंटा या उसके आसपास तक जठर में चलता रह सकता है। भोजन का मंडमय भाग सामान्यतः पाचन के अंतर्गत सबसे अंत में आता है। पहले निगला हुआ भोजन आमाशय की दीवारों से लगता है, और बाद में आए भोजन के चारों

ओर एक सरक्षणात्मक आवरण बनाने की चेष्टा करता है, जिससे बाद मे आने वाले भोजन का जठर-रस के साथ तीव्रता से मिश्रण नही हो पाता। इन परिस्थितियो मे ट्यालिन मे मड को तब तक उपखडित करता रहता है कि जब तक अत्यधिक अम्लीय जठर-रस प्रकिण्व को निष्क्रिय नही कर देते।

जठरीय पाचन—कई जठर-ग्रथिया एक जलीय रस स्रवित करती रहती है, जिसमे हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की खासी मात्रा होती है। इसलिए 'अम्लीय आमाशय' एक स्वाभाविक, और जैसा कि हम बाद मे देखेगे, एक उपयोगी अवस्था है, जिसमे चिकित्सक की राय के बिना कभी भी परिवर्तन नही करना चाहिए। जठर-रस के एजाइम केवल तीव्र अम्लीय माध्यम मे ही सबसे अच्छा कार्य करते है।

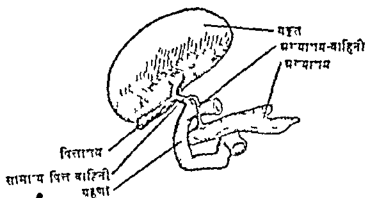
आमाशय के अन्य तीन भाग फण्डस, काय और पाइलोरस या जठर-निर्गम कहलाते है (आकृति 14 देखे)। फडस और काय की ग्रथियो मे दो महत्त्वपूर्ण प्रकारो की कोशिकए होती है। एक प्रकार की कोशिकाए अम्ल स्रवित करती है और दूसरी प्रकार की जठर-प्रकिण्व।

पेप्सिन इन दोनो प्रकारो के एजाइमो मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह अतर्ग्रहीत भोजन के प्रोटीनो पर आक्रमण करती है और उन्हे अधिक सरल और सूक्ष्म तत्त्वो मे खडित कर देती है। साधारणतया यह पाचन कुछ माध्यमिक पदार्थो की उत्पत्ति का पूर्वगामी होता है, जैसे 'प्रोटिओज' और 'पेप्टोन'।

रेनिन एक एजाइम है, जो विशेष रूप से शिशुओ मे दुग्ध का आतचन करता है। यह प्रक्रिया रुधिर के आतचन की तरह ही है। दूध का प्रोटीन, 'कैसीन', अपनी विलय अवस्था से अविलय अवस्था मे आ जाता है। अब चूकि कैसीन अविलेय हो गया है, इसलिए यह घोल के रूप मे आमाशय को शीघ्र नही छोड सकता और पेप्सीन द्वारा क्रिया की जाने के लिए रह जाता है। इस मामले मे उत्पन्न थक्का दही है और वह द्रवाश, जो अलग हो जाता है, मट्ठा या छाछ कहलाता है (यह रुधिर-सीरम के समान है)।

क्षुद्रात्र मे पाचन—पाचन का अधिकाश भाग क्षुद्रात्र मे सम्पन्न होता है। यकृत् या जिगर अग्न्याशय तथा आत्रिक श्लेष्मा के स्राव आहार का ऐसे सरल पदार्थो मे खडन सुनिश्चित कर देते है, जो आसानी से रुधिर मे अवशोषित हो सकते है।

पित्त—यकृत्-कोशिकाए अविरल रूप से पित्त स्रवित करती रहती है, जो हरे या हरे-भूरे रग का एक तरल है। यकृत् मे एक वाहिनी पित्त को क्षुद्रात्र तक ले जाती है (आकृति 16 देखे)। यदि अंत्र पित्त को ग्रहण करने को तैयार नही है, तो यह एक अन्य वाहिनी द्वारा पित्ताशय मे चला जाता है, जहा यह जमा रहता है और आवश्यकता पडने पर फिर बाहर आ जाता है। ऐसे अवसर पर यह पित्ताशय की वाहिनी से सामान्य या मूल पित्तवाहिनी (जो यकृत् और पित्ताशय की वाहिनियो के सयोग से बनती है), मे चला आता है और इससे होता हुआ



आकृति 16—पित्त तथा अग्न्याशय वाहिनियों का संबंध

ग्रहणी में जाता है जो क्षुद्रांत्र का प्रारंभिक भाग है।

पित्त के मुख्य स्राव भोजन की वसाओं को अवस्था में पायसीकरण कर देते हैं। वसा की गोलिकाएँ आकार में कम हो जाती हैं और उनकी एक-दूसरे से मिल जाने की प्रवृत्ति भी कम हो जाती है। इस प्रकार अग्न्याशयी वसा भंजक एन्जाइम के आक्रमण और क्रिया के अन्तर्गत आनेवाली वसा की कुल सतह बढ़ जाती है।

अग्न्याशय रस—अग्न्याशय एक हल्के दूधिया रंग की ग्रंथि है जो क्षुद्रांत्र की ग्रहणी के साथ-साथ उदरीय भित्ति के साथ जोड़नेवाली झिल्ली में स्थित है। इसकी कोशिकाएँ एक क्षारीय तरल स्रवित करती हैं जिसमें प्रचुर एन्जाइम होते हैं और उन्हें अग्न्याशय वाहिनी द्वारा ग्रहणी में भेज देती हैं (आकृति 16)।

अग्न्याशयी लाइपेज—पित्त द्वारा पायसीकृत वसा पर अग्न्याशयी लाइपेज क्रिया करता है और उन्हें वसीय अम्लों तथा ग्लिसरॉल में परिवर्तित कर देता है। चूंकि केवल यही एक प्रभावी वसाभंजक एन्जाइम है इसलिए इसकी अनुपस्थिति वसाओं के पाचन तथा पूर्ण अवशोषण को रोक सकता है।

ट्रिप्सिन—प्रोटीन को तोड़नेवाला अग्न्याशयी एन्जाइम है। यह उस प्रोटीन पर आक्रमण कर सकता है जिसका आमाशय में पहले आंशिक पाचन नहीं हो पाया है या यह उन प्रोटिओज़ों तथा पेप्टोनों पर क्रिया कर सकता है जो पेप्सिन की पाचन क्रिया के कारण उत्पन्न होते हैं। यह इन पदार्थों को भंजित करके और भी सरल यौगिकों पेप्टाइडों में परिवर्तित कर देता है।

अग्न्याशयी एमिलेज—टयालिन से इस बात में भिन्न है कि यह पके या अनपके दोनों प्रकार के मंडों को तोड़कर माल्टोज़ में परिवर्तित कर सकता है। टयालिन केवल पका हुआ मण्ड ही पचा सकती है।

आंत्र रस—आंत्र की श्लेष्मिक ग्रंथियाँ भी एक क्षारीय द्रव स्रवित करती हैं जिसमें कई एन्जाइम होते हैं। ये एन्जाइम भोजन का पाचन पूरा करके उसे ऐसे यौगिकों में बदल देते हैं जो आसानी से अवशोषित हो सकते हैं।

पेप्टाइड—यह ऐसे एंजाइमो की एक शृंखला है जो भिन्न-भिन्न जटिलता के पेप्टाइडो को तोडकर एमीनो अम्लो मे बदल देते है। आंत्र लाइपेज साधारणतया अधिक महत्त्वपूर्ण नही है, क्योकि यह अग्न्याशयी लाइपेज की अपेक्षा कमजोर होता है। फिर भी यह इतना शक्तिशाली तो है ही कि अग्न्याशयी लाइपेज की अनुपस्थिति मे अतर्ग्रहीत वसा के लगभग अर्धांश को वसीय अम्लो तथा ग्लिसरोल मे बदलकर पचा सकता है।

यहा कुछ कार्बोहाइड्रेट एंजाइम भी होते है। माल्टेज माल्टोज को ग्लूकोज मे परिवर्तित कर देता है। दुग्ध-शर्करा—लैक्टोज—लैक्टेज एंजाइम द्वारा ग्लूकोज तथा गेलेक्टोज मे भजित हो जाती है, और इसी प्रकार साधारण शर्करा—इक्षु-शर्करा—सुक्रेज द्वारा ग्लूकोज और फ्रुक्टोज मे परिवर्तित कर दी जाती है।

पाचक स्रावों का नियमन

पाचक रसो का स्राव निरतर होता रहता है, किन्तु जब-जब उनकी आवश्यकता विशेष रूप से पडती है, तब कई ऐसी प्रक्रियाए शुरू हो जाती है, जो उनका प्रवाह तेज कर देती है। पाचक ग्रथियो की क्रिया को नियत्रित करनेवाले ये कारक तन्त्रिकायिक, रासायनिक या यान्त्रिक प्रवृत्ति के हो सकते है।

लार-ग्रथियो का नियन्त्रण—हम सब जानते है कि जब किसी वस्तु को मुह मे रखा जाता है, तो इसके फलस्वरूप लार-प्रवाह बढ जाता है। यही नही, भोजन के विचार, भोजन के दर्शन या गध का भी यही परिणाम हो सकता है। (जरा अपने प्रिय भोज्य पदार्थ के बारे मे सोचिए और देखिए कि आपके मुह मे कैसे लार भर आती है!) प्रयोग द्वारा पाया गया है कि ऐसी स्थितियो मे वर्धित लार-प्रवाह प्रतिवर्ती तन्त्रिकायिक नियत्रण मे होता है।

विलय-रूप मे आए पदार्थ जिह्वा की स्वाद-कलिकाओ को रासायनिक रूप से उत्तेजित कर देते है, जिससे मस्तिष्क के पिछले भाग मे स्थित लार-केन्द्रो को सवेदी तन्त्रिका-सवेग भेजे जाते है, और उनसे प्रेरक सवेग भेज लार-ग्रन्थियो को दिए जाते है। अत्योक्त सवेग ग्रन्थियो की क्रियाशीलता को तेज कर देते है। भोजन के विचार, दर्शन या बोध के कारण या मुह की झिल्ली की परत के यान्त्रिक उत्तेजन से भी सवेदी सवेग लार-ग्रथियो को जाते है। मुह के खाली होने पर उत्पन्न हुए प्रतिवर्त, अनुकूजित या अधोगत प्रतिवर्तो के उदाहरण है (६वा अध्याय देखिए), जो किसी व्यक्ति को अपने अनुभवो द्वारा प्राप्त होते है और वशागत नही होते। मुह के अवयवो की उत्तेजना के कारण उत्पन्न लार-अनुक्रियाए वशागत प्रतिवर्त है, अर्जित नही।

उद्दीपन की लार-अनुक्रियाए बडी ही प्रयोजनात्मक होती है। उदाहरण के लिए, यदि मुह मे अम्ल ले लिया जाए, तो इसके फलस्वरूप प्रचुर लार-प्रवाह होने लगता है। यह अम्ल को तनु (हलका) कर देता है और क्षति को रोकने का यत्न करता है। इसके विपरीत भोजन अपेक्षाकृत कम लार उत्प्रेरित करता है

और यह लार एंजाइम तथा श्लेष्मा से परिपूर्ण होती है। भोजन टयालिन के साथ मिश्रित होता है स्नेहित होता और अधिक सरलता से निगल लिया जाता है। ये दो प्रकार के लार स्राव लार ग्रंथियों के विभिन्न कोशिका प्रकारों से आते हैं एक प्रकार जलीय लार उत्पन्न करता है, तो दूसरी श्लेष्मामय एंजाइम से परिपूर्ण लार। चूंकि दोनों प्रकार की कोशिकाओं को भिन्न भिन्न तन्त्रिकाएं गतिमान करती हैं अतः उनका स्राव अलग अलग या एक साथ भी उत्पन्न किया जा सकता है।

जठर स्राव का नियन्त्रण—मनुष्य में जठर ग्रंथियां अविरल रूप से—निद्रा तक में—सक्रिय रहती हैं। किन्तु तंत्रिकाविक यांत्रिक और रासायनिक कारक उनकी क्रिया में परिवर्तन ला सकते हैं।

लार स्राव की तरह मुख में भोजन की उपस्थिति या उसके विचार दृश्य अथवा गंध से जठर रस का प्रतिवर्ती स्राव पैदा हो सकता है। सामान्यतः ऐसा भोजन के आमाशय में जाने से पहले होता है और इसे जठर स्राव की मानसिक कला कहते हैं। इस प्रतिवर्ती प्रतिक्रिया की प्रेरक तन्त्रिकाएं वेगस-तन्त्रिकाएं हैं जो अपनी शाखाएं आमाशय को भेजती हैं। यदि ये काट दी जाती हैं तो जठर स्राव की मानसिक कला समाप्त हो जाती है।

आमाशय में घुसने के बाद भोजन उसकी दीवारों को फैलाता है यह यांत्रिक प्रभाव श्लेष्मिक ग्रंथियों को अधिक जठर रस स्रवित करने के लिए उत्तेजित कर देता है। यह जठर-स्राव की क्रिया जठर-कला में होती है। इस अवधि में जठर स्राव का रासायनिक उद्दीपन भी होता है। इससे पहले के मानसिक जठर स्राव द्वारा मुक्त हुई पेप्सिन भोजन के प्रोटीन पचाने लगती है। आंशिक प्रोटीन पाचन की उपज—प्रोटियोज़ तथा पेप्टोन—जठर निर्गम श्लेष्मा को गस्ट्रिन नामक पदार्थ उत्पन्न करने के लिए उत्तेजित करते हैं। गस्ट्रिन रुधिर में अवशोषित हो जाता है और वह इस फंडस की ग्रंथियों तथा आमाशय-काय को ले जाता है। गैस्ट्रिन के प्रभाव से ग्रंथियां और भी अधिक जठर रस स्रवित करती हैं।

मानसिक स्राव के कारण जठर रस भोजन पहुंचने से पहले ही आमाशय के ल्यूमन में पहुंच जाता है और तुरन्त ही उसे पचाने का काम करने लगता है। स्वयं भोजन और उसकी अधपची उपज अब पाचन के जठरीय भाग को पूर्ण कराने के लिए अधिक रस का स्राव करते हैं।

अग्न्याशयी और पित्तीय स्राव का नियन्त्रण—वेगस-तन्त्रिकाएं अग्न्याशयी और यकृत्-कोशिकाओं को भी तन्तु भेजती हैं। किसी वेगस तन्त्रिका का उद्दीपन अग्न्याशय रस और पित्त का स्राव करा सकता है। इन दोनों पाचक रसों का मानसिक प्रवाह प्रतिवर्ती रूप से उत्प्रेरित किया जा सकता है किन्तु लार और जठर-स्रावों की तरह यह प्रवाह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। वेगस-तन्त्रिका के काट देने पर पित्त और जठर रस की उत्पत्ति बन्द नहीं हो जाती।

इन स्रावों का नियन्त्रण तंत्रिकाविक नियन्त्रण से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

जब आमाशय के अम्लीय तत्त्व ग्रहणी मे प्रवेश करते है और उसके श्लेष्मा के सम्पर्क मे आते है, तो सेक्रेटिन नाम का एक रासायनिक द्रव्य उत्पन्न होता है। एक बार मुक्त होने पर सेक्रेटिन रुधिर मे अवशोषित होकर अग्न्याशय तथा यकृत् तक चला जाता है और इनकी ग्रन्थियो का स्राव बढा देता है। यह बात कि सेक्रेटिन की उन्मुक्ति किसी अन्य जठरीय अतर्वस्तु से नही, वरन् अम्ल से होती है, ग्रहणी मे अम्ल के प्रवेश के बाद अग्न्याशयिक रस तथा पित्त के वर्धित स्राव द्वारा दर्शाई जा सकती है।

यद्यपि सेक्रेटिन पित्त का स्राव बढा देता है, पर यह पित्ताशय को सचित पित्त निकालने पर बाध्य नही करता। 'कोलीसिस्टोकाइनिन' नामक पदार्थ, जो ग्रहणी-श्लेष्मा पर वसा की क्रिया द्वारा उत्पन्न होता है, रुधिर मे और उसके द्वारा पित्ताशय मे ले जाया जाता है और पित्ताशय को प्रकुचित कर देता है। इस प्रकार जठरीय अतर्वस्तुए पित्त का स्राव बढा देती है और यदि वसा उपस्थित है, तो पित्ताशय का सचित पित्त स्खलित कर देती है। इस प्रकार वसा का समुचित पायसीकरण सुनिश्चित हो जाता है।

आत्र ग्रथियो का नियन्त्रण—आत्र ग्रन्थियो के ऊपर तन्त्रिकायिक और रासायनिक दोनो ही प्रकार के नियत्रण दृष्टिगोचर होते है, किन्तु उनकी वास्तविक क्रियाविधियो के बारे मे अभी कोई निश्चित बात नही कही जा सकती। आत्र रस अविरल रूप से स्रवित होता रहता है, लेकिन क्षुद्रात्र मे भोजन के पहुच जाने पर वह बढ जाता है।

पाचक क्षेत्र मे भोजन का निर्गमन

आइए, अब हम यह देखे कि अतर्ग्रहीत भोजन पाचक रसो के साथ किस प्रकार मिश्रित होता है और पाचक क्षेत्र से गुजरने के साथ-साथ इसकी तरलता किस प्रकार बदलती जाती है।

चर्वण—नीचे के जबडे की ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दाए-बाए चलने की क्रिया से भोजन छोटे-छोटे टुकडो मे टूट जाता है और वह लार के साथ अच्छी तरह मिल जाता है। जिह्वा और गाल की गतिया इसीलिए महत्त्वपूर्ण है कि वे भोजन को दातो के बीच मे धकेल देती है और फिर इस सूक्ष्म विभाजित द्रव्य को गोलाकार ग्रासो मे परिवर्तित कर देती है।

निगलना—चबाए हुए भोजन का ग्रास जिह्वा पर जाता है और फिर जिह्वा-पेशियो के कुचन द्वारा पीछे धकेला जाता है, यहा तक कि वह जिह्वा के पिछले भाग पर आकर ठहर जाता है। इसके बाद जिह्वा के नीचे की एक पेशी कुचित होती हे और जिह्वा को मुख की छत की तरफ ऊपर उठाती है और ग्रास को ग्रसनी मे पीछे की तरफ भेज देती है। निगलने की यह पहली मजिल ऐच्छिक नियत्रण मे होती है, लेकिन भोजन के ग्रसनी मे पहुचने के बाद अनैच्छिक प्रतिवर्ती नियत्रण स्थापित हो जाता है।

ग्रसनी की पशिया कुचित होने लगती है और ग्रास ग्रासनली या ग्रसिका म धकल दिया जाता है। ग्रास का नासा-गुहा स्वरयत्र या ग्रसिका के बजाय वापस मुह म जाने स रोकने के लिए यहा सहायक प्रतिवर्ती क्रियाए आवश्यक होती हैं। भोजन मुह म वापस नही जा सकता क्योकि जिह्वा तालु से लगी उसी स्थिति मे रहती है जिसम वह पहली मजिल म आई थी यह ऊपर नासा गुहा म भी नही जा सकता क्योकि कोमल प्रतिवत द्वारा तालु उठ जाता है और ग्रसनी को उस जगह पर बन्द कर देता है और यह स्वर-तन्त्र म भी नही जा सकता क्योकि प्रतिवर्ती पेशीय कुचन इस अग को ऊपर उठाकर जिह्वा और कण्ठच्छद के नीचे ले आता है। इसी समय स्वर तन्तु खिचकर एक साथ हो जाते है और श्वसन अवरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार निगलन और श्वसन की क्रिया का एक ही साथ होना रोक दिया जाता है और निगला हुआ पदार्थ केवल एक ही जगह जा सकता है और वह है ग्रसिका।

ग्रसिका मे क्रमाकुचन—ग्रसिका म पहुचने क बाद ग्रास क्रमाकुचन या लहरी गति द्वारा नीचे भेजा जाता है। क्रमाकुचन एक प्रकार की गति है जो पाचन क्षेत्र के अधिकाश भागो म व्याप्त है। इसम प्रकुचन की एक तरग उठती है और उसके एकदम बाद और पहले शिथिलन की तरग उठती है। प्रकुचन क्षेत्र की भित्तियो की वृत्ताकार पेशी के कुचन से उत्पन्न होता है। प्रकुचन के इस गतिमान वलय के आगे आया हर पदार्थ उसी की दिशा म धकेल दिया जाता है।

साधारणतया निगलन की हर क्रिया क्रमाकुचन की एक प्रतिवर्ती तरग उत्पन्न करती है जो ग्रासनली की पूरी लम्बाई म फैल जाती है। जिह्वा के मूल या ग्रसनी की बाहरी भित्ति का यान्त्रिक उद्दीपन तुरन्त ही ऐसी तरग पैदा कर देता है। मस्तिष्क की अतस्था म स्थित निगलन के केन्द्र को सवेदी तन्त्रिका यिक सवेग भेजे जाते हैं जो प्रेरक तन्त्रिकाओ द्वारा उन्हे पुन ग्रसिका की भित्ति की वृत्ताकार पेशी का प्रेषित कर देता है। क्रमाकुचन तरग ग्रास नली की दीवार के फैलन स भी प्रतिवर्ती रूप स उत्पन्न की जा सकती है। बडा ग्रास जो एक ही क्रमाकुचन तरग द्वारा ग्रास नली की पूरी लम्बाई पार नही कर सकता इस प्रकार द्वितीयक तरग उत्पन्न कर सकता है। हर क्रमिक तरग द्वारा यह आमाशय के अधिक निकट ले जाया जाता है।

ग्रसिका के ऊपरी दो तिहाई भाग म क्रमाकुचन उन वागो तन्त्रिकाओ की अखडता पर निर्भर करता है जो उसकी भित्तियो की पेशी को सक्रिय करती है। निचले एक तिहाई भाग म चिकनी पेशी होती है जिसकी क्रिया भित्तियो के भीतर स्थित तन्त्रिकाओ द्वारा नियन्त्रित होती है।

ठोस या अधठोस भोजन मुख स आमाशय तक 6 स 7 सकिण्ड म चला जाता है। क्रमाकुचन तरग ग्रसिका तथा आमाशय के मुहान पर स्थित पेशीय वलय हृद सवरणी तक ग्रास क पहुचन स पहले ही पहुच जाती है। सवरणी जो कुचित हो चुकी थी अब शिथिलित होती है और भोजन आमाशय म चला जाता है। द्रव

सवरणी मे एक सैकिंड से भी कम मे पहुच जाते है, क्योकि वे ग्रसनी मे दाब के साथ भेजे जाते है और ग्रसिका मे वे क्रमाकुचन क्रिया के बजाय गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से नीचे चलते चले जाते है। द्रव तबतक हृद्-सवरणी के ऊपर ही एकत्रित रहता है जब तक कि क्रमाकुचन तरग, जो अपेक्षाकृत धीमी चाल मे आती है, सवरणी तक आकर उसे शिथिलित नही कर देती।

जो पशु उपर्युक्त ढग से द्रवो को निगलते है, वे सिर नीचा रहने पर भी द्रव पी सकते है, क्योकि वे द्रव को गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध भी ग्रासनली मे धकेल सकते है। कुछ पक्षियो मे द्रव को ग्रास-नली मे नही धकेला जा सकता। इसलिए इन पक्षियो को द्रव को ग्रास-नली मे पहुचाने के लिए सिर उठाकर द्रव को नीचे ढुल-काना पडता है। क्रमाकुचन तरग फिर द्रव को ग्रासनली के नीचे ले जाती है।

आमाशय की गतिया—प्रायोगिक जन्तुओ मे पाचन-क्षेत्र की गतियो को प्रत्यक्ष निरीक्षण द्वारा देखा जा सकता है। मनुष्य के साथ ऐसा करना सम्भव नही है। इसे देखने का सबसे अच्छा ढग आहार के पाचन के दौरान आमाशय तथा आतो के एक्स-रे फोटोग्राफ लेना है। सम्बन्धित व्यक्ति को खिलाये गए भोजन मे ऐसे पदार्थ होते है, जो एक्स-किरणो के प्रति अपारदर्शी होते है (जैसे बेरियम लवण)। ये पदार्थ उन अगो की, जिनमे वे विद्यमान होते है, बाह्य रेखा को रेखाकित कर देते है।

इस तरीके द्वारा यह निर्धारित किया जा चुका है कि भोजन के प्रवेश के पहले आमाशय निष्क्रिय होता है, और फडस को छोडकर, जो गैस के कारण फैला हुआ होता है, इसकी गुहा अस्तित्वहीन होती है, क्योकि इसकी भित्तिया एक साथ सिकुडी हुई होती है। अन्दर आता हुआ भोजन अपने खुद के भार से भित्तियो को अलग कर देता है और नीचे की ओर चला जाता है। इसके कुछ ही बाद क्रमाकुचन तरग आमाशय के लगभग आधे निचले भाग से प्रारम्भ होती है और जठरनिर्गम क्षेत्र की ओर चली जाती है आमाशय-काय की अपेक्षा ये तरगे जठरनिर्गम क्षेत्र मे अधिक शक्तिशाली होती है और पाचन के साथ-साथ, ये तेज होती जाती है। जठरनिर्गम क्षेत्र मे तरग-पर-तरग आकर भोजन को मथती है, इसे और भी छोटे-छोटे टुकडो मे विभाजित करती है, जठर-रस के साथ इसे खूब मिश्रित करती है और इसे अर्ध तरलता की अवस्था मे ले आती है।

आमाशय से साधारण भोजन तीन से पाच घटो के भीतर पूरी तरह से निकल जाता है। हा, यह प्रक्रिया एकदम नही होती, बल्कि धीरे-धीरे होती है। हर थोडी अवधि के बाद थोडा-सा द्रव्य जठरनिर्गम से ग्रहणी मे धकेल दिया जाता है। आमाशय और क्षुद्रान्त्र को विभाजित करनेवाली जठरनिर्गम सवरणी प्रकटत हर समय ही खुली रहती है और छलनी का कार्य करती है। जब जठरीय अतर्वस्तुए सही तरलता की हो जाती है, तो वे आगे निकल जाती है। इस प्रकार आमाशय से द्रव बहुत जल्दी निकल जाते है (कुछ ही मिनटो मे)। भोजन के ठोस सरचको मे से कार्बोहाइड्रेट सबसे शीघ्रता से निकलते है। और फिर प्रोटीन तथा

ग्रसनी की पेशियाँ पूर्ण रूप से सिकुड़ जाती हैं और ग्रास ग्रासनली या ग्रसिका में धकेल दिया जाता है। ग्रास का नासा-गुहा, स्वरयंत्र या ग्रसिका के बजाय वापस मुँह में जाने से रोकने के लिए यहाँ महत्वपूर्ण प्रतिवर्ती क्रियाएँ आवश्यक होती हैं। भोजन मुँह में वापस नहीं आ सकता क्योंकि जिह्वा तालु से लगी उसी स्थिति में रहती है जिसमें वह पहली अवस्था में आई थी। यह ऊपर नासा-गुहा में भी नहीं जा सकता क्योंकि कोमल प्रतिवर्ती द्वारा तालु उठ जाता है और ग्रसनी को उस जगह पर बन्द कर देता है। और यह स्वर-यन्त्र में भी नहीं जा सकता क्योंकि प्रतिवर्ती पेशीय संकुचन इस भाग को ऊपर उठाकर जिह्वा और कण्ठच्छद के नीचे ले आता है। इसी समय स्वर रज्जु खिंचकर एक साथ हो जाते हैं और श्वसन अवरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार निगलन और श्वसन की क्रिया का एक ही साथ होना रोक दिया जाता है और निगला हुआ पदार्थ केवल एक ही जगह जा सकता है और वह है ग्रसिका।

ग्रसिका में क्रमाकुंचन—ग्रसिका में पहुँचने के बाद ग्रास क्रमाकुंचन या लहरी गति द्वारा नीचे भेजा जाता है। क्रमाकुंचन एक प्रकार की गति है जो पाचन क्षेत्र के अधिकांश भागों में व्याप्त है। इसमें संकुचन की एक तरंग उठती है और उसके एकदम बाद और पहले शिथिलन की तरंग उठती है। संकुचन क्षेत्र की भित्तियों की वृत्ताकार पेशी के कुंचन से उत्पन्न होता है। संकुचन के इस गतिमान वलय के आगे आया हुआ पदार्थ उसी की दिशा में धकेल दिया जाता है।

साधारणतया निगलने की हर क्रिया क्रमाकुंचन की एक प्रतिवर्ती तरंग उत्पन्न करती है जो ग्रासनली की पूरी लम्बाई में फैल जाती है। जिह्वा के मूल या ग्रसनी की बाहरी भित्ति का यांत्रिक उद्दीपन तुरन्त ही ऐसी तरंग पैदा कर देता है। मस्तिष्क की अन्तस्था में स्थित निगलन के केन्द्र को संवेदी तन्त्रिकाएँ संवेग भेजती हैं जो प्रेरक तन्त्रिकाओं द्वारा उन्हें पुनः ग्रसिका की भित्ति की वृत्ताकार पेशी को प्रेषित कर देता है। क्रमाकुंचन तरंग ग्रास-नली की दीवार के फैलने से भी प्रतिवर्ती रूप से उत्पन्न की जा सकती है। कोई ग्रास जो एक ही क्रमाकुंचन तरंग द्वारा ग्रास नली की पूरी लम्बाई पार नहीं कर सकता, इस प्रकार द्वितीयक तरंग उत्पन्न कर सकता है। हर क्रमिक तरंग द्वारा यह आमाशय के अधिक निकट ले जाया जाता है।

ग्रसिका के ऊपरी दो तिहाई भाग में क्रमाकुंचन उन वागी तन्त्रिकाओं की अखण्डता पर निर्भर करता है जो उसकी भित्तियों की पेशी को सक्रिय करती हैं। निचले एक तिहाई भाग में चिकनी पेशी होती है जिसकी क्रिया भित्तियों के भीतर स्थित तन्त्रिकाओं द्वारा नियन्त्रित होती है।

ठोस या अर्धठोस भोजन मुख से आमाशय तक 6 से 7 सेकिण्ड में चला जाता है। क्रमाकुंचन तरंग ग्रसिका तथा आमाशय के मुहाने पर स्थित पेशीय वलय हृद् संवरणी तक ग्रास के पहले ही पहुँच जाती है। संवरणी जो कुंचित हो चुकी थी अब शिथिलित होती है और भोजन आमाशय में चला जाता है। द्रव

सवरणी मे एक सेकिंड से भी कम मे पहुच जाते है, क्योकि वे ग्रसनी मे दाव के साथ भेजे जाते है और ग्रसिका मे वे क्रमाकुचन क्रिया के बजाय गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से नीचे चलते चले जाते है। द्रव तबतक हृद्-सवरणी के ऊपर ही एकत्रित रहता है जब तक कि क्रमाकुचन तरग, जो अपेक्षाकृत धीमी चाल से आती है, सवरणी तक आकर उसे शिथिलित नही कर देती।

जो पशु उपर्युक्त ढग से द्रवो को निगलते है, वे सिर नीचा रहने पर भी द्रव पी सकते है, क्योकि वे द्रव को गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध भी ग्रासनली मे धकेल सकते है। कुछ पक्षियो मे द्रव को ग्रास-नली मे नही धकेला जा सकता। इसलिए इन पक्षियो को द्रव को ग्रास-नली मे पहुचाने के लिए सिर उठाकर द्रव को नीचे ढुलकाना पडता है। क्रमाकुचन तरग फिर द्रव को ग्रासनली के नीचे ले जाती है।

आमाशय की गतिया—प्रायोगिक जन्तुओ मे पाचन-क्षेत्र की गतियो को प्रत्यक्ष निरीक्षण द्वारा देखा जा सकता है। मनुष्य के साथ ऐसा करना सम्भव नही है। इसे देखने का सबसे अच्छा ढग आहार के पाचन के दौरान आमाशय तथा आतो के एक्स-रे फोटोग्राफ लेना है। सम्बन्धित व्यक्ति को खिलाये गए भोजन मे ऐसे पदार्थ होते है, जो एक्स-किरणो के प्रति अपारदर्शी होते है (जैसे बेरियम लवण)। ये पदार्थ उन अगो की, जिनमे वे विद्यमान होते है, वाह्य रेखा को रेखाकित कर देते है।

इस तरीके द्वारा यह निर्धारित किया जा चुका है कि भोजन के प्रवेश के पहले आमाशय निष्क्रिय होता है, और फडस को छोडकर, जो गैस के कारण फैला हुआ होता है, इसकी गुहा अस्तित्वहीन होती है, क्योकि इसकी भित्तिया एक साथ सिकुडी हुई होती है। अन्दर आता हुआ भोजन अपने खुद के भार से भित्तियो को अलग कर देता है और नीचे की ओर चला जाता है। इसके कुछ ही वाद क्रमाकुचन तरग आमाशय के लगभग आधे निचले भाग से प्रारम्भ होती है और जठरनिर्गम क्षेत्र की ओर चली जाती है आमाशय-काय की अपेक्षा ये तरगे जठरनिर्गम क्षेत्र मे अधिक शक्तिशाली होती है और पाचन के साथ-साथ, ये तेज होती जाती है। जठरनिर्गम क्षेत्र मे तरग-पर-तरग आकर भोजन को मथती है, इसे और भी छोटे-छोटे टुकडो मे विभाजित करती है, जठर-रस के साथ इसे खूब मिश्रित करती है और इसे अर्ध तरलता की अवस्था मे ले आती है।

आमाशय से साधारण भोजन तीन से पाच घटो के भीतर पूरी तरह से निकल जाता है। हा, यह प्रक्रिया एकदम नही होती, बल्कि धीरे-धीरे होती है। हर थोडी अवधि के वाद थोडा-सा द्रव्य जठरनिर्गम से ग्रहणी मे धकेल दिया जाता है। आमाशय और क्षुद्रान्त्र को विभाजित करनेवाली जठरनिर्गम सवरणी प्रकटत हर समय ही खुली रहती है और छलनी का कार्य करती है। जब जठरीय अन्तर्वस्तुए सही तरलता की हो जाती है, तो वे आगे निकल जाती है। इस प्रकार आमाशय से द्रव बहुत जल्दी निकल जाते है (कुछ ही मिनटो मे)। भोजन के ठोस सरचको मे से कार्बोहाइड्रेट सबसे शीघ्रता से निकलते है। और फिर प्रोटीन तथा

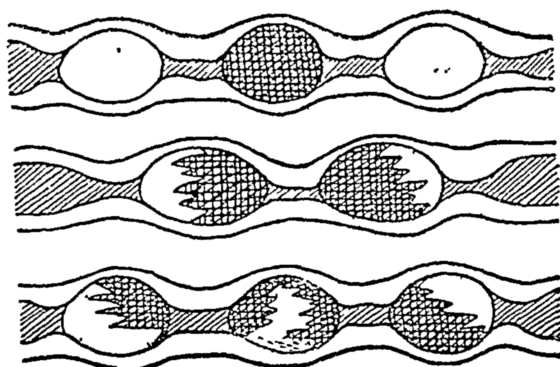
अत म बनाए। बसाए खास तौर से जठरीय सक्रिया का कम कर देती हैं जिसके कारण वसीय भोजन के पाचन मे अधिक समय लगता है।

आमाशय क खाली होने की अवधि पर दूसरे कारक भी प्रभाव डालते हैं। यदि ग्रहणी भरी हुई है तो आमाशय को खाली होने मे ग्रहणी क खाली रहने के समय लगनेवाले समय की अपेक्षा अधिक समय लगेगा। क्रमाकुंचन तरंग जितनी ही बलवान होगी, आमाशय उतनी ही जल्दी खाली हो जायगा। आमाशय म खाद्य भार की उपस्थिति उसकी भित्तियो को फैलाकर क्रमाकुंचन को बढा देती है। तन्त्रिकाओं के दो जोडे भी इस पर कुछ प्रभाव डालते है। इनको काट देने से आमाशय की क्रियाए नहा रुकनी जिसके कारण भित्तियो के भीतर स्थित तन्त्रिकायिक जाल बाहरी तन्त्रिकाओं से अधिक आवश्यक लगता है। फिर भी य तन्त्रिकाएं जब उपस्थित होती ह और उत्तेजित की जाती है ता एक जोडा (वागी तन्त्रिकाए) आमतौर पर क्रमाकुंचन को बढा या आरम्भ कर देता है जब कि दूसरा उसे अवरुद्ध या धीमा करता है। व्यायाम से जठर चलता सामान्यत कम हो जाती है।

क्षुद्रान्त्र की गतिया—जब जठरीय अंतवस्तुए अन्त्र म प्रवेश करती हैं तो क्रमाकुंचन तरंगें उन्हे आगे परिचालित करती जाती हैं। अधिकांशतया ये तरंग धीमी गति मे चलती है और थोडी ही दूर तक जाती हैं। कभी-कभी तेज तरंगें भी आती हैं जो कुछ अधिक दूर तक जाती हैं। ये तरंगें क्रमाकुंचन वेग या झोंका कहलाती है। अंतवस्तुए बडी धीमा रफ्तार से क्षुद्रान्त्र की 20 फुट की लम्बाई को पार करती हुई आगे बढ़ती हैं।

यहा पर एक और प्रकार की गति प्रमुख है—ताल उपखंडन। यह अन्त्र भित्ति का वृत्ताकार पेशी के खंडो के नियमित समयान्तर पर तेज प्रकुंचन स उत्पन्न होता है। आस पास के खड एक के बाद एक कुंचित होते तथा शिथिल होत हैं जैसाकि आकृति 17 म दिखाया गया है जिसस भोजन और पाचक रस अच्छी तरह मिल जात हैं। आन्त्रिक अंतवस्तुओ तथा श्लेष्मा के मध्य घनिष्ठ सपर्क का कारण भी तालबद्ध उपखंडन ही है जिसस पचित पदार्थों का अवशोषण सभव होता है। साधारण घटनाक्रम म तालबद्ध उपखंडन एक अवधि के लिए आन्त्रिक वृत्त म चलता है और फिर क्रमाकुंचन तरंग भोजन का आगे बढा देती है। यही क्रम बार बार दुहराया जाता है।

बाह्य तन्त्रिकाओ के दो जोड आन्त्रिक चलता का उसी प्रकार सुधार देत हैं जिस प्रकार उनके समान तन्त्रिकाएं आमाशय म करती हैं। क्रमाकुंचन बनाए रखने क लिए य तन्त्रिकाएं आवश्यक नहीं हैं जो प्रत्यक्षत अन्त्र भित्तियो के भीतरी तन्त्रिका-जाल स नियन्त्रित होता है। औषधियो द्वारा इन जालो के निश्चेष्ट कर दिए जाने पर भी तालबद्ध उपखंडन होता है। इसस यह निष्कर्ष निकलता है कि यह गति आन्त्रिक चिकनी पेशी का निहित गुण धर्म होता चाहिए। आन्त्र गतियो क लिए सामान्य उद्दीपन आन्त्रिक अंतवस्तुओ द्वारा इसकी दीवारो का



आकृति 17—क्षुद्रात्र मे तालबद्ध उपखडन आन्त्रिक अतवस्तुओ के मिश्रण की ओर ध्यान दीजिए।

फैलाव है।

वृहदत्र की गतिया—आन्त्रिक अतर्वस्तुए वृहदत्र मे प्रवेश करने के समय भी अर्ध-तरल अवस्था मे ही होती है। यहा मथने की कुछ ऐसी क्रियाए होती है जो जल के अवशोषण मे सहायता देती है। आहार-नाल के इस भाग मे अधिकाश समय क्रियाए प्राय नही के वरावर ही होती है। दिन मे दो-या-तीन वार एक तीव्र क्रमाकुचन तरग वृहदत्र के एक खासे भाग मे दौड जाती है। यह गति क्षुद्रात्र के क्रमाकुचन वेग से अधिक तीव्र, किन्तु उसी के समान होती है। यह गति सामूहिक क्रमाकुचन कहलाती है। और आहार को वृहदत्र के निचले भाग मे ले जाती है। आमाशय मे आहार का प्रवेश सामूहिक क्रमाकुचन के लिए उद्दीपन का काम करता है। नाश्ते के वाद शौच की इच्छा सामान्य अनुभव है और यह वहुत करके इसी प्रतिवर्त का परिणाम है।

आन्त्रिक अतर्वस्तुओ को आत्रो मे से वाहर आने मे वारह घटे लगते है। वे आमतौर पर निष्कासन से पहले वृहदत्र के अतिम भाग मे कोई चौवीस घटे और रहते हे तथा खाये हुए भोजन के गुण उसके अत्रो से वाहर आने की अवधि पर प्रभाव डाल सकते है। व्यायाम और भावात्मक अवस्थाए आमतौर पर आन्त्रिक क्रियाशीलता को बढा देती है।

मलोत्सर्ग—शौच की इच्छा वृहदत्र से मल के मलाशय मे आने के कारण उत्पन्न होती है। इसके वाद एक तीव्र क्रमाकुचन तरग वृहदत्र से होकर मलाशय की तरफ उतर जाती है, अनुदैर्घ्य पेशी कुचित होती, है, जिससे अत्र छोटी हो जाती है और गुद-सवरणी शिथिलित हो जाती है। इन क्रियाओ के फलस्वरूप मल गुदा द्वारा वाहर निकाल दिया जाता है।

जोर डालने की ऐच्छिक क्रिया प्राय मलोत्सर्ग मे सहायक होती है। एक गहरा प्रश्वास लिया जाता है, मध्यच्छद नीचे उतरता है और स्वर-तन्तुओ को एक साथ खीचकर श्वसन-मार्ग को वन्द करके श्वास रोक ली जाती है। उदर-पेशिया

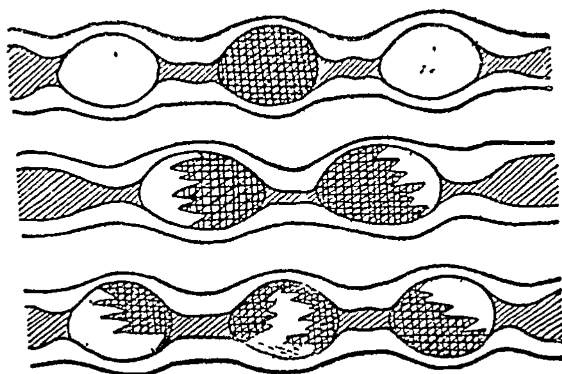
मन में बनाए। वसाएं खास तौर से जठरीय गतियों को कम कर देती हैं जिसके कारण वसीय भोजन के पाचन में अधिक समय लगता है।

आमाशय के खाली होने की अवधि पर दूसरे कारक भी प्रभाव डालते हैं। यदि ग्रहणी भरी हुई है तो आमाशय का खाली होना ग्रहणी के खाली रहने के समय लगनेवाले समय की अपेक्षा अधिक समय लगेगा। क्रमाकुंचन तरगें जितनी ही बलवान होंगी आमाशय उतनी ही जल्दी खाली हो जायगा। आमाशय में खाद्य भार की उपस्थिति उसकी भित्तियों को फैलाकर क्रमाकुंचन को बढ़ा देती है। तन्त्रिकाओं के दो जोड़े भी इस पर कुछ प्रभाव डालते हैं। इनको काट देने से आमाशय की क्रियाएं नहीं रुकतीं जिसके कारण भित्तियों के भीतर स्थित तन्त्रिकीय जाल बाहरी तन्त्रिकाओं से अधिक आवश्यक लगता है। फिर भी ये तन्त्रिकाएं जब उपस्थित होती हैं और उद्दीपित की जाती हैं तो एक जोड़ा (वेगी तन्त्रिकाएं) आमतौर पर क्रमाकुंचन को बढ़ा या आरम्भ कर देता है जब कि दूसरा उसे अवरुद्ध या धीमा करता है। व्यायाम से जठर चरता सामान्यतः कम हो जाती हैं।

क्षुद्रान्त्र की गतियां—जब जठरीय अन्नवस्तुएं अन्त्र में प्रवेश करती हैं तो क्रमाकुंचन तरंगें उन्हें आगे परिचालित करती जाती हैं। अधिकांशतया ये तरंगें धीमी गति से चलती हैं और थोड़ी ही दूर तक जाती हैं। कभी-कभी तेज तरंगें भी आती हैं जो कुछ अधिक दूर तक जाती हैं। ये तरंगें क्रमाकुंचन वेग या झंझा कहलाती हैं। अन्नवस्तुएं बड़ी धीमी रफ्तार से क्षुद्रान्त्र की 20 फुट की लम्बाई को पार करती हुई आगे बढ़ती हैं।

यहां पर एक और प्रकार की गति प्रमुख है—ताल उपखंडन। यह अन्त्र भित्ति की वृत्ताकार पेशी के खंडों के नियमित समयान्तर पर तेज प्रकुंचन से उत्पन्न होती है। पास पास के खंड एक के बाद एक कुंचित होने तथा शिथिल होते हैं जैसा कि आकृति 17 में दिखाया गया है जिससे भोजन और पाचक रस अच्छी तरह मिल जाते हैं। आन्त्रिक अन्नवस्तुओं तथा श्लेष्मा के मध्य घनिष्ठ संपर्क का कारण भी तालबद्ध उपखंडन ही है जिससे पचित पदार्थों का अवशोषण संभव होता है। साधारणतः घण्टाक्रम में तालबद्ध उपखंडन एक अवधि के लिए आन्त्रिक वृत्त में चलता है और फिर क्रमाकुंचन तरंग भोजन को आगे बढ़ा देती है। यही क्रम बार बार दुहराया जाता है।

बाह्य तन्त्रिकाओं के दो जोड़े आन्त्रिक चरता को उसी प्रकार सुधार देते हैं जिस प्रकार उनके समान तन्त्रिकाएं आमाशय में करती हैं। क्रमाकुंचन बनाए रखने के लिए ये तन्त्रिकाएं आवश्यक नहीं हैं, जो प्रत्यक्षतः अन्त्र भित्तियों के भीतरी तन्त्रिका-जाल से नियन्त्रित होता है। औषधियों द्वारा इन जालों के निश्चेष्ट कर दिए जाने पर भी तालबद्ध उपखंडन होता है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि यह गति आन्त्रिक चिकनी पेशी का निहित गुण ही होना चाहिए। आन्त्र गतियों के लिए सामान्य उद्दीपन आन्त्रिक अन्नवस्तुओं द्वारा इसकी दीवारों का



आकृति 17—क्षुद्रान्त्र में तालबद्ध उपखंडन · आंत्रिक अंतवस्तुओ के मिश्रण की ओर ध्यान दीजिए।

फैलाव है।

वृहदंत्र की गतिया—आन्त्रिक अतर्वस्तुए वृहदंत्र मे प्रवेश करने के समय भी अर्ध-तरल अवस्था मे ही होती है। यहा मथने की कुछ ऐसी क्रियाए होती है जो जल के अवशोषण मे सहायता देती है। आहार-नाल के इस भाग मे अधिकाश समय क्रियाए प्राय नही के वरावर ही होती है। दिन मे दो-या-तीन वार एक तीव्र क्रमाकुचन तरग वृहदंत्र के एक खासे भाग मे दौड जाती है। यह गति क्षुद्रान्त्र के क्रमाकुचन वेग से अधिक तीव्र, किन्तु उसी के समान होती है। यह गति सामूहिक क्रमाकुचन कहलाती है। और आहार को वृहदंत्र के निचले भाग मे ले जाती है। आमाशय मे आहार का प्रवेश सामूहिक क्रमाकुचन के लिए उद्दीपन का काम करता है। नाश्ते के वाद शौच की इच्छा सामान्य अनुभव है और यह वहुत करके इसी प्रतिवर्त का परिणाम है।

आन्त्रिक अतर्वस्तुओ को आन्त्रो मे से वाहर आने मे वारह घटे लगते है। वे आमतौर पर निष्कासन से पहले वृहदंत्र के अतिम भाग मे कोई चौवीस घटे और रहते है तथा खाये हुए भोजन के गुण उसके अन्त्रो से वाहर आने की अवधि पर प्रभाव डाल सकते है। व्यायाम और भावात्मक अवस्थाए आमतौर पर आन्त्रिक क्रियाशीलता को वढा देती हैं।

मलोत्सर्ग—शौच की इच्छा वृहदंत्र से मल के मलाशय मे आने के कारण उत्पन्न होती है। इसके वाद एक तीव्र क्रमाकुचन तरग वृहदंत्र मे होकर मलाशय की तरफ उतर जाती है, अनुदैर्घ्य पेशी कुचित होती, है, जिससे अन्त्र छोटी हो जाती है और गुद-सवरणी शिथिलित हो जाती है। इन क्रियाओ के फलस्वरूप मल गुदा द्वारा वाहर निकाल दिया जाता है।

जोर डालने की ऐच्छिक क्रिया प्राय मलोत्सर्ग मे सहायक होती है। एक गहरा प्रश्वास लिया जाता है, मध्यच्छद नीचे उतरता है और स्वर-तन्तुओ को एक साथ खीचकर श्वसन-मार्ग को वन्द करके श्वास रोक ली जाती है। उदर-पेशिया

जोर के साथ कुचित होती हैं। मध्यच्छद के बलवान कुचन के साथ ही साथ उदर भित्ति का कुचन उदर गुहा और उसके अंगों के भीतर दाब बढ़ा देता है। मलाशय के भीतर दाब वृद्धि मल के निष्कासन में सहायक होती है।

मल का निर्माण—क्षुद्रान्त्र की अधतरल अन्तर्वस्तु बृहदन्त्र में जाने पर जल के अवशोषण के कारण भार में काफी कम हो जाती है। मल में अपचित या अपचनीय आहारावशेष (जैसे सेल्यूलोज) पाचक स्राव, बैक्टीरिया (जीवाणु) और स्खलित इपीथेलियल कोशिकाएं होती हैं। स्वस्थ मल में आहारावशेषों की मात्रा बहुत ही कम होती है। भुखमरी की अवस्था में भी मल बनता रहता है और उसकी संरचना सामान्य आहार करने के समय के मल की रचना से भिन्न नहीं होती। भूखे रहने के समय मल की मात्रा कम अवश्य हो जाती है लेकिन इस कमी का मुख्य कारण स्राव सक्रियता के उद्दीपन का अभाव ही है जो अन्त ग्रहीत भोजन द्वारा पैदा किया जाता है।

बृहदन्त्र में बैक्टीरिया उपस्थित रहते हैं। पित्तरजकों पर उनकी क्रिया ऐसे यौगिक उत्पन्न करती है जो मल को उसका विशिष्ट रंग प्रदान करते हैं। अन्य यौगिकों पर बैक्टीरियाई क्रिया दुर्गन्धपूर्ण तथा जहरीले पदार्थ उत्पन्न करती है। ये पदार्थ रुधिर में कभी-कभी ही इतनी मात्रा में अवशोषित हो सकते हैं कि जिससे कुछ हानि पहुंच सके अन्यथा ये मल के साथ ही देह से बाहर फेंक दिये जाते हैं।

अतिसार, कब्ज तथा विरेचन—यदि किसी कारण से बृहदन्त्र की अन्तर्वस्तु उसमें से ज्यादा तेजी के साथ निकल जाती है तो उसमें से जल समुचित मात्रा में अवशोषित नहीं हो पाता। अनियंत्रित और शीघ्रता से होनेवाली अन्त्र गतियों के कारण दस्त या अतिसार हो जाता है। इसके विपरीत धीमी अन्त्र क्रिया से मलबन्ध या कब्ज हो जाता है। इस अवस्था में आवश्यकता से अधिक जल अवशोषित हो जाता है और सूखा तथा कड़ा मल कठिनाई से उत्सर्जित हो पाता है। किसी देहीय दोष की अपेक्षा मल निष्कासन के ऐच्छिक निरोध की आदत रोकने से अधिक होता है। इस अवस्था में मलाशय अधिक मल को संचित करने की प्रवृत्ति बना लेता है और शौच की इच्छा दब जाती है। कब्ज को दूर करने के लिए शौच की नियमित आदत विरेचकों या इश्तहारी दवाइयों से अधिक कारगर होगी। विरेचकों का अत्यधिक उपयोग कब्ज को कम करने के बजाय बढ़ा देता है। यह ऐसी आदत डाल देता है कि आंतें अपनी गति के लिए किसी बाहरी सहायता की अपेक्षा करने लगती हैं। यदि कब्जियत पुरानी है तो नित्यप्रति औषधियों की अपेक्षा किसी चिकित्सक की सलाह अधिक लाभदायक होगी।

प्रतिक्रम गति या प्रतिक्रमाकुंचन—जैसा कि हम देख चुके हैं क्रमाकुंचन आहार-नाल में भोजन को ले जानेवाली एक तरंग गति है जो मुख से अन्त्र की ओर चलती है। सामान्यतः इसके विपरीत दिशा में चलनेवाली तरंगें भी

सकती हैं। उदर के दबाने (पट्टा कस लेने या पेट पर पत्थर रख लेने) या धूम्रपान, व्यायाम करने या ठंडे पानी से नहाने से भी इन टीसों को कम किया जा सकता है।

ये कुंचन किस कारण होते हैं यह बात बिलकुल भी साफ नहीं है न इस बात का ही पता चल सका है कि रिक्त आमाशय के क्रमाकुंचनीय कुंचन किस प्रकार चेतन्य संवेदनाएँ उत्पन्न करते हैं जब कि भोजन पाचन के दौरान इसी प्रकार के कुंचनों पर जरा भी ध्यान नहीं जाता।

क्षुधा एक भद्दी और कष्टदायी संवेदना है जो व्यक्ति को वंशानुक्रम से प्राप्त होती है और उसके अनुभावों से बदलती नहीं। इसके विपरीत भूख या बुभुक्षा खाने की इच्छा है जिसके साथ क्षुधा भी हो सकती है किन्तु यह क्षुधा जैसी चीज नहीं है। बुभुक्षा एक ऐसी संवेदना है जो व्यक्ति के अनुभव के द्वारा बदल सकती है और वंशानुगत नहीं होती। उदाहरण के लिए क्षुधा की तुष्टि के बाद भी हम खीर खाने की भूख हो सकती है।

भोजन का अवशोषण

पाचन की अंतिम उत्पाद—सरल शर्कराएं एमिनो अम्ल वसीय अम्ल, ग्लिसरोल—तथा भोजन के अन्य तत्व (जैसे विटामिन लवण तथा जल) तब तक निरर्थक हैं कि जब तक वे रुधिर में अवशोषित होकर देह भर की कोशिकाओं को नहीं पहुंचा दिए जाते।

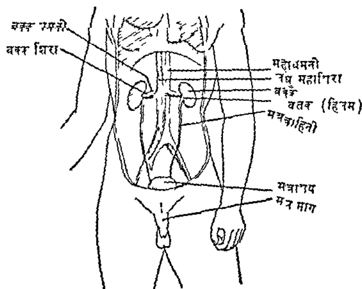
अधिकांश अवशोषण क्षुद्रान्त्र में होता है। इसमें अपवाद केवल आमाशय द्वारा एलकोहल के अवशोषण और बृहदान्त्र द्वारा जल कुछ अकार्बनिक लवणों और कभी-कभी ग्लूकोज के अवशोषण का है। आमाशय द्वारा ऐलकोहल का अवशोषण सुरायुक्त पेयों के शीघ्र प्रभाव के लिए उत्तरदायी है। बृहदान्त्र की ग्लूकोज अवशोषित करने की क्षमता का लाभ मलाशय पोषण के समय उठाया जाता है ग्लूकोज का विलय एनीमा द्वारा दिया जाता है और रुधिर में अवशोषित कर लिया जाता है।

क्षुद्रान्त्र की श्लेष्मा के अंगुलियों जैसे प्रवर्ध जिन्हें विलस (बहुवचन विलि) या रसांकुर कहते हैं (आकृति 15) ल्यूमेन में प्रक्षेपित रहते हैं और एक विस्तृत सतह को अवशोषण के लिए खुला रखते हैं। रसांकुरों (विलि) की ऊपर-नीचे और दाएं-बाएं की गतियां इनकी भित्तियों में की चिकनी पेशी द्वारा पैदा की जाती हैं। ये गतियां आहार को अन्न में मिश्रित करने के साथ-साथ उसके पाचन और पोषक पदार्थों के अवशोषण में भी सहायता देती हैं। प्रत्येक रसांकुर में एक धमनिका प्राप्त होती है और एक द्वारा लसीकावाहिका होती है। रसांकुर के उपकला में से गुजरने के बाद शर्कराएं और एमीनो अम्ल केशिकाओं में विसरित हो जाते हैं और रुधिर द्वारा ग्रहण कर लिए जाते हैं। वसीय अम्ल और ग्लिसरॉल उपकला में से गुजरते समय फिर से वसा में परि

अध्याय 6

उत्सर्जन-तन्त्र

उत्सर्जन या उत्सर्गी कार्य का सर्वांश तो नहीं पर अधिकांश गुर्दों या वृक्कों द्वारा किया जाता है। अन्य उत्सर्जक अंग फुफ्फुस या फेफड़े, त्वचा तथा बृहदन्त्र हैं। जैसा कि हम देख ही चुके हैं, फेफड़े कार्बन डाई आक्साइड तथा कुछ जल का उत्सर्जन करते हैं। त्वचा की स्वेद ग्रंथियां पानी तथा लवणों का उत्सर्जित करती हैं यद्यपि जैसा कि हम पन्द्रहवें अध्याय में देखेंगे, जल का यहां बहिष्करण देहीय ताप के नियमन के लिए उत्सर्जन से अधिक महत्त्वपूर्ण है। बृहदन्त्र का अस्तर ल्यूमन में कैल्शियम तथा लौह का उत्सर्जन करता है और इसके बाद ये लवण मल के साथ बहिष्कृत कर दिए जाते हैं। मल के अधिकांश अन्य अवयव उत्सर्गी उत्पाद नहीं माने जाते क्योंकि वे उपापचयी व्यर्थ पदार्थ नहीं हैं। तथापि पित्त रंजकों को उत्सर्जित पदार्थों में गिना जा सकता है क्योंकि वे यकृत् में हीमोग्लोबिन



आकृति 18—उत्सर्जन तन्त्र का आरेख

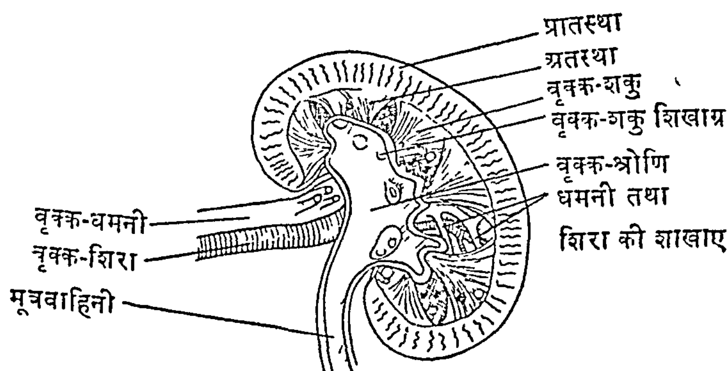
के उपघटन से उत्पन्न होते हैं। यहां यह उल्लेख कर देना चाहिए कि सीसा और पारा जैसी भारी धातुओं के शरीर में प्रविष्ट हो जाने पर लार ग्रंथियां उनके उत्सर्जन में सहायक होती हैं। शरीर में सीसे का विष फैल जाने पर मसूड़ों पर जो नीली धारी पड़ जाती है वह सीसक सल्फाइड के जमने के कारण बनती है। यह सीसक सल्फाइड लार में स्रवित सीसे के साथ दांतों की ऊपरी पपड़ी में

विद्यमान गधक की प्रतिक्रिया से बनता है।

उत्सर्जन से हमारा आशय रुधिर से कुछ विशेप कोशिकाओ द्वारा उपापचयी व्यर्थ पदार्थो का निष्कासन होगा। इसके वाद सहायक प्रक्रमो द्वारा देह अपने को इन व्यर्थ पदार्थो से मुक्त कर लेती है। उदाहरण के लिए, रुधिर मे पाये जाने-वाले कई व्यर्थ पदार्थो को निकालने का काम वृक्क करते है। ये व्यर्थ पदार्थ देह मे के पानी के साथ मिलकर मूत्र बनाते है, जो इसके बाद देह से मूत्रवाहिनी, मूत्राशय तथा मूत्रमार्ग द्वारा वाहर निकाल दिया जाता है (आकृति 18)।

मूत्र-तन्त्र का शारीर

वृक्क उदर-गुहा मे स्थित फली की शक्ल वाले दो अग है, जो मध्यच्छद के कुछ ही नीचे और उदर्या से एकदम लगे हुए ही है। यदि वृक्क को बीच से खडा काट दिया जाए, तो इसके द्रव्य की दो मुख्य परते दिखलाई पडती है (जैसा कि आकृति 19 मे दिखाया गया है)। वृक्क को अपने भीतर बन्द रखनेवाले सख्त सयोजी ऊतकीय आवरण के एकदम नीचे वाहरी परत प्रातस्था, वल्क या कॉर्टेक्स



आकृति 19—वृक्क तथा मूत्रवाहिनी की खड़ी काट

है। यह परत एक आतरिक परत—अतस्था या मेड्यूला—मे मिल जाती है, जो के आकार के कई खडो की वनी है। इन खडो को वृक्क-शकु कहते है। हर शकु शकु का शिखाग्र एक केन्द्रीय थैली मे जाता है, जिसे वृक्क-श्रोणि कहते है।

सूक्ष्मदर्शी परीक्षण मे पता चलता है कि वृक्क कई नलिकीय इकाइयो से मिलकर वनते है, जिन्हे 'वृक्काणु' या 'नेफ्रन' कहते है। हर नेफ्रन (वृक्काणु) एक केशिका-स्तवक सपुट के रूप मे आरम्भ होता है, जिससे एक लम्बी नली वाहर निकलती है। इस सपुट मे पतली, चपटी इपीथीलियम-कोशिकाओ की दो परते होती है, जो उसकी एक गुहा को परिवेष्टित किए रहती है। यह गुहा नलिका के ल्यूमेन के साथ जुडी रहती है। इस नलिका को कई स्पष्ट भागो मे विभाजित किया जा सकता है। सपुट से सीधा निकलनेवाला एक वडा मुडा-तुड़ा हुआ भाग

है जिसे निकटस्थ लहरदार नलिका' कहते है। इसके बाद हेनले पाश है और उसके बाद एक और मुडा तुडा हुआ भाग आता है जिसे दूरस्थ लहरदार नलिका कहते हैं। उसके बाद एक सग्राहक नलिका आती है जो इसी प्रकार की अन्य नलिकाओ से मिलकर बडी नलिया बनाती है और ये फिर वृक्क श्रोणि म जा गिरती है। यह सपुट और निकटस्थ तथा दूरस्थ लहरदार नलिकाए प्रातस्था म होती है हेनले पाश और सग्राहक नलिकाओ का अधिकाश भाग अतस्था मे है (आकृति 19)। प्रत्येक वृक्क म लगभग दस लाख वृक्काणु (नेफ्रन) होते हैं जिनम से सीधा करने पर प्रत्येक कोई दो इच लम्बा बठता है। वृक्क के सभी नेफ्रनो की सम्मिलित लम्बाई लगभग पतालीस मील है।

वृक्क की रुधिर सप्राप्ति के कई लक्षण मूत्र निर्माण म इसका काय समझने की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते हैं। वृक्क धमनी वृन्तक या हिलम के पास वृक्क म प्रवेश करती है (आकृति 18) और कई शाखाओ म विभाजित हो जाती है जो अतस्था से होती हुई अतत प्रातस्था म चली जाती हैं। प्रातस्था म की धमनिकाए निकलकर केशिका स्तवक सपुट म जाती है। इसके बाद हर धमनिका कई छोटे छोटे केशिका पाशो म विभक्त हो जाती है जो सपुट द्वारा निर्मित प्याले म चल जाते हैं। केशिकाओ का यह गुच्छ केशिका गुच्छ या केशिका स्तवक कहलाता है। हर केशिका पाश दूसरे से पृथक होता है और उसका किसी अन्य पाश से कोई सम्बन्ध नही होता। ये पाश फिर से सयुक्त होकर एक धमनिका का निर्माण करते हैं जो सपुट के बाहर जाकर फिर से कई केशिकाओ म विभक्त हो जाती है। ये केशिकाए नलिकाओ को रुधिर पहुचाती हैं। इसके बाद केशिकाए मिलकर छोटी छोटी शिराए बनाती हैं जो अत म वृक्क से हिलम या वृन्तक के पास निकलनेवाली एक बडी वृक्क शिरा म मिल जाती हैं।

मूत्रवाहिनी वह नली है जो मूत्र को वृक्क से मूत्राशय तक लाती है। मूत्रवाहिनी भित्तिया म मूत्राशय की भित्तियो के समान ही चिकनी पेशी की तीन परतें होती हैं। मूत्राशय एक बहुत ही फैल सकनेवाला खोखला अग है। मूत्राशय से मूत्रमार्ग नाम की एक और नली द्वारा मूत्र बाहर चला जाता है। पुरुषो म मूत्रमार्ग लिंग या शिश्न म होकर और स्त्रियो म भगद्वार के भीतर होकर जाता है।

मूत्र का निर्माण

मूत्र निर्माण पर गत बीस वर्षों म ही एक एसे सिद्धान्त का विकास हो सका है जो उससे सम्बद्ध अधिकतर ज्ञात तथ्यो की व्याख्या कर सकता है।

केशिका स्तवक सपुट का काय—वृक्क रुधिर-सप्राप्ति की शारीरिक विशेषताओ से और इस तथ्य से कि सपुट-केशिकाओ का आतरिक परत स्तवक केशिकाओ पर मुट्ठियो पर दस्ताने की तरह चुस्त बैठा होता है यह विचार बनता है कि केशिका-स्तवक से छनकर पदार्थ केशिका स्तवक सपुट म आते हैं।

केशिका-भित्तियो तथा सपुट-भित्तियो की कोशिकाए पतली तथा चपटी होती है। ये भित्तिया अपनी-अपनी गुहाओ को एक-दूसरे से पृथक् करती हैं। इस कारण अपने मे से होकर जानेवाले पदार्थो के छनन के लिए ये भित्तिया भली प्रकार अनुकूलित होनी चाहिए। यह वात, कि ऐसा ही होता है, निश्चित रूप से सिद्ध की जा चुकी है। अव यह ज्ञात हो चुका है कि स्तवक-केशिकाओ मे का अपेक्षाकृत ऊचा रुधिर-दाव पानी तथा उसमे घुले उन सभी सूक्ष्म पदार्थो को, जो इन भित्तियो को भेदकर जा सकते है, रुधिर से केशिका-स्तवक सपुट मे धकेल देता है। यह पाया गया है कि सपुट मे रुधिर-प्लाज्मा से मिलता-जुलता एक तरल होता है तथापि इस तरल मे प्रोटीन नही होते (जिनके अणु इतने वडे होते है कि झिल्लिया भेदकर नही जा सकते)।

वृक्क-नलिकाओ का कार्य—सपुट तरल की मूत्राशय के मूत्र से तुलना करने पर दोनो की रचना मे स्पप्ट विभिन्नताएं दृप्टिगोचर होती हैं। चूँकि मूत्र-वाहिनी और मूत्राशय मूत्र-वहन और सचय के अतिरिक्त और कुछ कार्य नही करते, इसलिए रचना मे परिवर्तन मूत्र के वृक्क-नलिकाओ मे से गुजरने के समय ही होने चाहिए। ऐसा अनुमान किया गया है कि प्रतिदिन लगभग 180 लिटर तरल वृक्को द्वारा छाना जाता है फिर भी एक औसत दिन मे लगभग केवल 1 या 2 लिटर मूत्र ही वाहर निकलता है। इससे यह स्पप्ट है कि जल का एक वहुत वडा भाग नलिकाओ मे रुधिर को वापस चला जाता होगा।

यहा दूसरे परिवर्तन भी होते है। प्लाज्मा और सपुट-तरल मे शर्करा (ग्लूकोज) होती है, मूत्र मे साधारणतया यह नही होती। इसके विपरीत, यूरिया (जो प्रोटीन-उपापचयन का व्यर्थ उत्पाद है), रुधिर की अपेक्षा मूत्र मे कही अधिक सान्द्रित होता है। रुधिर तथा सपुट-तरल के मुकावले मूत्र मे ठोस व्यर्थ पदार्थो के सान्द्रण मे परिवर्तन नलिकाओ मे ही होने चाहिए। नलिकाए जल और ठोस पदार्थ, दोनो को ही अवशोपित कर लेती होगी। तथापि, जैसा कि उपरलिखित उदाहरणो से प्रकट होता है, सभी ठोसो का समान अश मे ही पुनर-वशोपण नही होता। जहा शर्करा सामान्यत पूर्णत. अवशोपित हो जाती है, यूरिया का कही कम अश साधारणतया रुधिर को वापस जाता है।

कुछ अज्ञात गुणधर्मो के कारण नलिकाए ठोसो का वरणीय पुनरवशोपण करती है। कुछ ठोस उच्च-सीमा-पदार्थ कहलाते है, क्योकि नलिकाए उनके अपेक्षाकृत वडे सान्द्रणो को पुनरवशोपित कर सकती हैं। रुधिर मे उनका सान्द्रण नलिकाओ की अवशोपण-शक्ति से अधिक वढ जाने पर ही वे मूत्र मे प्रकट होगे। मिसाल के तौर पर, ग्लूकोज साधारणतया पूर्णत पुनरवशोपित हो जाता है। लेकिन यदि हम रुधिर मे ग्लूकोज का सान्द्रण सामान्य से अधिक कर दें, (मिठाई खाकर या ग्लूकोज का इजेक्शन देकर) तो उसकी अतिरिक्त मात्रा मूत्र मे 'छनक' जायेगी। अन्य ठोस निम्न-सीमा-पदार्थ होते है, अर्थात् मूत्र मे प्रकट होने के लिए, रुधिर मे उनका अपेक्षाकृत निम्न सान्द्रण ही काफी होता है। यूरिया

[illegible] ही पर्याप्त है। किन्तु [illegible] उपयोग में नहीं ला सकती [illegible] पदार्थों का [illegible] सीमा तक होता है। [illegible] उत्सर्जित कर दिए जाते हैं। [illegible] और यह रुधिर-अम्लता भी [illegible] रुधिर-अम्लता का [illegible] और उत्सर्जित कर दिए जाते हैं।

रुधिर आयतन का नियन्त्रण — [illegible] में रुधिर-स्राव कम होगा यह वहिका-स्रावक [illegible] में [illegible] वहिकाओं [illegible] होगी। यदि जल अधिक मात्रा में लिया जाता है तो इससे रुधिर आयतन बढ़ने लगता है। सामान्य रुधिर-स्राव तथा वहिका-स्रावक रुधिर-स्राव में वृद्धि से [illegible] की गति बढ़ जाती है परिणामस्वरूप निर्मित मूत्र का आयतन अधिक हो जाता है। तरल का प्रवेश कम कर दिया जाने पर या बुखार और निर्जलीकरण द्वारा की अवस्थाओं में उसके विपरीत क्रिया होती है और फलस्वरूप मूत्रप्रवाह कम हो जाता है। इस प्रकार एक बड़ी सीमा तक वृक्क का काम ही परिवहित रुधिर का आयतन नियन्त्रित करता है।

सामान्य से अधिक मात्रा में मूत्र का निष्कासन मूत्रता या डाईयूरेसिस और इसे उत्पन्न करनेवाला पदार्थ मूत्रल मूत्रवर्धक या डाईयूरेटिक कहलाता है। ग्लूकोज (बड़ी मात्रा में) और यूरिया मूत्रवर्धकों का काम करते हैं। एल्कोहल संभवतः [illegible] पुरस्थपीयूषिका को कम करके शक्तिशाली मूत्रवर्धक का काम करता है। कॉफी में उपलब्ध औषध कैफीन वृक्कों से रुधिर का प्रवाह बढ़ाकर मूत्रता उत्पन्न करती है।

मूत्रण—मूत्र अविरल रूप से धीरे धीरे तथा मूत्रवाहिनी की क्रमाकुंचन गतियों से मूत्राशय को जाता रहता है। जब मूत्राशय में मूत्र की मात्रा 300 घन सेंटीमिटर के लगभग हो जाती है तो मूत्राशय की दीवारों का फैलाव मूत्र उत्सर्जन की इच्छा उत्पन्न कर देता है। मूत्र उत्सर्जन की क्रिया मूलतः एक अचेतन प्रतिवर्त है लेकिन इसे स्वेच्छा से नियन्त्रित किया जा सकता है।

मूत्रण में निहित आवश्यक प्रतिवर्ती गतियाँ मूत्राशय की भित्तियों का कुंचन और मूत्रमार्ग के आसपास के भाग को घेरनेवाली संवरणी का शिथिलन है। मूत्राशय में काफी दाब उत्पन्न हो जाता है (जो जोर देने पर बढ़ाया जा सकता है) और मूत्र मूत्रमार्ग से बाहर निकाल दिया जाता है। संवरणी का कुंचन बनाए रखने पर मूत्रण का ऐच्छिक अवरोध किया जा सकता है।

अध्याय 7

कंकाल

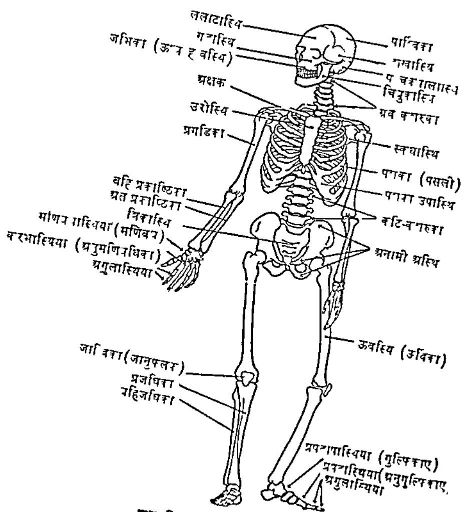
जन्तु-जीवन के निम्नतम स्वरूपो मे से कई ऐसे हैं जिनका कोई दृढ मरचक ढाचा ही नही होता। अकशेरुकियो या अकशेरुकदडियो—बिना रीढ के जतुओ—मे अगर ककाल होता भी है, तो वह देह के वाह्य भाग पर जमे एक सख्त वाहरी खोल का ही होता है। सीपो तथा घोघो के कवच तथा कीटो के सख्त वाह्यावरण ऐसे वाह्य ककालो के उदाहरण है। इन जन्तुओ के लिए वाह्य ककाल काफी है, किन्तु ये उन्हे देहीय आकार तथा गति की नम्यता—दोनो ही दृष्टियो से सीमित कर देते है।

कशेरुकदडियो, अर्थात् रीढवाले जन्तुओ के आन्तरिक कंकाल होते हैं, जो मछली से लेकर मनुष्य तक सभी जीवो मे मूलत· समान ही होते है। हा, जिन जन्तुओ के जीवन तथा सचलन के तरीके वहुत भिन्न है, उनमे विभिन्न रूपातर भी होते है। आतरिक ककाल मे वृद्धि की क्षमता होती है, इसलिए कशेरुकदडी आकार मे वहुत वडे भी हो सकते है (जैसे हाथी, व्हेल मछली या डाइनोसार)। विभिन्न अस्थियो के एक-दूसरे से जुडने के विभिन्न तरीको के कारण सचलन के विभिन्न प्रकार, और कुछ कशेरुकदडियो मे तो गति के खासे जटिल प्रकार (वन्दरो, वन-मानुषो तथा मनुष्यो मे हाथ, अगूठे तथा अगुलियो की गतिया) भी हो सकते है।

कंकाल की अस्थियां

कुछ मछलिया (शार्क और कुकुर मछली इत्यादि) के ककाल उपास्थि के वने होते है, अधिकाश कशेरुकदडियो की भाति मनुष्य का ककाल अस्थि का होता है। मानव-ककाल कपाल, करोटि या खोपड़ी कशेरुकदड (रीढ की हड्डी) या मेरुदड और उसके सयोजनो का वना होता हे। सयोजको मे पसलिया या पर्शुकाए, अस (कधे की) मेखला तथा श्रोणि (नितव) मेखला सम्मिलित है। मेखलाओ से शाखाए जुडी हुई हैं और उरोस्थि पसलियो से जुडी हुई है।

खोपडी कई जुडी हुई या सगलित हड्डियो की वनी है, जिनमे मे चलनेवाली हड्डी केवल निचला जवडा या चिवुकास्थि है। रीढ की हड्डी तेंतीस कशेरुको की शृखला हे। एक-दूसरे पर ठीक वैठी ये अपेक्षाकृत छोटी-छोटी हड्डिया एक ठोस आधार की वनी होती हैं, जिसके पृष्ठ भाग की ओर एक मेहराव होती है (आकृति 21)। कशेरुक मेहरावो के छिद्रो द्वारा निर्मित गुहा मे मेरु-रज्जु या रीढ रज्जु है। वक्र पसलियो के वारह जोड़े पीठ मे वक्षीय कशेरुको के साथ सधि वनाते है। पहले सात जोड़े सीधे-सीधे सामने की उरोस्थि से जुडे हुए है। आठवें से दसवें तक के जोडे पहले सातो जोडो से छोटे है और उपास्थि द्वारा सातवी पसली से



आकृति 20—कंकाल का रेखाचित्र

जुड़े हैं। इस प्रकार ये उरोस्थि से परोक्ष ही जुड़े हैं। ग्यारहवीं और बारहवीं पसलियां तैरती पसलियां कहलाती हैं क्योंकि उनका उरोस्थि से कोई संयोजन नहीं है।

दट के शाना और पग (कंधे का) मेखला में स्कंधास्थि या स्कपुला और हंसुली या अक्षक हैं। श्रोणि-मेखला में मूलतः दोनों तरफ तीन हड्डियां थीं। मनुष्य में इन तीनों का समूह अनामी नाम की एक हड्डी में संगठित हो गया है। प्रत्येक अनामी अस्थि त्रिक या त्रिकास्थि से जो पांच त्रिक कशेरुका के संगलन से बनता है जुड़ जाता है। त्रिक तथा अनामी हड्डियां सामूहिक रूप से श्रोणि प्रस्थ

कहलाती है।

वाहे और टागे भी इसी प्रकार वनी है। प्रत्येक के ऊपरी भाग मे एक-एक लम्वी हड्डी होती है, जिनके नाम क्रमश प्रगडिका तथा ऊर्वस्थि या ऊर्विका है। वाह के नीचे के भाग मे दो हड्डिया है, जिनमे वडी अत प्रकोष्ठिका और छोटी



आकृति 21—एक प्रतिरूप कशेरुका

वहि प्रकोष्ठिका है। टाग का निचला भाग इसी प्रकार प्रजघिका या अन्तर्जघिका और वहिर्जघिका से मिलकर वना है। कुछ छोटी हड्डिया मिलकर कलाई और टखना वनाती है, जिन्हे क्रमश मणिवधास्थिया या मणिवध और प्रपदोपास्थिया या गुल्फिकाए कहते है। हाथ के अधिकाश भाग मे अनुमणिवधिका या करभास्थिया होती है और पैर मे अनुगुल्फिकाए या प्रपदास्थिया। अगुलास्थिया अगुलियो और अगूठो की हड्डिया होती हे।

कंकाल के कार्य

ककाल का कार्य सरक्षण और सहारा देना है। हड्डियो की सधियो के प्रकारो से भी कई तरह की गतियो मे सहायता मिलती है। इन पर सोलहवे अध्याय मे विस्तार से चर्चा की जायेगी।

खोपडी (कपाल या करोटि) मस्तिष्क को पूर्णत ढाप लेती है और इसकी घनी जुडी हड्डिया भारी वाह्य प्रहारो को छोडकर शेष सभी आघातो से इसका समुचित रक्षण करती है। खोपडी हमारी कुछ महत्त्वपूर्ण ज्ञानेद्रियो की भी रक्षा करती है। नेत्र अस्थिमय कोटरो के काफी भीतर घुसे हुए है और ऊपर की अस्थिमय भ्रूओ से उन्हे अतिरिक्त सरक्षण मिलता है। भीतरी कान (जिनमे ध्वनि की ज्ञानेन्द्रिया स्थित है) खोपडी की शखास्थियो के भीतर होते है। गध और स्वाद की ज्ञानेन्द्रिया नासा और मुख-गुहाओ मे होती है और इन गुहाओ के चारो ओर की हड्डियो द्वारा रक्षित है। चेहरे की हड्डिया इसे इसका अपना ही लाक्षणिक रूप भी देती है।

मेरुदंड मेरुरज्जु को भीतर वन्द रखता और उसकी रक्षा करता है। यह देह को कुछ दृढ सहारा भी देता है। अपने शीर्ष पर यह खोपडी की गतियो मे सहायक होता है और वक्ष मे यह पसलियो के लिए एक सयोजक का काम देता है। अपने निचले सिरे पर यह श्रोणि-मेखला मे वैठ जाता है, जिससे इस क्षेत्र मे ऊपर की देह के लिए एक ठोस आधार वन जाता है। **अत के** चार कशेरुको मे

कविकसित या अनुचित बनती हैं, जिसका कार्य तो कुछ नहीं है पर जो उस पूंछ के अवशेष हैं जिसे हमने अपने विकासकालीन परिवर्धन के दौरान में गंवा दिया है।

वक्षीय कशेरुकों पसलियों और उरोस्थि द्वारा निर्मित पिंजड़ा हृदय और फेफड़ों को कुछ रक्षण प्रदान करता है। श्वसन के लिए आवश्यक गतियों के होने में भी इन हड्डियों का बड़ा महत्त्व है।

अंस मेखला मुख्यतः बाहु के संयोजन-स्थल का काम देता है। बाहु एक ऐसा अंग है जो पकड़ने, संतुलन करने और रक्षा करने के काम आता है। वानरों, वनमानुषों और मनुष्यों का उंगलियों के विरुद्ध रहनेवाला अभिमुखी अंगूठा एक महान् वैकासिक प्रगति है जो इन्हें वस्तुओं को इस तरह पकड़ने और व्यवहार में लाने की क्षमताएं प्रदान करता है जो इसके उदय के पूर्व कभी संभव नहीं थी।

श्रोणि मेखला टांगों के संयोजन स्थल का काम देने के अतिरिक्त उनमें देह का भार भी वितरित करती है। टांगें बाहों की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ ढंग से बनी होती हैं, और इसका उनके द्वारा वहन किए जानेवाले भार से सीधा संबंध है। ऊर्विकाओं और अंतर्जंघिकाओं द्वारा देह का भार पैरों की मेहरावों में वितरित हो जाता है। मेहराब फिर इस भार को एड़ियों और तलवों को बांट देते हैं जिससे शरीर के लिए अधिक सुदृढ़ आधार और अच्छा संतुलन मिलता है। स्त्रियों के ऊंची एड़ी के जूते चाहे सुन्दर लगें पर वे इस वितरण को बिगाड़ देते हैं और पैरों को जकड़ देते हैं। ऐसे जूतों के दीर्घकालीन उपयोग से पैरों के स्वाभाविक कार्य में गम्भीर दोष उत्पन्न हो सकते हैं।

हड्डी की संरचना

हड्डी मुख्यतया खनिज द्रव्य की बनी है। फिर भी हड्डी जैसे सख्त ऊतक में भी 25 प्रतिशत पानी होता है। लम्बी हड्डी को लम्बाई में फाड़ने पर हम उसकी गुहा के तल में भरी पीली मज्जा देख सकते हैं। सारा बाहरी भाग अस्थि ऊतक का बना होता है। लम्बी हड्डी के सिरों पर लाल रुधिर-कोशिकाएं बनानेवाली मज्जा हड्डी के पतले सूर्य जैसे टुकड़ों के बीच छितरी हुई होती है।

हड्डी के इस तल का सम्बन्ध में चलनेवाली छोटी नालों के चारों तरफ अस्थि ऊतक की परतें संकेन्द्रित वृत्तों में फैली रहती हैं। इन नालों में रुधिर-वाहिकाएं होती हैं। पोषक पदार्थ रुधिर से अस्थि-कोशिकाओं तक और भी छोटी-छोटी नालों के जाल द्वारा पहुंचाए जाते हैं। व्यर्थ पदार्थ इसका विपरीत दिशा में जाते हैं।

चपटी हड्डियों (जैसे पसलियों, खोपड़ी आदि की हड्डियों) की गुहाओं में केवल लाल मज्जा होती है। अन्यथा वे लम्बी हड्डियों की तरह ही होती हैं।

अध्याय 8

पेशी-तन्त्र

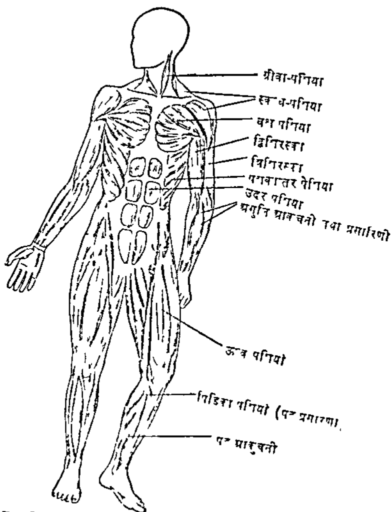
हृद-पेशी की क्रियाओ की तीसरे अध्याय मे हम पहले ही चर्चा कर चुके है और चिकनी पेशी के विभिन्न रूपो या अनैच्छिक सक्रियता का अध्ययन कर चुके है। चिकनी पेशी हृदय के अलावा अन्य आतरिक अगो की गतियो से सम्बन्धित है। इसके विपरीत ककाल-पेशिया या ऐच्छिक पेशिया ककाल की गतियो को, और कुछ मामलो मे त्वचा की गति को भी, सम्भव बनाती है।

चिकनी पेशी और कंकाल-पेशी

ककाल-पेशी का सम्बन्ध चूकि प्राथमिक रूप से देह को बाह्य वातावरण के अनुकूल बनानेवाली गतियो से है और चिकनी पेशी का कार्य आतरिक वातावरण के परिवर्तनो के अनुसार पेशीय गतिया करना है, इसलिए हम उनके शारीर तथा क्रियात्मक गुण-धर्मो मे भेद पाने की अपेक्षा कर और पा सकते है। उनके तत्रिका-सम्बन्धो मे भी अतर है। ककाल-पेशी की कोशिकाओ मे केवल एक तन्त्रिका-तन्तु होता है, जो उनका तन्त्रिका-भरण करता है जब कि चिकनी पेशी की कोशिकाए दो तत्रिका-तन्तुओ वाली होती है, जो उन्हे तत्रिकोत्तेजित करते है। ककाल-पेशी तन्त्रिका-सवेगो के आने पर कुचित होती है और उनकी अनुपस्थिति मे शिथिलित हो जाती हे। चिकनी पेशी एक प्रकार के तत्रिका-तन्तुओ द्वारा सवेग पाकर कुचित होती है और दूसरी प्रकार के तन्त्रिका तन्तुओ द्वारा सवेग पाकर शिथिलित होती है। ककाल-पेशी अपनी नियत्रक तन्त्रिकाओ की अनुपस्थिति मे स्वाभाविक रूप से कार्य नही कर सकती, लेकिन कुछ चिकनी पेशिया यह कर सकती है, जैसे आन्त्रिक रोमाकुर और तालबद्ध उपखडन करनेवाली पेशिया।

अन्य प्रकार के ऊतको की तुलना मे चिकनी और ककाल-पेशियो, दोनो की, ही विशेष लाक्षणिकता उनकी कुचनशीलता है। दोनो ही अधिकाश ऊतको की अपेक्षा अधिक सवेदनशील हे। ककाल-पेशी चिकनी पेशी की अपेक्षा विद्युत्-उद्दीपन के प्रति अधिक सवेदी है (इसे सक्रिय करने के लिए क्षीण धारा की ही आवश्यकता पडती है), इसके विपरीत चिकनी पेशी रासायनिक उद्दीपन के प्रति (मिसाल के लिए, चिकनी पेशी औषधो द्वारा अधिक सुगमतापूर्वक प्रभावित हो जाती है) सवेदी है।

ककाल-पेशी चिकनी पेशी की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से कुचित और शिथिलित होती है, जबकि चिकनी पेशी कंकाल-पेशी की अपेक्षा अधिक समय तक प्रकुचित अवस्था मे रह सकती है। बाह्य वातावरण मे आतरिक वातावरण की अपेक्षा अधिक शीघ्रतापूर्वक परिवर्तन होते हे और ऐसे परिवर्तनो के लिए प्राय



आकृति 22 पेशीतन्त्र का रेखाचित्र

गमनन भी इतना ही तेजी के साथ होता है। श्वास पेशियां जितनी शीघ्रता से अनुक्रिया करती हैं इस पर जीवन मरण निर्भर कर जाता है।

श्वकाल पेशी के प्रश्न तथा आचरण

जितना पेशी के बन्धन में गतिशील प्रश्नों के बारे में हम प्रायः कम हो जाता है इसलिए हम पेशी का बन्धन-तन्त्र की संक्षिप्त तरह ही जानते रहेंगे।

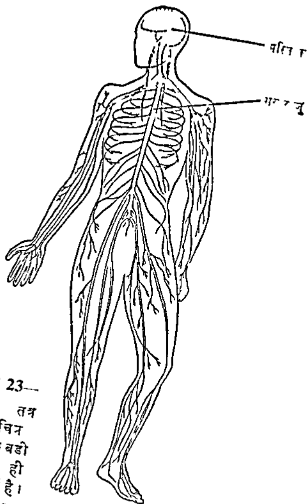
ककाल पेशी-कोशिकाए पृथक्-पृथक् तत्रिका-तन्तुओ द्वारा नही तत्रिकोत्तेजित होती। प्रत्युक्त एक-एक तन्त्रिका-तन्तु कई-कई शाखाओ मे विभक्त हो जाता है और अनेक पेशी-कोशिकाओ का तत्रिकोत्तेजन करता है (अनुपात 1 3 से लेकर 1 165 तक रहता है)। प्रेरक तंत्रिका-कोशिका तथा उसके द्वारा नियंत्रित पेशी-कोशिकाओ को सयुक्त रूप से प्रेरक इकाई कहते हैं। चूकि पेशियों मे हजारो पेशी-कोशिकाए हो सकती हैं, इसलिए अनेक तत्रिका-ततु अतर्ग्रस्त होते हैं और पेशी पर नियत्रण उतना ही अधिक सूक्ष्म होता है इस प्रकार उगलियो की गति को नियत्रित करनेवाली पेशिया वाह या पैरो की पेशियों की अपेक्षा अधिक तत्रिका-ततुओ द्वारा तत्रिकोत्तेजित होती हैं।

हर तत्रिका-ततु के अताग और उसकी पेशी-कोशिका के सगम पर पेशी-तात्रिक मेल नामका ऊतक का विशेपीकृत टुकडा दोनो को पृथक् करता है। यह दिखलाया जा चुका है कि प्रेरक तत्रिका के अताग पर पहुंचकर तत्रिका-सवेग ऐसीटिलकोलीन नामक द्रव्य की उन्मुक्ति करता है। यह द्रव्य पेशीतत्रिका-मेल मे एक वैद्युत परिवर्तन उत्पन्न कर देता है, जो मेल से पेशी-कोशिका पर फैल जाता है। वह 'पेशी-सवेग' उस ऊर्जा को उन्मुक्त कर देता है, जिससे पेशी कुचित हो जाती है।

यद्यपि पेशी सामान्यत केवल तत्रिका-सवेग द्वारा ही उत्तेजित होती है, तथापि यह दिखाया जा सकता है कि वह स्वत उत्तेजनशील भी होती है। पेशी का सीधा उद्दीपन उसे कुचित कर देता है। लेकिन इस वातको सिद्ध करने के लिए हमे यह सुनिश्चित कर लेना होगा कि पेशी का कुचन पेशी मे उपस्थित तत्रिका-तंतुओ के अतागो के उत्तेजन के कारण नही था। तत्रिका-प्रभाव दो प्रकार से दूर किया जा सकता है—तत्रिका को काटकर उसे अपक्षयित होने दिया जाये, या फिर प्रायोगिक जन्तु के रुधिर मे क्यूरेयर नामक औपधि इजेक्ट कर दी जाये। वह औषध पेशीतत्रिका-मेलो को निश्चेष्ट करके तत्रिका से पेशी-कोशिकाओ को सवेगो का मार्ग वद कर देती है। इन दोनों मे से किसी भी प्रक्रिया के वाद पेशी का उद्दीपन उसे कुचित करवा सकता है। तव वह स्वय ही उत्तेजनशील होनी चाहिए।

हम यह भी देखते हैं कि पेशी सभी प्रकार के उद्दीपनो (पर्यावरण मे परिवर्तनो)— वैद्युत, यात्रिक (चुटकना), ऊष्मीय (उसे गरम सलाख से छूना), या रासायनिक (उस पर कोई लवण रखना) के प्रति सवेदी है और उनकी अनुक्रिया करती है।

तथापि हम पाते हैं कि हर कोई उद्दीपन ऊतक को—खासकर पेशियो और तत्रिकाओ जैसे अत्यधिक उत्तेजनशील ऊतको को—सक्रिय नही करता। पर्याप्त होने के लिए उद्दीपन को कुछेक शर्तें पूरी करनी होगी। सबसे पहली यह कि उसे एक अल्पिष्ठ तीव्रता का होना चाहिए। उदाहरण के लिए, अत्यन्त क्षीण विद्युत-धारा प्रभावी नही होगी। फिर, उद्दीपन को एक अल्पिष्ठ अवधि तक वने रहना



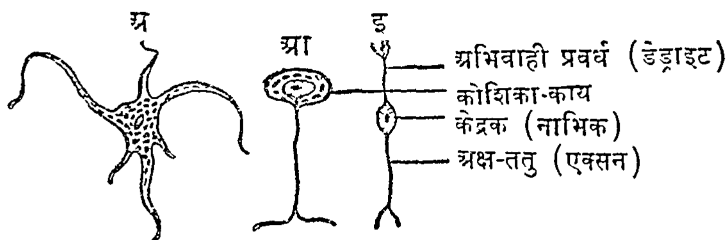
आकृति 23—तन्त्रिका तंत्र का रेखाचित्र केवल कुछ बड़ी तन्त्रिकाएं ही दिखाई गई हैं।

है। मान लीजिए कि ये पिन एक तन्त्रिका तंतु के क्रमिक बिन्दुओं के अनुरूप हैं। अब पहली पिन पर एक गेंद फेंकी जाती है और उसका आघात (उद्दीपन) इस पिन को गिरा देता है। गिरते गिरते पहली पिन दूसरी पिन को गिरा देती है दूसरी तीसरी को और इस प्रकार अन्त तक सभी पिन गिरती चली जाती हैं। पिनों के एक शृंखला में गिरने से उत्पन्न गति की यह अविरल तरंग तन्त्रिका आवेग के अनुरूप (वस्तुतः विद्युत धारा के समान अधिक) होगी। इस तरंग के संचरण के लिए अपनी अपनी बारी में हर पिन आवश्यक है।

तन्त्रिका को उत्तेजित कर सकने के लिए पर्याप्त उद्दीपन को पेशी के संबंध में वर्णित शर्तों को पूरा करना चाहिए। उसे एक न्यूनतम शक्ति का समुचित

अवधि तक चलनेवाला और शीघ्रतापूर्वक न्यूनतम तीव्रता पर पहुंच सकनेवाला होना चाहिए। यदि उसमे ये विशेषताए न हुई, तो तन्त्रिका उसकी अनुक्रिया नही करेगी।

देह मे तन्त्रिका-आवेग सामान्यत तन्त्रिका-तन्तु के एक छोर पर उत्पन्न होते है। मिसाल के तौर पर, न्यूरॉन का एक्सन कोशिका-काय से अपने निकास के विन्दु पर एक तन्त्रिका-आवेग ग्रहण करना है। इसके वाद यह आवेग केवल



आकृति 24—न्यूरॉनो के प्रकार (अ) कई प्रवर्ध वाला, (आ) एक प्रवर्ध वाला, (इ) दो प्रवर्ध वाला

एक दिशा मे ही जाता है। किन्तु यदि तन्त्रिका खुली हो, या किसी प्रयोगगत जन्तु की तन्त्रिका का एक लम्वा खड निकाल लिया गया हो, तो उसे किसी भी विन्दु पर सप्रभाव उद्दीपित किया जा सकता है। इस प्रकार उत्पन्न तन्त्रिका-आवेग तन्त्रिका-तन्तुओ के सहारे दोनो दिशाओ मे चले जायेगे।

तन्त्रिका इन वातो मे पेशी की तरह होती है कि वह भी विद्युत, यान्त्रिक, ऊष्मीय तथा रासायनिक उद्दीपनो की अनुक्रिया करती है। अधिकाश मामलो मे विद्युत-उद्दीपन ही सवमे अधिक महत्त्व के होते है। कभी-कभी अन्य प्रकार के उद्दीपन भी तन्त्रिका-आवेग उत्पन्न कर देते है। उदाहरण के लिए, कुहनी पर की 'कौतुकी अस्थि' (फनी वोन) पर आघात होने से जो अजीव-सी अनुभूति होती है, वह दाव द्वारा वाह मे की एक तन्त्रिका के उद्दीपन के कारण उत्पन्न होती है। देह मे सामान्य तन्त्रिका-आवेग सम्भवत विद्युतीय प्रकृति के वातावरणीय परिवर्तनो मे उत्पन्न होते है। इसलिए प्रयोगात्मक कार्यो के लिए कृत्रिम विद्युत-उद्दीपन प्राकृतिक उद्दीपनो के निकटतम रहते है। इसके अलावा विद्युत-उद्दीपन ऊतको को कम हानि भी पहुचाते है और अधिक सरलता तथा यथार्थतापूर्वक नियन्त्रित किए तथा मापे जा सकते है।

तन्त्रिका का अध्ययन करने के लिए उसकी क्रियाशीलता का अभिलेखन आवश्यक है। पेशी की क्रियाशीलता के अभिलेखन की अपेक्षा यह कार्य अधिक कठिन है, क्योकि सक्रिय तन्त्रिका मे चलती कोई चीज नही देखी जा सकती। कभी-कभी तन्त्रिका-उद्दीपन से जनित पेशीय कुचनो के अभिलेखन द्वारा हम तन्त्रिका के वारे मे सूचना प्राप्त कर सकते है। तथापि एक कही ज्यादा अच्छा

तरीका निकाला गया है जिसम बड सुग्राही तथा जटिल विद्युत उपकरण का उपयोग होता है। यह उपकरण तन्त्रिकाओ म होनेवाली अतीव सूक्ष्म घट-बढ को प्रवर्धित कर देता है जिससे उन्हे अभिलिखित किया तथा मापा जा सकता है। इस प्रकार के उपकरण के सशोधित स्वरूपो की सहायता स वस्तुत यह तक सभव हो जाता है कि तन्त्रिका आवेग को देखा और फिर उस फोटोग्राफित भी किया जा सकता है।

तन्त्रिका आवेग मूलत एक तन्त्रिका कोशिका तथा उसके भागो म उत्पन्न और उनके द्वारा सवहित एक विद्युत-तरग है। आवेगो क सचरण म तन्त्रिका तन्तु सक्रिय भाग लेता है। इसके साथ ही यह अपनी विश्राम की मूल अवस्था म लौट जान म भी सक्रिय भाग लेता है ताकि यह अन्य उद्दीपनो के प्रति भी सग्रहणशील रह सके। पूर्वावस्था प्राप्ति की यह प्रक्रिया इतनी तजी के साथ चलती है कि कुछ तन्त्रिका-तन्तु (दीर्घतम) 2000 प्रति सकड आवृत्ति तक के आवेगो का सचरण कर सकते है।

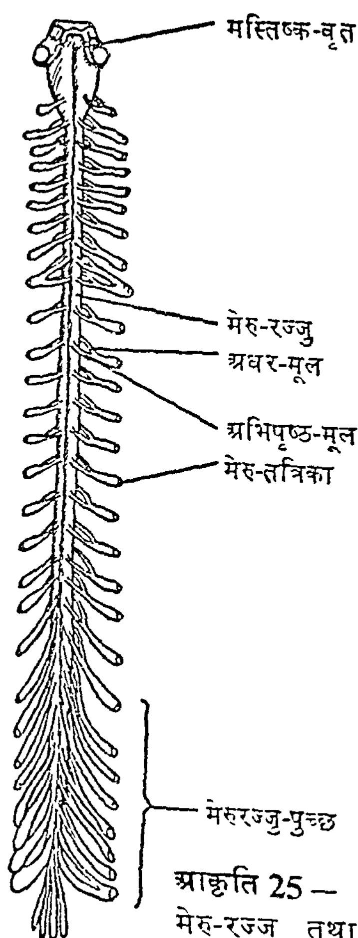
भिन्न भिन्न आकार के तन्त्रिका तन्तु आवेगो को भिन्न भिन्न अनुपातो म और विभिन्न सवहन गतियो स सवहित करते है। तन्तु जितना बडा होगा वह उतने ही अधिक आवेगो का सवहन कर सकता है और समय की एक दी हुई इकाई म वह उन्हे उतनी ही ज्यादा तेज़ी के साथ सवहित करेगा। मानव देह म आवेगो का सवहन सौ से दो सौ मील प्रति घटा तक की गतियो से होता है।

प्रतिवर्ती क्रिया और मेरु रज्जु

देह के अन्य तत्रो म होनेवाली सक्रियताओ के नियन्त्रण की चर्चा करते हुए हम प्रतिवर्ती क्रिया के अनेक उदाहरण देख चुके ह। अब हम प्रतिवर्ती क्रियाओ के शारीरीय आधार तथा प्रतिवर्तो के प्रकार तथा गुणधर्मो की अधिक सूक्ष्मता के साथ जाच कर सकते हैं।

मेरु रज्जु की सरचना—मेरु रज्जु अस्थिमय कशेरका म अच्छी तरह से बन्द है। पूछवाले केशरुकदडियो (कुत्ता बिल्ली इत्यादि) म मेरु रज्जु सपूण मेरुदण्ड मे फली रहती है लकिन बिना पूछवालो (मनुष्य मनुष्य बन्दर आदि) म यह कुछ छोटी होती है। मनुष्य म यह दूसर कटि-कशेरुक के निकट समाप्त होती है (यह कशेरुक वक्षीय प्रदेश के नीचे दूसरा कशेरुक है)। ऊपरी सिरे पर मेरु रज्जु मस्तिष्क म विलीन हो जाती है।

देह से निकाल देने पर या उघाडने पर मेरु रज्जु एक लबे सफेद सिलिंडर या बेलन जसी नज़र आती है (आकृति 25) जो अनुप्रस्थ काट म अडाकार है। इसके आन्तिमखडीय विन्यास का प्रमाण इसके दोनो तरफ निकलनवाली तन्त्रिकाए हैं। मेरु-तन्त्रिकाओ के 31 जोडे होते हैं हर जोडा एक मेरु खड स निकलता है। लकिन रज्जु के खडो म आतरिक रूप स विभेद नही किया जा सकता। मेरु रज्जु के नीचे कई तन्त्रिकाए उतरती दिखाई देती हैं वे घोडे की

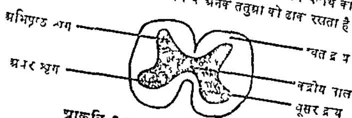


आकृति 25 — मेरु-रज्जु तथा उसकी तन्त्रिकाएं

पूंछ से मिलती-जुलती है, इसीलिए इस क्षेत्र को 'मेरु-रज्जु-पुच्छ' नाम दिया गया है।

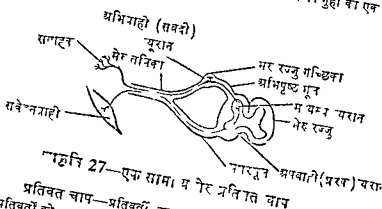
अधिक सूक्ष्म निरीक्षण से यह देखा जा सकता है कि मेरु-रज्जु से हर मेरु-तन्त्रिका दो समूहों में निकलती है—पीठ की ओर के अभिपृष्ठ-मूल और उदर की ओर के अधर-मूल। सौ साल से अधिक समय से यह ज्ञात है कि अभिपृष्ठ-मूलों में अभिवाही या संवेदी तन्त्रिका-तन्तु होते हैं (केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र में प्रवेश करनेवाले) और अधर-मूलों में अपवाही या प्रेरक तन्त्रिका-तन्तु होते हैं (केन्द्रीय तन्त्रिका-तंत्र से निकलनेवाले)। इस प्रकार प्रत्येक मेरु-तन्त्रिका में संवेदी और प्रेरक तन्तुओं का मिश्रण होता है। फिलहाल हमें यह ध्यान में रख लेना चाहिए कि प्रत्येक अभिपृष्ठ-मूल में एक उत्फुल्लन या उभार होता है, जिसे 'अभिपृष्ठ' या 'मेरु-रज्जु-गुच्छिका' कहते हैं।

मरु रज्जु के आरपार काटन पर अनुप्रस्थ काट म एक बाह्य ्वेत द्रव्य और आतरिक धूसर द्रव्य दिखलाई देता है (आकृति 26)। धूसर द्रव्य म ्यूराना तथा अमाइलिनित तन्त्रिका ततुआ की कोशिका काय होती है। ्वेत द्रव्य म केवल तन्त्रिका ततु होत हैं। ्वेत रग दूधिया सफे् रग क एक वसीय प्दाथ का उपस्थिति क कारण होता है जो इस प्रदे् क अनेक ततुआ को ढाक रखता है।



आकृति 26—मेरुरज्जु की अनुप्रस्थ काट

धूसर द्रव्य मोटे तौर पर अग्रजी वणमाला के एच (*H*) अक्षर के आकार का होता है। एच के ऊपरी सिरे अभिपृष्ठ शृग और नीचे क अधर शृग कहलाते हैं। रज्जु के मध्य क्द्रीय नाल ह जो के्द्रीय तन्त्रिका तन्त्र की गुहा का एक छोटा सा अवशेष है।



आकृति 27—एक सामान्य मेरु प्रतिवर्त चाप

प्रतिवत चाप—प्रतिवर्ती काय अनेक तन्त्रिका क्रियाओं के आधार हैं। प्रतिवर्तों को सभव बनानेवाली शारीरीय इकाई प्रतिवत चाप है (आकृति 27)। इसके पाच मुख्य भाग हैं—ग्रहीता या सग्राहक अभिवाही ्यूरान मध्यस्थ ्यूरान अपवाही ्यूरान और सवेदनग्राही। कोई भी ज्ञानेंद्रिय सग्राहक हो सकती है। सुगमता की दृष्टि स हम गरम अगीठी क स्प्श स उगली के प्रतिवर्ती सकुचन को उदाहरणस्वरूप ल सकत हैं। इसम सबद्ध सग्राहक त्वचा म स्थित ऊष्मा सग्राहक होंगे। ऊष्मा द्वारा उद्दीपित होन पर सग्राहक अभिवाही तन्त्रिका ततु द्वारा तन्त्रिका आवेगों का प्रेषित करता ह। इस ततु का कोशिका-काय एक अभिपृष्ठ गुच्छिका म स्थित होती है। य आवेग कोशिका-काय तक जाते हैं और फिर इसके अक्ल

प्रवर्ध की दूसरी शाखा द्वारा निकल जाते है। वे मेरु-रज्जु मे अधर-मूल द्वारा प्रवेश करते है। गुच्छिका-कोशिका का प्रवर्ध फिर धूसर द्रव्य के अभिपृष्ठ-शृग मे के मध्यस्थ-न्यूरॉन के अभिवाही प्रवर्धो से सपर्क स्थापित करता है। आवेग इन दोनो न्यूरॉनो के वीच का आवकाश भर देते है और मध्यस्थ न्यूरॉन को सक्रिय करते है और इस न्यूरॉनो के डेड्राइट (अभिवाही प्रवर्ध), कोशिका-काय तथा अक्ष-ततु पर होकर आवेग चलने लगते है। ये आवेग अधर शृग मे एक अपवाही न्यूरॉन के अभिवाही प्रवर्ध को सक्रिय करते है और नये आवेग उत्पन्न करते है, जो अपवाही न्यूरॉन कोशिका-काय पर होकर जाते है और मेरु-रज्जु को इसके अक्ष-ततु या अपवाही तत्रिका-ततु के मार्ग से छोड देते है। अपवाही तत्रिका-ततु अधर-मूल और मेरु-तत्रिका से होता हुआ पेशी तक जाता है। ये आवेग पेशी-तत्रिका मेलो को सक्रिय कर देते है (जैसा कि अध्याय 8 मे वताया गया है) और सवेदनग्राही (पेशी) की कोशिकाओ को कुचित कर देते है। इस प्रकार उगली खिच जाती है। एक सग्राहक के उद्दीपन का परिणाम किसी सवेदनग्राही अग की प्रतिवर्ती अनुक्रिया होता है और यह सारी क्रिया सामान्यत इसके वर्णन मे लगनेवाले समय से कही तेजी से सपन्न हो जाती है।

हमने अभी तत्रिका-तत्र की एक नई लाक्षणिकता देखी। तत्रिका-कोशिकाएं एक-दूसरी के साथ अविरल क्रम मे नही है। वरन् वे केवल सम्पर्क मे ही आती है। दो न्यूरॉनो के सपर्क का क्षेत्र 'अतर्ग्रथन' या 'सनेप्स' कहलाता है। अतर्ग्रथन के गुणधर्म भी लगभग वही है, जो पेशी-तत्रिका मेल के है।

ऊपर-वर्णित प्रतिवर्ती चाप एक सरल चाप है। अधिकाश प्रतिवर्तो मे अधिक जटिल चाप सन्निहित होते है, यह जटिलता अभिवाही और अपवाही न्यूरॉनो के वीच अधिक मध्यस्थ न्यूरॉनो के सम्मिलन से आती है। मेरु-रज्जु के एक ही खड के एक ही पार्श्व तक सीमित होने के वजाय तव प्रतिवर्ती चाप मे मेरु-रज्जु के दोनो पार्श्व सम्मिलित हो सकते है। और उनके एक से अधिक स्तर भी हो सकते है। फलत प्रतिवर्ती अनुक्रिया मे कई पेशिया सम्मिलित हो सकती है और कुछ सग्राहको के उद्दीपन से पेशीय कुचनो का जटिल स्वरूप उत्पन्न हो सकता है।

प्रतिवर्तो के प्रकार—सभी प्रतिवर्ती क्रियाए उद्दीपनो की अचेतन अनुक्रियाए है। प्रतिवर्तो के सामान्य उदाहरण 'घुटने का झटका', 'आकुचन' 'प्रतिवर्त' और 'अवातरित-विस्तार' प्रतिवर्त है। जव एक टाग दूसरी पर आडी रखी जाती है और ऊपर की टाग के घुटने की टोपी या जानु-फलक की कडरा पर आघात किया जाता है, तो वह टाग ऊपर की ओर झटक जाती है। घुटने का यह झटका निचली टाग को आगे वढानेवाली पेशी की कडरा मे सग्राहको के खिचाव से उत्पन्न उद्दीपन के कारण पैदा होता है। आकुचन-प्रतिवर्त त्वचा के पीडादायी उद्दीपन से उत्पन्न प्रतिवर्त है। उदाहरण के लिए, कील पर पैर पड जाने की आपकी अनुक्रिया होगी आपकी टाग का मुडना और उस पीडा देनेवाले उद्दीपन

से उसे हटा लेना। इस प्रतिवर्त का सामान्यतः एक सहगामी प्रतिवर्त प्रवातस्ति विस्तार प्रतिवर्त है। एक पैर के पीड़ादायी उद्दीपन से वह टांग खिंच जाती है और इस अनुक्रिया के साथ साथ दूसरी टांग आगे आ जाती है। इन परिस्थितियों में अपना संतुलन बनाए रखने में यह प्रतिवर्त एक प्रकट सहायता है।

प्रतिवर्तों का कई प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है। अपने उद्गम के अनुसार वे या तो वंशागत है या अनुभव द्वारा उपार्जित है। ऊपर दिए सभी प्रतिवर्त वंशागत प्रतिवर्तों के उदाहरण है। क्रम विकास के दौरान उनके पथ स्थापित निर्धारित हुए है। प्रयोगगत जन्तु में मस्तिष्क के नष्ट कर दिये जाने के बाद भी इन सब प्रतिवर्तों को दर्शाया जा सकता है। 'उपार्जित' या अनुकूलित' अथवा औपाधिक प्रतिवर्त वे हैं, जो हम किसी कार्य के दोहराए जाने पर सीखते है। बाजा बजाते या टाइप करते समय उंगलियों की गति इत्यादि इसके उदाहरण हैं। चूंकि ये प्रतिवर्त मस्तिष्क के उच्चतम स्तरों के अधीन है इसलिए हम इनकी चर्चा आगे करेंगे।

वर्गीकरण का दूसरा ढंग जटिलता के अनुसार वर्गीकरण करना है। 'सरल प्रतिवर्त' वे है जिनमें एक अकेला पेशी एक अकेले उद्दीपन की अनुक्रिया करती है। घुटने का झटका इसका एक उदाहरण है। तथापि अधिकांश प्रतिवर्तों में एक से अधिक पेशियां सम्मिलित होती हैं इसलिए वे समन्वित प्रतिवर्त कहलाते है। उदाहरण के लिए टांग के आकुंचन प्रतिवर्त में एक टांग की पेशी का संकुचन (जो टांग को घुटने पर मोड़ता है) और उसी के साथ दूसरी टांग की पेशी का शिथिलन (जो टांग को घुटने से सीधा करता है) दोनों सम्मिलित हैं। प्रतिवर्त शृंखला समन्वित प्रतिवर्त ही है पर वे और भी अधिक जटिल होते हैं—यह प्रतिवर्त की एक शृंखला होती है जिसमें एक प्रतिवर्त अगले प्रतिवर्त के लिए उद्दीपन का कार्य करता है। गतियों का लयबद्ध क्रम जिससे हम चलते फिरते है एक शृंखला प्रतिवर्त है। बहुत से विस्तारित प्रवृत्तिजन्य वृत्तिक कार्य जैसे पक्षियों और मधुमक्खियों की गृहपरता (घर लौटकर आने की प्रवृत्ति) इसी वर्ग में के प्रतिवर्त है।

यदि प्रतिवर्तों को जन्म देनेवाले संग्राहकों के प्रकारों पर विचार किया जाय तो तीन प्रकार के प्रतिवर्त दृष्टिगोचर होते है। बाह्य संग्राहकों का उद्दीपन (ये संग्राहक देह के सतही प्रदेशों में होते है) बाह्य ग्राही या बाह्य संवेदी प्रतिवर्तों को उत्पन्न करता है जैसे पैर की त्वचा के पीड़ादायी उद्दीपन से उत्पन्न आकुंचन प्रतिवर्त। आंतरांगों के संग्राहक—अंतःसंग्राहक, 'अंतःग्राही' या अंतःसंवेदी प्रतिवर्त उत्पन्न करते है। परिवहन और वमन आदि प्रतिवर्त इस प्रकार के उदाहरण है। पेशियों, कंडराओं, संधियों और आभ्यन्तर कर्ण के कुछ भागों में स्थित एक और वर्ग में संग्राहक मध्यग्राहक उत्तेजक अथवा प्रतिवर्त उत्पन्न करते है। घुटने का झटका इसी प्रकार का प्रतिवर्त है।

प्रतिवर्त और मेरु रज्जु—प्रतिवर्त चाप की संरचना और उसकी कार्य प्रणाली के कारण अंतिम एवं प्रतिवर्ती परिणाम अनुक्रिया एवं अपवाहिका तंत्रिका के

उद्दीपन से जनित पेशीय अनुक्रिया से बहुत अधिक भिन्न होती है। प्रतिवर्ती अनुक्रिया अधिक देर के बाद आरम्भ होती है और अधिक देर तक चलती है, फिर भी दूसरे प्रकार की अनुक्रिया की अपेक्षा यह अधिक आसानी से अभिश्रात हो सकती है। काफी अलग-अलग सग्राहको से भी प्राय एक ही प्रतिवर्ती अनुक्रिया प्राप्त की जा सकती है।

प्रतिवर्ती अनुक्रिया के विशिष्ट गुण प्रतिवर्त चाप मे कोशिका-कायो और अतग्रंथनो की उपस्थिति के कारण ही होने चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि हम किसी पेशी को जानेवाली तन्त्रिका को एक अकेले उद्दीपन से उद्दीपित करे, तो हमे एक अकेली अनुक्रिया ही प्राप्त होती है—पेशी की एक साधारण धडक। यदि हम किसी सग्राहक को एक बार उद्दीपित करे, तो हम सामान्यत एक ऐसी प्रतिवर्ती पेशीय अनुक्रिया प्राप्त कर सकते है कि जिसकी प्रकृति पेशी को मरोडने की होगी। हुआ यह है कि प्रतिवर्त चाप की तत्रिका-भागो के विन्यास और कार्य की विशिष्टताओ के कारण एक अकेला प्रारभिक उद्दीपन प्रेरक तन्त्रिका पर आवेगो के एक प्रवाह मे परिवर्तित हो गया है।

इसके अलावा, न केवल प्रतिवर्ती उत्तेजन ही, वरन् प्रतिवर्ती अवरोधन भी हो सकता है। हम जानते है कि सामान्यत जब कोई पेशी कुचित होती है तो उसकी विरोधी पेशी को शिथिलित होना ही पड़ता है। इस प्रकार जब हम बाह मोडते है, तो न केवल कुचनशील पेशिया ही कुचित होती है, वरन् विस्तारिक पेशिया भी शिथिलित होती है। इसमे निहित उत्तेजन-अनुक्रिया प्रेरक न्यूरॉनो से एक आवेग-शृखला के विसर्जन द्वारा प्रतिवर्ती ढग से उत्पन्न होती है, अवरोधन अन्य प्रेरक न्यूरॉनो से आवेशो के विसर्जन के प्रतिवर्त द्वारा बद होने का फल होता है। हाल का प्रायोगिक कार्य यह इगित करता है कि पेशी-तत्रिका मेलो की ही भाति, अतग्रंथनो पर भी रासायनिक द्रव्य मुक्त होकर अगली कोशिका पर प्रभाव डालते है। निस्सदेह सिरो पर मुक्त हुए वे रासायनिक द्रव्य, जो न्यूरॉनो पर उत्तेजक प्रभाव डालते है, सिरो पर मुक्त हुए उन रासायनिक द्रव्यो से भिन्न होते है, जो अवरोधन उत्पन्न करते है। इन पदार्थो की सही प्रकृति क्या है, यह अभी निश्चित नही हो सका है।

केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र के अत्यधिक सख्यक न्यूरॉन अनेक पृथक्-पृथक् तथा अनेक ही अतस्सबन्धित प्रतिवर्ती पथो मे भी समावेशित होते है और ये हमारे द्वारा किए प्रतिवर्ती कार्यो की जटिलता के कारण होते है। मेरु-रज्जु कई प्रतिवर्ती उत्तेजनो और अवरोधनो का केन्द्र है। (यह नही भूलना चाहिए कि मस्तिष्क मे भी कई प्रतिवर्ती केन्द्र है)।

रज्जु का एक महत्त्वपूर्ण कार्य आगता सवेदी आवेगो का 'निर्वचन' करना, उन्हे समुचित प्रेरक न्यूरॉन पेशियो या प्रेरक न्यूरॉन ग्रथि-संयोगो को भेजना और इस प्रकार किन्ही उद्दीपनो के प्रति सहज समन्वित अनुक्रिया सुनिश्चित करना है। उपरोक्त को क्रियान्वित करना रज्जु के धूसर द्रव्य के न्यूरॉन का एक प्रमुख

काय है। दूसरा काय रज्जु या एक स्तर से दूसरे स्तर या और मस्तिष्क से तथा मस्तिष्क को आवेग को भेजना है। रज्जु के वन द्रव्य म समान गत या को जात और समान काय करनेवाले आवेगों का संचार करते तन्त्रिका-तन्तु गुच्छा या बडला म गुच्छित होते है। इस प्रकार मेर रज्जु एक निश्चित सबहन का काम भी करती है लेकिन जिन अतस्सम्बन्धो को य सयोग सभव बनाते हैं वे अनन्त हित क्रियाओ के समन्वय के लिए आवश्यक है।

स्वायत्त तन्त्रिका-तन्त्र

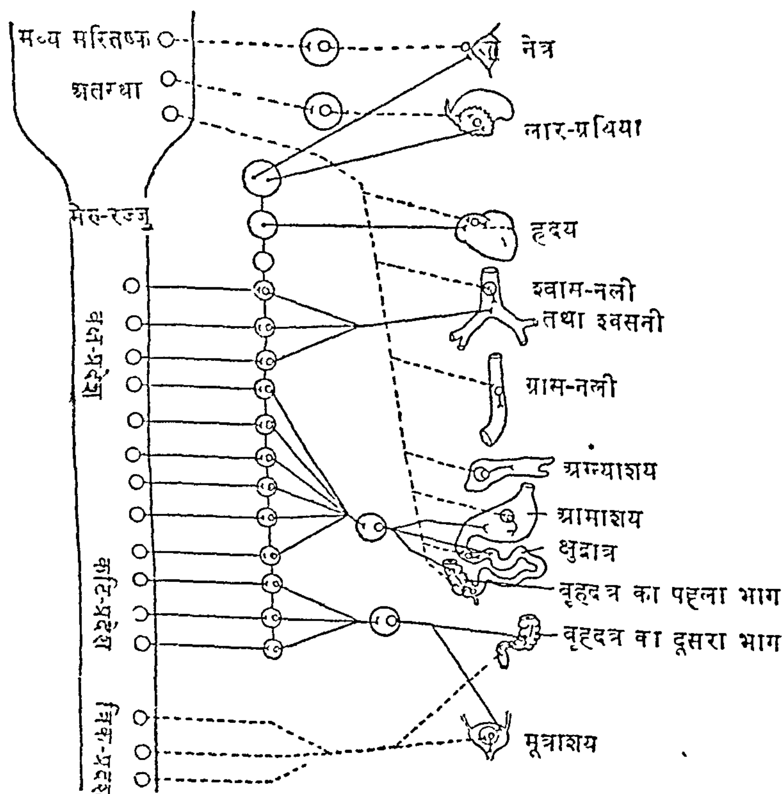
शारीरीय दृष्टि से स्वायत्त तन्त्रिका-तन्त्र परिधि-तन्त्रिका-तन्त्र का एक विशेष अग है। अतरागो की सक्रियताओ के स्वत नियत्रण स सम्बन्धित इस तन्त्र की तुलना दहिक अगो (मूलत ककाल पेशियो) को नियत्रित करनेवाले प्रतिवर्ती तन्त्र स की जा सकता है जिसका अभी ऊपर वर्णन किया गया है।

स्वायत्त तन्त्रिका तन्त्र की सरचना—सरचना और काय की दृष्टि स स्वायत्त तन्त्रिका-तन्त्र एक दुहरा तन्त्र है। इसक दोनो उपविभाग अनुकपी तथा 'परानुकपी या सहानुकपी तन्त्र कहलाते है। प्रत्यक तन्त्र प्रतिवर्तो के एक एक तन्त्र पर आधारित है जो दहिक अगो के कुछ भिन्न होता है।

अभिवाही न्यूरान बहुत कुछ उन न्यूरानो जस ही होते हैं जिनकी हम पहले चर्चा कर चुके हैं। *उनका प्रारम्भ विभिन्न अतराग क्षेत्रो म सग्राहको म होता* है और उनकी कोशिका-काय एक मेरु गुच्छिका म या मस्तिष्क के निकट स्थित एक गुच्छिका म रहती है। इसके बाद व कपाल तन्त्रिकाओ या अभिपृष्ठ मूलो से होकर मस्तिष्क या मेरु रज्जु म चल जाते है। केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र के भीतर *अनेक स्वायत्त प्रतिवर्तो के यथार्थ पथ बहुत स्पष्ट नही है।* अभिवाही न्यूरान या तो प्रत्यक्षत या कुछ मध्यस्थ न्यूरानो द्वारा स्वायत्त अपवाही न्यूरानो से सम्पर्क बनाते है। हमने जिन अन्य प्रतिवर्तो का अध्ययन किया है स्वायत्त प्रतिवर्त चाप मे उनसे भिन्न दो अपवाही न्यूरान होते हैं। इनम स पहला केन्द्रीय तन्त्रिका तन्त्र म पाया जाता है और यह अपना अक्ष-तन्तु (एक्सन) रज्जु या मस्तिष्क के बाहर स्थित एक गुच्छिका को भेजता है। इस कारण यह पुरोगुच्छिक न्यूरान कहलाता है। पुरोगुच्छिक अक्ष-तन्तु गुच्छिका म एक न्यूरान के साथ अतग्रथन करता ह जो अपना अक्ष तन्तु सवेदनग्राही (इफेक्टर) अग—चिकनी या हृद्-पेशी या किसी ग्रथि को भेजता ह। यह दूसरा अपवाही न्यूरान पश्च गुच्छिक न्यूरान ह।

अनुकपी तन्त्र—अनुकपी तन्त्र को कभी-कभी वक्ष कटि विभाग भी कहा जाता है क्योकि इसके पुरोगुच्छिक न्यूरान मेरु रज्जु के कटि और वक्ष-खडो क धूसर द्रव्य म स निकलते हैं। पुरोगुच्छिक अक्ष तन्तु रज्जु के अधर मूल पर निकलत है और फिर मूल स अलग हो जाते हैं। अब वे तीन म स किसी एक स्थान पर समाप्त हो सकते हैं।

मेरु-रज्जु के दोनो ओर गुच्छिकाओ की एक शृंखला है, जिसे अनुकपी शृखला कहते हैं (आकृति 28)। कुछ पुरोगुच्छिक अक्ष-तन्तु कोशिकाओ के साथ इन गुच्छिकाओ मे अंतर्ग्रथन करते है। इन गुच्छिका-कोशिकाओ से पश्चगुच्छिक अक्ष-तन्तु मेरु-तन्त्रिका से मिल जाते है और देह के सतही प्रदेशो की चिकनी पेशी व ग्रन्थियो मे बट जाते है, जैसे त्वचा। (कुछ पश्चगुच्छिक अक्ष-तन्तु मेरु-तन्त्रिकाओ मे फिर नही मिलते, वरन् सिर तथा वक्ष-गुहा के अगो को चले जाते है)। अन्य पुरोगुच्छिक अक्ष-तन्तु अनुकपी शृखला की गुच्छिकाओ से अतर्ग्रथित हुए बिना गुजर जाते है और उदर-गुहा मे स्थित मुक्त गुच्छिकाओ मे जाकर समाप्त हो जाते है, जिन्हे 'समपार्श्वी' गुच्छिकाए कहते हैं। इन गुच्छिकाओ से पश्चगुच्छिक अक्ष-तन्तु उदरीय अगो की चिकनी पेशी और ग्रन्थियो मे चले जाते है। अन्य, किन्तु अपेक्षाकृत थोडे, पुरोगुच्छिक अक्ष-तन्तु 'अग्र-गुच्छिकाओ' मे की



आकृति 28—स्वायत्त तत्रिका-तत्र द्वारा तत्रिका-भरणित अग परानुकपी (कपालत्रिक) ततु बिंदु-रेखाओ द्वारा और अनुकपी (वक्ष-कटि) ततु ठोस रेखाओ द्वारा दर्शाए गए है।

मोदिकाओं के साथ जो तन्त्रिका भरणित (तन्त्रिकोत्तजित) अंगो की दीवारो में स्थित होती है अंतर्ग्रथित हो जाते हैं। इसके बाद पश्चगुच्छिक अक्ष-तन्तु उस अंग के संवेदनग्राहियो को चले जाते हैं जो बहुत ही निकट होते हैं।

परानुकम्पी या सहानुकम्पी तन्त्र—परानुकम्पी तन्त्र का दूसरा नाम कपाल त्रिक विभाग है क्योंकि इसकी पुरोगुच्छिक तन्त्रिका-कोशिकाएं मस्तिष्क और मेरु रज्जु के त्रिक खंडो में पाई जाती हैं। पुरोगुच्छिक अक्ष-तन्तु फिर अग्र-गुच्छिकाओं को चले जाते हैं जो तन्त्रिका भरणित अंगो की दीवारो में स्थित होती है। पश्चगुच्छिक अक्ष-तन्तुओं को अपने द्वारा नियंत्रित संवेदनग्राहियो तक पहुचने के लिए थोडी दूरी पार करनी पडती है।

परानुकम्पी तन्त्र में गुच्छिकाओं का उतना ही वर्गीकरण नहीं होता। यह भी ध्यान देने की बात है कि अनुकम्पी तन्त्र में पुरोगुच्छिक अक्ष-तन्तु अपेक्षाकृत छोटे होते हैं और पश्चगुच्छिक अक्ष-तन्तु लम्बे जब कि परानुकम्पी तन्त्र में इसका उल्टा होता है।

स्वायत्त तन्त्र के कार्य—आकृति 28 को देखने से पता चलता कि लगभग प्रत्येक आंतरांग को दुहरा तन्त्रिकाभरण प्राप्त होता है—अनुकम्पी तथा परानुकम्पी दोनो ही तन्त्र इस तन्त्रिका तन्तु भेजते हैं। साधारणतया हर तन्त्र से आनेवाले तन्तुओं की विभिन्न अंगो पर विरोधी क्रिया होती है।

अनुकम्पी आवेगो द्वारा हृदय की गति बढ जाती है और परानुकम्पी (वेगस) आवेगो द्वारा धीमी पड जाती है। पाचक क्षेत्र की चरता और स्राव परानुकम्पी आवेगो द्वारा बढ जाते हैं और अनुकम्पी आवेगो द्वारा घट जाते हैं। आंख का तारा परानुकम्पी आवेगो से प्रकुंचित हो जाता है और अनुकम्पी आवेगो से फैल जाता है। अनेको आंतरांगो के साथ ऐसा ही होता है।

विभिन्न तन्त्रों के जिस तन्त्रिका नियमन की हमने चर्चा की है उसका अधिकांश स्वायत्त है। स्वायत्त तन्त्र इस प्रकार जीवन के गतिशील संतुलन को बनाए रखने के लिए एक आवश्यक संयोजक उपकरण है।

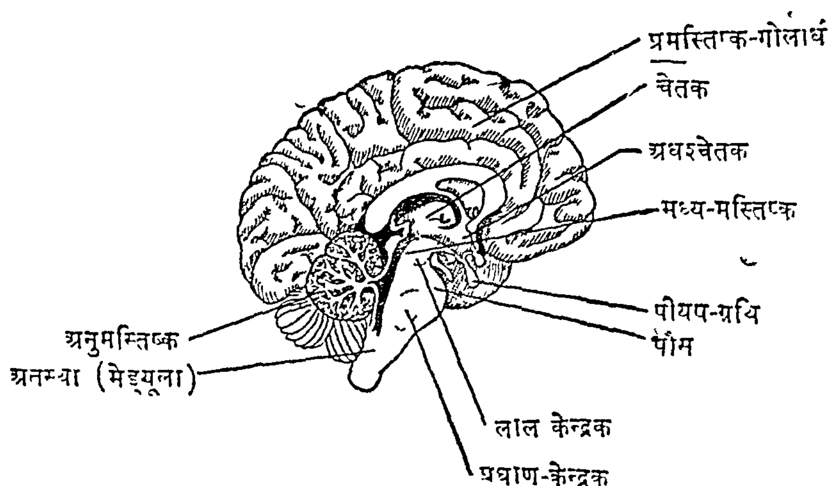
तन्त्रिका तन्त्र के अन्य क्षेत्रों की भांति न्यूरानो के मध्य तथा न्यूरानो और संवेदनग्राहियो के मध्य संचार कारक स्वायत्त तन्त्र में रासायनिक पदार्थ हैं। गुच्छिकाओं के सभी अंतर्ग्रथन मेलो पर और परानुकम्पी पश्चगुच्छिक अंतागो पर अगली कोशिका को सक्रिय करनेवाला पदार्थ एसिटिकोलीन है। अधिकांश अनुकम्पी पश्चगुच्छिक अंतागो पर कार्य करनेवाला पदार्थ नोरेडीनेलीन है।

मस्तिष्क की संरचना

मस्तिष्क मेरु रज्जु का ही सिलसिला है। इसका अधिक पुराना भाग—मस्तिष्क वृंत देखने में रज्जु से मिलता जुलता है। हां इसका आकार बडा और इसकी रूपरेखा अधिक अनियमित अवश्य है। सामान्यरूप से इसकी भीतरी बनावट भी बाह्य श्वेत द्रव्य से घिरे आन्तरिक धूसर द्रव्य की है लेकिन रज्जु

की अपेक्षा मस्तिष्क मे ये विभेद कम विश्वसनीय है। यहा धूसर द्रव्य और श्वेत द्रव्य का कुछ मिश्रण हो गया है, जिसके फलस्वरूप धूसर द्रव्य के कुछ अग उभर आते है। धूसर द्रव्य के ये झुड 'केंद्र' या केन्द्रक' (तन्त्रिका कोशिका-कायो के समूह) कहलाते है।

परिवर्धन के साथ-साथ मस्तिष्क-वृन्त के तीन मुख्य विभाग हो जाते है—पश्चमस्तिष्क, मध्यमस्तिष्क और अग्रमस्तिष्क। ये विभाग अपने मूल, खडीय चरित्र के अस्पष्ट अवशेष कायम रखते है और कपाल-तन्त्रिकाओ के बारह जोडो को उत्पन्न करते है। मस्तिष्क के पूर्णत निर्मित होते-होते दो बड़े प्रदेश जुड़ चुके होते है—अनुमस्तिष्क पश्चमस्तिष्क से, और प्रमस्तिष्क गोलार्ध अग्रमस्तिष्क से विकसित होते है।



आकृति 29—मध्यरेखा पर कटे मस्तिष्क की भीतरी सतह का एक दृश्य

आकृति 29 मे अपनी मध्य रेखा पर आधे कटे हुए मस्तिष्क का आरेख है। पश्चमस्तिष्क का मस्तिष्क-वृन्तीय भाग मेड्यूला या अतस्था तथा पोंस का बना है। पोंस के अभिपृष्ठ अनुमस्तिष्क है। उसके बाद मध्यमस्तिष्क है। अग्रमस्तिष्क मे 'थैलेमस' या 'चेतक','हाइपोथैलेमस' या 'अधश्चेतक' तथा 'प्रमस्तिष्क-गोलार्ध' है। अधश्चेतक के नीचे एक डंठल से लटकी हुई पिट्यूइटरी या पीयूष-ग्रथि है।

अनुमस्तिष्क तथा प्रमस्तिष्क-गोलार्ध—जैसा कि हम कह चुके है, ये निर्मितिया अधिक आदिम मस्तिष्क-वृन्त के उद्वर्ध (बाद मे बढे हुए अग) है और कशेरुकदडियो के विकास के साथ-साथ ये अधिक परिवर्धित होते गए है। इनमे एक सामान्य बात यह भी है कि उनका धूसर द्रव्य उनकी सतहो पर एक पतली परत मे, जिसे 'कॉर्टेक्स' या 'अन्तस्था' कहते हैं, जमा है और उनका श्वेत द्रव्य उनकी आरम्भिक राशि का सरचक है।

अनुमस्तिष्क एक अत्यधिक आदिम खड है (आकृति 30 के नीचे का विन्दी-

दार भाग) तथा अपेक्षाकृत बाद म उत्पन्न अग्र—तथा पश्च पालिया और अनु मस्तिष्क—गोलार्धों स मिलकर बना है।

विकास क्रम की प्रगति के साथ साथ प्रमस्तिष्क गोलाध मस्तिष्क के सब प्रमुख भाग बन जाते हैं। मत्स्य म वे मस्तिष्क के अग्र प्रान्त क छोटे भाग होते हैं बिल्ली म वे पीछे की ओर इतने बढ़ चुके होते है कि मध्यमस्तिष्क को ढक लेते हैं मनुष्य म वे इतन बढ़ चुके हैं कि पीछे की ओर स देखन पर मस्तिष्क के केवल य ही भाग दृश्य रहते है।

प्रमस्तिष्क गोलाध पर अनेक खाचे या परिखाए हैं परिखाओं के बीच के उभरे हुए क्षेत्र कणक कहलाते हैं। सतही उत्तक पर सिकुड़न पड़ने का कारण यह है कि गोलाध के अतराग की अपेक्षा यह ज्यादा तेज़ गति से बढ़ता है। कुछ कणक अपेक्षाकृत गहरी दरार है जिन्हे विदर कहते हैं और य प्रत्येक गोलाध को इन चार पालियां— ललाट पालि पार्श्विका पालि अनुकपाल पालि तथा शख पालि —म विभाजित करने म सीमा चिह्नों का काम दते हैं।

प्रमस्तिष्क प्रातस्था जटिलतम तन्त्रिका क्रियाओं का स्थल है। गहन नारी रीय अध्ययनो क बाद इसे दो सौ से अधिक क्षेत्रों म उपविभाजित किया गया है जो एक दूसरे स न्यूरानो क आकार और विन्यास म भिन्न भिन्न है। अभी हम इस बात को ध्यान म रख लेना चाहिए कि हर गोलाध म एक एक प्रेरक और विभिन्न सवेदी क्षेत्र पृथक किये जा सकते है (आकृति 31)।

कपाल तन्त्रिकाए—बारह कपाल तन्त्रिकाए सिर तथा दह क अन्य भागों म अनेक निर्मितियों का तन्त्रिकाभरण करती हैं। पहली कपाल-तन्त्रिका घ्राण तन्त्रिका कार्य की दृष्टि स पूर्णत सवेदी है इसके तन्तु नासिका म गन्ध सग्राहकों स लेकर प्रमस्तिष्क गोलार्धों तक जाते हैं। दूसरी कपाल तन्त्रिका दृष्टि तन्त्रिका भी पूर्णत सवेदी तन्त्रिका है यह नेत्र गोलक म दृष्टि सग्राहकों स लेकर मस्तिष्क तक जाती है।

तीसरी कपाल तन्त्रिका नेत्र प्रेरक तन्त्रिका पूर्णत प्रेरक तन्त्रिका है। जसा कि इसक नाम स स्पष्ट है इसका सम्बन्ध नेत्रों की गतियो स है। यह नेत्र-गोलक की छ म स चार पेशियों को तन्तु भेजती है। यह उन पेशियों का भी तन्त्रिका भरण करती है जो आख के तारे के आकार और लेंस की वक्रता का नियन्त्रण करती है। तीसरी तन्त्रिका मध्यमस्तिष्क म उत्पन्न होती है। चौथी तथा छठी कपाल-तन्त्रिकाए चक्रक तथा उद्विवर्तनी तन्त्रिकाए मध्यमस्तिष्क तथा पौंस म उत्पन्न होती हैं और नेत्र गोलक की अन्य दो पेशियों का तन्त्रिकाभरण करती हैं।

पाचवी त्रिधारा तन्त्रिका सिर प्रदेश की मुख्य सामान्य सवेदी तन्त्रिका है। इसके सवेदी तन्तु सिर की त्वचा नासा तथा मुख की श्लेष्मिक ग्रंथियों म पौंस म आवेग लाते हैं। यह उन पेशियों की प्रेरक तन्त्रिका भी है जो निचले जबड़े को चलाती है। सातवी आनन-तन्त्रिका मुख्यत प्रेरक है इसके तन्तु पौंस म चेहरे की पेशियों को और लार म म श्वा का लार ग्रथियों को भी जाते हैं। जिह्वा

के सामने के दो-तिहाई भाग पर स्थित स्वाद-सग्राहको से ग्रानेवाले कुछ सवेदी तन्तु भी इस तन्त्रिका मे पाये जाते हे।

ग्राठवी 'श्रवण-तन्त्रिका' एकदम सवेदी है। इसमे श्रवण-सग्राहको से ग्रानेवाले ग्रौर ग्रातरकर्ण मे साम्यावस्था के लिए स्थित सग्राहको मे ग्रानेवाले तन्तु होते हे। यह पौस मे ग्रावेगो का सवहन करती है। नवी 'कपाल-तन्त्रिका' 'जिह्वाग्रसनी तन्त्रिका' ग्रन्तस्था मे तीसरी वडी लार-ग्रथि को ग्रौर ग्रसनी की उन पेशियो को, जो निगलने की प्रक्रिया मे सम्मिलित रहती हैं, प्रेरक तन्तु भेजती है। सवेदी पक्ष मे यह जिह्वा के शेप स्वाद-सग्राहको तथा ग्रसनी की श्लैष्मिक झिल्ली से ग्रावेगो को भीतर ले जाती है।

पिछले ग्रध्यायो मे हमारा दसवी 'वेगस-तन्त्रिका' से कई बार वास्ता पड चुका है। इसका नाम बड़ा ही उपयुक्त है, क्योकि 'वेगस' शब्द का ग्रर्थ ही 'घुमक्कड' होता है। इसके ग्रपवाही तन्तु ग्रन्तस्था से ग्रसिका, ग्रामाशय, ग्रत्र, हृदय तथा स्वरयत्र मे की पेशी ग्रौर ग्रामाशय, क्षुद्रात्र ग्रौर ग्रग्न्याशय की ग्रथियो तक जाते है। इसके ग्रभिवाही तन्तु फेफडो की वायु-कोष्ठिकाग्रो से, स्वरयत्र तथा ग्रामाशय की श्लैष्मिक झिल्ली ग्रौर ग्रन्य ग्रातरिक ग्रगो से ग्राते है।

ग्यारहवी 'मेरु-उपतन्त्रिका' तथा वारहवी 'ग्रधोजिह्वा-तन्त्रिका' विशुद्ध प्रेरक तन्त्रिकाए हैं। दोनो ही ग्रंतस्था से निकलती है। प्रथमोक्त कधे की पेशियो का तन्त्रिकाभरण करती है ग्रौर ग्रन्तोक्त जिह्वा की पेशियो का।

वारीकी से कहे, तो 'विशुद्ध' प्रेरक तन्त्रिकाए केवल प्रेरक ही नही होती। उनमे उन पेशियो से, जिन्हे वे तन्त्रिकोत्तेजित करती हैं, मस्तिष्क मे ऊतक-सवेदी सूचना लानेवाले ग्रभिवाही तन्तु भी होते है।

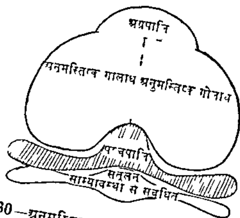
कपाल-तन्त्रिकाग्रो के ग्रपवाही तन्तु मस्तिष्क-वृन्त के भीतर न्यूरॉनो मे (कपाल-तन्त्रिकाग्रो के केन्द्रक मे) उत्पन्न होते है। ग्रभिवाही तन्तु सग्राहको मे उत्पन्न होते है ग्रौर दृष्टि तथा घ्राणतन्त्रिका तन्तुग्रो के सिवा उन सव की कोशिका-काय मस्तिष्क के वाहर, किन्तु निकट-स्थित गुच्छिकाग्रों मे रहती है। इन वातो मे कपालतन्त्रिकाए मेरुतन्त्रिकाग्रो से काफी मिलती-जुलती है।

निलय तथा प्रमस्तिष्क मेरु-द्रव—केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र का प्रारम्भ एक खोखली नली के रूप मे होता है ग्रौर परिपक्व मस्तिष्क तक मे एक गुहा वाकी रहती है, यद्यपि यह भ्रूण-मस्तिष्क की गुहा की ग्रपेक्षा कही छोटी होती है। मेरु-रज्जु मे इस गुहा का ग्रवशेप केन्द्रीय नाल है। इस नाल का पश्चमस्तिष्क मे जो सिलसिला है, वह चतुर्थ निलय कहलाता है। चतुर्थ निलय की एक पतली झिल्लीमय छत होती है, जो ग्रत्यन्त सवहनीय होती है। चतुर्थ निलय वहुत ही सकरी 'प्रमस्तिष्क-कुल्या' के रूप मे मध्यमस्तिष्क मे चला जाता है। चेतक प्रदेश मे तृतीय निलय की छत भी चतुर्थ निलय की छत-जैसी ही होती है। तृतीय निलय प्रथम ग्रौर द्वितीय निलयो से सचार वनाये रखता हे जिनमे से प्रत्येक एक-एक प्रमस्तिष्क-गोलार्ध मे स्थित है।

सतुलित यत्नवान दूसरे तत्र काय नही कर रहे होते तो प्रायोगिक और चिकित्सकीय प्रमाणो से यही ज्ञात होता है कि अनेक ककाल पेशिया लगातार कुचन की अवस्था मे बनी रहती हैं दूसरे शब्दो मे अनम्यता या दृढता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

दैहिक प्रतिवर्त समजन के नियमन मे एक और महत्त्वपूर्ण युक्ति मे अनुमस्तिष्क सनिहित है। जब भी ककाल पेशिया अपनी सक्रियता बदलती हैं (वे लगभग निरतर ही ऐसा करती रहती है) पेशिया या उनकी कडराओ के भीतर के सग्राहक सक्रिय होकर सवेदी न्यूरानो द्वारा आवेग भेजने लगते हैं। ऐसे आवेग अनुमस्तिष्क की अग्र और पश्च पालियो को प्रेषित कर दिये जाते है और उनसे लाल कद्रक को (आकृति 29)। लाल कद्रक से आवेग मस्तिष्क वृत और रज्जु के प्रेरक न्यूरानो को भेज जाते हैं जहा एक सर्वव्यापी निरोधी प्रभाव प्रकट हो जाता है। यह तत्र दैहिक प्रतिवर्तों पर एक सुनियामक और समन्वयकारी प्रभाव डालता है।

पेशिया और कडराओ से समान आवेग प्रमस्तिष्क प्रांतस्था को जा सकते हैं और प्रेरक क्षेत्रो को प्रेषित हो सकते है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐच्छिक गतिया प्रांतस्था द्वारा प्रारम्भित की जाने पर भी शीघ्र ही तत्रिका तत्र के अन्य भागो द्वारा प्रभावित हो जाती हैं और प्रतिवर्ती क्रिया द्वारा रूपातरित होती है।



आकृति 30—अनुमस्तिष्क के भागो का आरम्भीय निरूपण

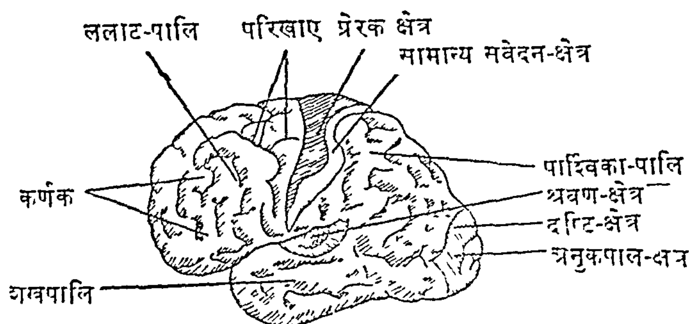
प्रेरक क्षेत्र भी न्यूरानो पर एक निरोधी प्रभाव के स्रोत हैं जो नीचे के उत्तेजक केंद्रो के प्रतिकरण का काम ही करते हैं। इस उच्चतर प्रभाव की वचिति का लाक्षणिक परिणाम पेशीय स्नायुता या अनम्यता है जैसा कि प्रमस्तिष्क सस्तम्भ या प्रमस्तिष्क पक्षाघात के मामलो मे या प्रमस्तिष्क या उसके घावो के मामलो मे देखा जाता है।

हमे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि मध्यमस्तिष्क प्रदेश मे अन्य दैहिक प्रतिवर्ती केंद्र भी मौजूद है। ये केंद्र सुस्थितिकर 'प्रतिक्रियाओ' मे (उत्तान या चित स्थिति से सामान्य स्थिति मे आना, जो कुत्ते-बिल्लियो को पीठ के बल लेटा देने पर सबसे अच्छी तरह देखा जा सकता है) और दृष्टि तथा श्रवण-उद्दीपनो के प्रति 'चकित प्रतिक्रियाओ' मे प्रमुख भाग लेते है।

मस्तिष्क के विभिन्न स्तरो द्वारा आतरांगीय प्रतिवर्त गतिया भी नियत्रित होती है। यहा भी यह घटना देखी जा सकती है कि मस्तिष्क के उच्चतर स्तर निम्नतर स्तरो पर अभिभावी प्रभाव रखते है।

मस्तिष्क के निम्नतर स्तर—अतस्था—मे अनेक महत्त्वपूर्ण आतरागीय प्रतिवर्त केंद्र स्थित है—प्रश्वास तथा उच्छ्वास, हृत्वरण, हृद्बाधक, वाहिका-संकोचक, वाहिका-विस्फारक, निगलना या निगरण, लार तथा वमन के केंद्र। हृद्-पेशी या चिकनी पेशी या ग्रथि-कोशिकाओ की सक्रियता की रफ्तार के नियमन द्वारा ये केंद्र अपने-अपने नाम द्वारा व्यक्त पृथक्-पृथक् सक्रियता का प्रतिवर्ती नियत्रण करते है।

जहा इस स्तर पर केंद्रो मे कुछ परस्पर क्रिया के फलस्वरूप सन्निहित तन्त्रो मे कुछ समन्वय हो जाता है, अधिक समन्वयकारी प्रभाव मस्तिष्क के उच्चतर स्तरो—विशेषकर अधश्चेतक तथा मस्तिष्क-प्रातस्था—से ही उत्पन्न होते है। इस प्रकार जब अभिवाही आवेग अतस्था-केंद्रो मे पहुचते है, तो हृद्-गति, रुधिर-दाब या पाचक क्रिया मे अतर आ सकता है। लेकिन अभिवाही आवेग जब अधश्चेतक या प्रांतस्था-केंद्रो मे पहुचते है, तो ऐसे आवेगो का प्रेषण हो सकता है जो देह के कई तन्त्रो को एक साथ प्रभावित करते है और ऐसा समावेशक प्रभाव उत्पन्न करते है जो उस व्यक्ति-विशेष के लिए उस समय लाभदायी रहता है।



आकृति 31—प्रमस्तिष्क-गोलार्ध की बाहरी सतह

प्रेरक पक्ष के सगठन की एक अन्य विशेषता यह है कि वहा न केवल दैहिक तथा आतरागीय सक्रियताओ के नियत्रण-केन्द्रो के सूची-स्तम्भ ही स्थित है, वरन्

तन्त्रिका तन्त्र के स्तर की उच्चता के अनुसार उनकी दोनो प्रकार की सक्रिय ताओ मे बढता हुआ समन्वय भी है। उच्चतर स्तरो पर आवेगो के विसजन से समकालिक न्हिक और आतरागीय प्रभाव उत्पन्न होते हैं।

सवेदन सामूहिक रूप मे

मनुष्य कई प्रकार के उद्दीपन को ग्रहण करने के लिए सग्राहको से लस है। ये बाह्य तथा आतरिक दोनो वातावरणो मे परिवतनो की अनुक्रिया करते है। सक्रिय किये जान के लिए प्रत्येक सग्राहक का ऊर्जा की एक अल्पिष्ठ मात्रा स उद्दीपित किया जाना आवश्यक है। प्रत्येक सग्राहक ऊर्जा के एक विशष स्वरूप के प्रति विशष सवेदी होता है और उसे वह किसी भी अन्य प्रकार की अपक्षा अधिक सरलता से ग्रहण कर लेता है। सक्रिय हो जाने पर सग्राहक अपने म से निकलनेवाले अभिवाही तन्त्रिका-तन्तु मे तन्त्रिका आवेगो का एक प्रवाह का प्रारभ करके अनुक्रिया करता है।

सवेदनो या इद्रियानुभूतियो के कई भेद हैं। मनुष्य के केवल छठा सवेन ही नही होता वरन् सातवा आठवा और ऐसे ही कितने ही और सवेद भी होने है। अलग अलग सग्राहक अलग अलग तरह के सवेदनो के प्रति सवेन्दी होते है—कोई प्रकाश ध्वनि गध और घुले हुए रसायनो के प्रति कोई वेदना स्पश गरमी-सरदी दाब और गुन्गुनी के प्रति तो कोई पशियो कडराओ तथा सधियो म तनाव के प्रति कोई घूणन और सतुलन परिवतन के प्रति कुछ अन्य सवेन्दनो—जस क्षुधा प्यास तथा कामजन्य सवेदना—म निहित सग्रा हको और प्रत्यक्ष ज्ञान की विरचनाओ के बारे म हम अपक्षाकृत कम जानते हैं।

सग्राहको को हम बाह्य सग्राहको अन्त सग्राहको तथा मध्यमग्राहको म वर्गीकृत कर ही चुके हैं। इन्ह अन्य तरीको से भी वर्गीकृत किया जा सकता है। कुछ म उद्दीपनो को देह के साथ वास्तव म सम्पक करना पडता है—स्पश गुन्गुनी कुछ प्रकार की वेन्नाए और दाब आदि। दूसरे प्रकार के सग्राहक दूरी स आनेवाले उद्दीपनो का भी सवन्न कर सकते हैं जसे दृष्टि तथा श्रवण सग्राहक। कुछ और सग्राहक एसे भी हैं जो विलीन रसायनो म ही सवम अच्छी तरह उद्दीपित होते हैं जस स्वाद-सग्राहक।

ज्ञानेन्द्रिया सरचना म सरल तन्त्रिका छोरो स लकर आख या कान जसे खास जटिल अगो तक अनेक प्रकार की हो सकती हैं।

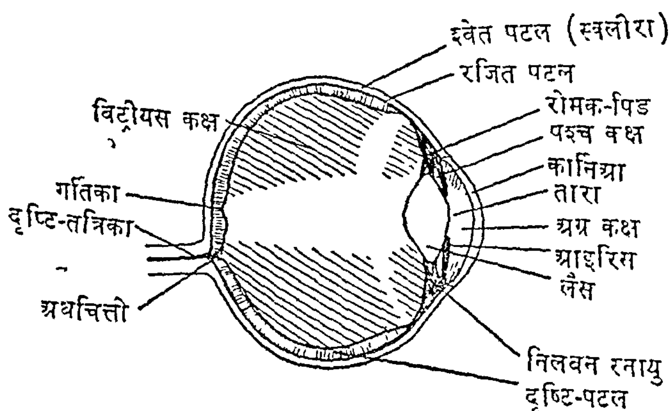
दृष्टि

दृष्टि वह सवेदन है जिस पर मनुष्य सबस अधिक निभर करता है। आखें बडी जटिल ज्ञानेन्द्रिया हैं जसा कि अपने कृत्यो के सम्पादन के लिए उन्हें होना भी चाहिए। दृष्टि एक जटिल प्रक्रिया है जिसम प्रकाश किरणो के प्रति सवेदिता और स्वरूप, रग गहनता तथा दूरी का प्रत्यक्ष ज्ञान (बोध) सन्निहित

है। नेत्रो के कृत्यो को समझने के लिए पहले हमे उनकी सरचना जाननी होगी।

नेत्र की सरचना—आख तीन ओर से खोपड़ी की निकली हुई हड्डियो से, और इसके अलावा पलको से तथा अश्रुओ के स्राव द्वारा भी अभिरक्षित है। कोई चीज अगर आख के अधिक पास आ जाती है या नेत्र-गोलक को सचमुच छूने लगती है, तो 'पलक-कुचन प्रतिवर्त' क्रियाशील हो जाता है। पलक झपकाने की क्रिया, जो सामान्यरूप से लगातार चलती रहती है, एक अच्छा काम यह भी करती है कि वह आखो की अत्यधिक थकान रोकती है। छपी हुई एक पक्ति को बिना पलक झपकाये, गौर से देखने का प्रयास कीजिये। शीघ्र ही शब्द धुधले पड जायेगे। अब पलक झपकाइये, आप देखेगे कि इस अल्प विश्राम ने आपकी दृष्टि को प्रत्यक्षत स्पष्ट कर दिया है। अश्रु-स्राव, जो अविरल होता रहता है, सवेदी नेत्र-गोलक के सामनेवाले भाग को आर्द्र रखता है और बाहरी कणो तथा उत्तेजको को बहा देता है। 'अश्रु-ग्रथि' नेत्र-गोलक के बिलकुल ऊपर ही स्थित है और किसी बाहरी कण के नेत्र-गोलक के सम्पर्क मे आने पर अतिरिक्त अश्रु-स्राव के लिए इसका प्रतिवर्ती उद्दीपन किया जा सकता है। पलक झपकने से अश्रु नेत्र-गोलक की सतह पर फैल जाते है और एक वाहिका द्वारा नासा-गुहा मे चले जाते है।

गोलिकाकार नेत्र-गोलक की दीवार तीन-परती है (आकृति 32)। बाहरी स्कलीरा या श्वेत पटल सुदृढ और तन्तुमय है (यह 'आख की सफेदी' के रूप मे दिखाई देता है) और नेत्र-गोलक के सामने की ओर आकर पारदर्शक कॉर्निया मे रूपातरित हो जाता है। बीच का आवरण रजित और सवहनीय 'रजित पटल'



आकृति 32—नेत्र-गोलक की काट

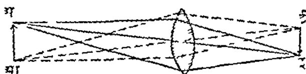
का है, जो 'रोमक पिंड' तथा रगीन ऊतक के वलय 'आइरिस' के रूप मे नेत्र-गोलक के सामने तक जारी रहता है। आइरिस के मध्य का छिद्र तारा है, ...

अंधियारा भाग देखता है। सबसे भीतरी परत 'रेटिना' या 'दृष्टिपटल' है, जिसमें दृष्टि के संग्राहक शलाका तथा शंकु हैं, और जहां से दृष्टि-तंत्रिका आरम्भ होती है।

कार्निया तथा आइरिस के बीच में अग्र कक्ष और आइरिस तथा स्फटिक (क्रस्टलीय) लेंस के बीच में पश्च कक्ष है। दोनों ही कक्षों में एक जलीय द्रव, 'नेत्रोद या एक्वुअस ह्यूमर' रहता है। नेत्र गोलक की सबसे बड़ी गुहा 'विटियस कक्ष' है जिसमें एक श्यान (चिपचिपा) द्रव 'विटियस ह्यूमर' रहता है।

रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान (प्रकाश किरणों का वर्तन)—एक घनत्व के माध्यम से भिन्न घनत्व के दूसरे माध्यम में प्रवेश करते समय प्रकाश किरण मुड़ (वर्तित हो) जाती हैं। इसी कारण एक सीधी छड़ी जो आधी पानी में है और आधी हवा में मुड़ी हुई दिखाई देती है। कांच के लेंस में जो एक नियत वक्रता तक घिसा हुआ कांच का पारदर्शक टुकड़ा होता है प्रकाश किरणों का वर्तन करने का गुण होता है। तथापि प्रकाश की कोई ऐसी किरण वर्तित नहीं होगी जो लेंस की सतह पर लम्ब आकर पड़ती है। लेंस पर कोण बनाकर गिरनेवाली किरण ही वर्तित होती हैं। कोण जितना बड़ा होगा वर्तन भी उतना ही अधिक होगा। कान्वेक्स या उत्तल लेंस प्रकाश की किरणों को अपने पीछे एक ही बिंदु पर केंद्रित या फोकस कर देगा। लेंस के निर्गति बिंदु अर्थात् लेंस के प्रकाशकीय केंद्र जिससे होकर किरण बिना वर्तित हुए निकल जाती हैं, और समानांतर किरणों के फोकस बिंदु के बीच की दूरी मुख्य फोकस दूरी कहलाती है। इस दूरी का उपयोग लेंस की फोकस शक्ति के माप के रूप में किया जाता है। लेंस की सतह की वक्रता जितनी अधिक होगी उसकी वर्तन शक्ति उतनी ही अधिक होगी और उसकी मुख्य फोकस दूरी उतनी ही कम होगी।

बिम्ब का निर्माण—लेंस द्वारा किसी वस्तु का बिंब (आकृति 33) में आरेखित तरीके से होता है। अ बिंदु से आनेवाली सभी प्रकाश किरणें इ पर फोकस



आकृति 33— उत्तल लेंस द्वारा वस्तु के उल्टे और छोटे बिंब का निर्माण

की जाती हैं और आ पर के अन्य सभी बिंदुओं से आनेवाली किरणें लेंस के पीछे के संगत बिंदुओं पर। इस प्रकार वस्तु का एक उल्टा और छोटा बिंब बन जाता है।

आंख में भी बिम्ब निर्माण ठीक इसी तरीके से होता है। वस्तुतः आंख में

विम्ब-निर्माण की प्रक्रिया कही अधिक जटिल होती है, क्योंकि नेत्र-गोलक मे अधिक वर्तक सतहे होती है, किन्तु इसमे निहित सिद्धात और अतिम परिणाम सरल लैंस-प्रणाली-जैसे ही होते है। दृष्टि-क्षेत्र मे की वस्तु का दृष्टि-पटल पर एक छोटा उल्टा विम्ब बन जाता है। शिथिलित नेत्र की अधिकाश वर्तन-शक्ति कॉर्निया मे होती है, सामान्य नेत्र मे दूर (20 फुट या अधिक दूर) की वस्तुओ को देखने के लिए लैंस आवश्यक नही होता। सभी व्यावहारिक प्रयोजनो के लिए ऐसी सभी वस्तुओ से आनेवाली प्रकाश-किरणे कॉर्निया के टकराते समय समानांतर होती है।

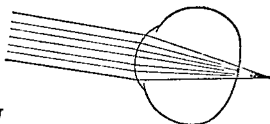
लैंस का महत्त्व—यदि लैंस दूरवर्ती वस्तुओ के विम्ब-निर्माण मे अपेक्षाकृत महत्त्वहीन है, तो इसका उपयोग क्या है ? दूर की वस्तुओ को साफ-साफ देखने के लिए नेत्र के वर्तन-तन्त्र का मुख्य फोक्स दृष्टि-पटल पर ही होना चाहिए। लेकिन जब दर्शित वस्तु बीस फुट से कम फासले पर होती है, तब क्या होता है ? उससे आनेवाली प्रकाश की किरणे दृष्टि-पटल से टकराते समय अपसारी होगी और दृष्टि-पटल के पीछे फोकस होगी। इन किरणो को दृष्टि-पटल पर फोकस करवाने के लिए नेत्र की वर्तन-शक्ति को बढाया जाना होगा।

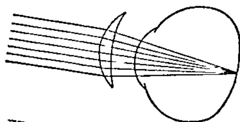
अब लैंस महत्त्वपूर्ण हो जाता है। आख का लैंस एक प्रत्यास्थ (लचकीला) पिंड है, जिसकी मोटाई बदली जा सकती है। यह जितना ज्यादा मोटा हो जाता है इसकी सतह उतनी ही अधिक वक्र, और वर्तन-शक्ति उतनी ही अधिक होती जाती है। देखी जानेवाली वस्तु जितनी निकट होती है, लैस को उतना ही अधिक फुलाया जाता है। इस प्रक्रिया को 'स्वत समायोजन' कहते है। यह कार्य रोमक पिंड की 'रोमक पेशियो' के कुचन द्वारा सपादित होता है। इन पेशियो का कुचन 'निलबन स्नायुओ' मे तनाव कम कर देता है, जो शिथिलित आख मे लैस को तना हुआ रखते है। तनाव कम होते ही अपने लचीलेपन के कारण लैस फूल जाता है।

स्वत समायोजन एक सीमा तक ही हो सकता है, अर्थात् एक न्यूनतम अतर से निकट की वस्तु को स्पष्ट फोकस नही किया जा सकता। इसलिए हर नेत्र के लिए स्पष्ट दृष्टि का एक निकट-बिंदु होता है। सामान्य दृष्टिवाले बारह साल के बच्चे के लिए यह बिंदु आख के सामने लगभग ढाई इच की दूरी पर होता है। उम्र के साथ-साथ लैस का लचीलापन कम होता जाता है और यह इतनी तेजी के साथ अपना स्वत समायोजन नही कर पाता। यह दशा 'जरा-दूरदृष्टि' या 'प्रेसबायोपिया' कहलाती है। साठ साल की आयु मे चूकि यह निकट बिंदु सामान्यत हटकर आख से एक गज़ या उससे भी ज्यादा दूर हो जाता है, इसलिए बूढे लोगो को पास की वस्तुएं देखने के लिए चश्मा लगाना पड सकता है।

वर्तन के दोष—सामान्य आखे प्रकाश की समानातर किरणो को दृष्टिपटल पर तीक्ष्णता के साथ फोकसित करती है, किंतु कई आखो मे वर्तन के कुछ दोष होते है।

'दूरदृष्टिता' या 'हाइपरोपिया' ऐसे नेत्र-गोलक के कारण उत्पन्न होता है,

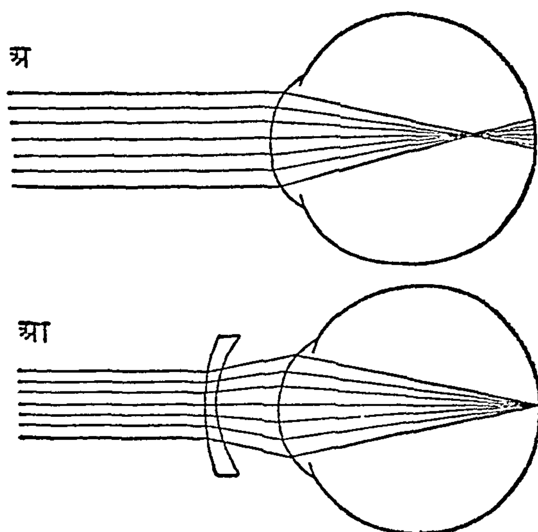




आकृति 34—समानातर प्रकाश किरण दूरदृष्टिता ग्रस्त नेत्र म दृष्टि
पटल के पीछे फोकस करगी (अ) और इसीलिए बिंब धुंधला
होगा। उचित उत्तल लेस इस दिशा को ठीक कर देगा (आ)।

जो अपनी वक्रन शक्ति की तुलना म बहुत छोटा होता ह। प्रकाश की समानातर किरण दष्टि पटल के पीछे फोकस होन लगती है और बिंब धुंधला दिखाई दन लगता ह (आकृति 34 अ)। स्वत समायोजन द्वारा दूरदृष्टिताग्रस्त लोग दूर की वस्तुओं को स्पष्ट फोकस कर सकत हैं। लकिन यदि सुधारा न जाय तो यह दशा आख पर काफी जोर डालता ह। उत्तल लस क उपयोग द्वारा (यह लस छोरो की अपेक्षा बीच म अधिक मोटा होता ह) समानान्तर प्रकाश किरणो को कॉर्निया तक पहुचन स पहल इतना अभिबिंदुन कर लिया जाता ह कि व ठीक स फोकस की जा सक (आकृति 34 आ)। व्यक्ति जितना ही अधिक दूरदृष्टिताग्रस्त होगा लेस उतना ही अधिक उत्तल होगा।

निकटदृष्टिता या मायोपिया सामान्यत अधिक नेत्र नेत्रगोलक क फलस्व रूप उत्पन्न होता ह। प्रकाश की समानान्तर किरणे दृष्टि पटल क सामन फोकस होती हैं और बिंब धुंधला बनता ह (आकृति 35 अ)। ऐसी किरणो क समायोजन द्वारा निकटदृष्टिताग्रस्त व्यक्ति इस दशा को ठीक नहीं कर सकता और आराम क लिए उस अवतल (बीच की अपेक्षा किनारो पर अधिक मोटे) लेस का उपयोग करना पडेगा। ऐस लस प्रकाश किरणो को कॉर्निया तक पहुचन म पहल अपबिंदुन कर दत (बाहर की ओर मोड दत) हैं और इस प्रकार उनको फोकस कर दत हैं (आकृति 35 आ)। सामान्य और दूरदर्शी आख क विपरीत जिनको दृष्टि की को निश्चित दूर बिंदु नहीं होता (उदाहरण क लिए य लोग काल दूर क तार देख ज



आकृति 35—निकटदृष्टिता-ग्रस्त नेत्र मे प्रकाश की समानान्तर किरण दृष्टि-पटल के सामने फोकस पर आएगी (अ), और इसलिए बिंब धुधला होगा। उचित लैस इस दिशा को ठीक कर देती है (आ)।

सकते है), निकटदर्शी आख का एक निश्चित दूर-बिंदु होता है जिसके आगे यह स्पष्टता से नही देख सकती।

एक कही अधिक सामान्य वर्तन-दोष दृष्टि-वैषम्य या एस्टिगमेटिज्म है। यह कॉर्निया की वक्रता मे एक या अधिक तलो मे असमानता होने के कारण उत्पन्न होता है। एक तल मे की प्रकाश-किरणे ठीक से फोकस हो जाती है, जब कि किसी दूसरे तल मे नही हो पाती। जिस दृष्टिवैषम्यग्रस्त व्यक्ति की दृष्टि मे ऊर्ध्वतल मे की किरणो के लिए दोष है, वह धन के निशान (+) को देखेगा, तो उसे उसकी खडी रेखाए धुधली दिखाई देगी। इस प्रकार के दोष को सुधारने के लिए सिलिंडराकार के लैस लगाने की राय दी जाती है।

तारा प्रतिवर्त—आइरिस मे चिकनी पेशी की दो जोडी होती है। एक ने तारे को घेर रखा है और कुचन के साथ वह तारे को सकुचित कर देती है। दूसरी पेशी पहिये की तीलियो की तरह होती है, जो अपने कुचन से तारे को फैला देती है।

तेज प्रकाश मे तारे का प्रतिवर्ती सकुचन हो जाता है और धीमी रोशनी मे यह फैल जाता है। दृष्टि-पटल तक पहुचनेवाले प्रकाश की मात्रा इन प्रतिवर्तो को आरम्भ करती है और अपनी बारी मे ये प्रतिवर्त नेत्र मे घुसनेवाले प्रकाश की मात्रा को नियमित करते है। जब स्वत समायोजन होता है, तब भी तारे का प्रतिवर्ती संकुचन होता है।

ये प्रतिवर्त एक दुहरा कार्य करते हैं। मन्द प्रकाश में या अधिक दूर की वस्तुएं देखते समय तारे का प्रसार दृष्टिपटल पर अधिक प्रकाश का गिरना संभव बनाता है जिससे दोनों मामलों में वस्तुएं अच्छी दिखाई देती हैं। पास की चीज़ देखते समय तारे का संकुचन प्रकाश की किरणों का अधिक तीव्र फोकस करता है। मनुष्य के लेंस सहित सभी लेंसों में एक दोष होता है जिसे गोलीय विपथन कहते हैं जिसमें लेंस के परिधीय क्षेत्र या परिमा से गुजरने वाली किरणें उसके केन्द्र से गुजरनेवाली किरणों के सामने फोकस हो जाती हैं फलस्वरूप बिम्ब अस्पष्ट धुंधला बनता है। तारे का संकुचन किनारे की किरणों को खत्म कर देता है और इस प्रकार दृष्टि के पैनेपन में सहायता देता है।

शलाकाएं और शंकु—दृष्टि पटल के प्रकाश-संवेदी तत्त्व शलाकाएं तथा शंकु हैं। यों तो समस्त प्रोटोप्लाज्म ही प्रकाश के प्रति कुछ संवेदी प्रतीत होता है, लेकिन इन सबसे अधिक ऐसी विशेषीकृत कोशिकाएं कहीं अधिक संवेदी होती हैं।

दृष्टि पटल के मध्य में 'गर्तिका' नामक एक छोटा सा गड्ढा है (आकृति 32) जिसमें केवल शंकु होते हैं। गर्तिका के किनारों पर गर्तिका से दूरी बढ़ने के साथ साथ शंकुओं की संख्या कम होती और शलाकाओं की संख्या बढ़ती जाती है। गर्तिका के एक तरफ दृष्टि तन्त्रिका के निर्गम का स्थान है। यह प्रदेश अंध बिन्दु या 'अन्धचित्ती' कहलाता है क्योंकि इस पर पड़नेवाली प्रकाश किरणों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार प्रकाश किरणें केवल तभी देखी जा सकती हैं कि जब वे शलाकाओं तथा शंकुओं पर पड़ें न कि तब कि जब वे तन्त्रिका तन्तुओं पर पड़ती हैं।

दृष्टि नीललोहित—शलाकाओं में दृष्टि नीललोहित नाम का एक रसायन होता है, जो प्रकाश की उपस्थिति में विरंजित होकर पीले रंग का हो जाता है। अंधेरे में यह अपनी नीललोहित अवस्था में लौट आता है। विश्वास किया जाता है कि नीललोहित में उत्प्रेरित रासायनिक परिवर्तन शलाकाओं में उठनेवाले तन्त्रिका आवेगों का प्रारम्भ करता है। शंकुओं में भी इसी प्रकार की प्रकाश रासायनिक प्रक्रिया के होने का विश्वास किया जाता है लेकिन उसके बारे में अभी अधिक ज्ञात नहीं है।

केन्द्रीय दृष्टि का परिमीय दृष्टि से तुलना—जब गर्तिका में उद्भूत दृष्टि या केन्द्रीय दृष्टि की दृष्टि पटल के छोरों पर उद्भूत दृष्टि या परिमीय दृष्टि से तुलना की जाती है तो यह देखा जाता है कि केन्द्रीय दृष्टि बहुत प्रखर और रंगीन होती है तेज प्रकाश में यह सबसे अच्छा होता है और धुंधले प्रकाश के प्रति यह अपने को अच्छी तरह से अनुकूलित नहीं कर सकती परिमीय दृष्टि कम प्रखर और रंगहीन होती है और यह धुंधले प्रकाश में ही सबसे अच्छी होती है और उसके साथ अपने को खूब अनुकूलित कर लेती है। गर्तिका में चूंकि केवल शंकु ही होते हैं इसलिए केन्द्रीय दृष्टि की लाक्षणिकताएं उन्हीं के कारण होनी चाहिए और परिमीय दृष्टि शलाकाओं द्वारा व्यवहित की जानी चाहिए।

शलाकाओ की अपने को धुधले प्रकाश के प्रति अनुकूलित करने की क्षमता उन्हे शकुओ की अपेक्षा निम्न तीव्रता के प्रकाश के प्रति अधिक सवेदी बना देती है। इसलिए धुधली रोशनी में अच्छी तरह देखने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि आप वाछित वस्तु पर दृष्टि को प्रत्यक्ष फोकस न करे, क्योकि ऐसा करने से उसकी प्रकाश-किरणे गर्तिका पर पडेगी। वस्तु की ओर केन्द्र से कुछ हटकर (तिरछा) देखना अधिक वाछनीय है, ताकि प्रकाश की किरणे वही गिरे जहा शलाकाओ की सघनता अधिकतम है। रात मे किसी धुधले तारे को पहले सीधे देखने की कोशिश कीजिए और फिर अपनी दृष्टि को तिरछा कर दीजिए—दृष्टि की स्पष्टता मे सुधार तुरन्त हो जाएगा।

रंग का प्रत्यक्ष बोध—रग-दर्शन के अधिकाश सिद्धान्त रग का प्रत्यक्ष बोध तीन भिन्न प्रकार के शकुओ के कारण मानते है, जिनमे से प्रत्येक तीन मे से एक-एक प्राथमिक वर्णक्रमीय रग के प्रति सवेदी है। दृश्य वर्णक्रम मे लाल, हरा तथा नीला—ये तीन रग है। इन तीनो का सयोग सफेद रग पैदा कर देता है—और तीनो प्रकार के शकुओ का समकालिक उद्दीपन सफेद रग के प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण माना जाता है उद्दीपनो के अन्य सयोग हमारे द्वारा देखे जानेवाले अन्य रग उत्पन्न करते है।

रग-दर्शन की समस्याएं जटिल है और, अभी तक, उनका बडा असमुचित उत्तर मिल पाया है। कोई एक सिद्धान्त सभी ज्ञात तथ्यो की व्याख्या नही कर पाया है। हमे इस अत्यत रुचिकर तथा जटिल प्रक्रिया के किसी समाधान की प्रतीक्षा करनी होगी।

गहराई तथा दूरी का प्रत्यक्ष ज्ञान—त्रिविमितीय विश्व का समुचित प्रत्यक्ष ज्ञान अधिकाशत इसी कारण है कि मनुष्य के द्विनेत्री दृष्टि है—वह दो आखो से देखता है। जो इतनी पृथक्-पृथक् है कि उसी वस्तु के जरा भिन्न-भिन्न दृश्य ग्रहण कर सकती है इसके वाद मस्तिष्कगामी दृष्टि-पथ की वनावट इन दो विवो का हमारे मानस-नेत्र मे एक विव मे सलगन संभव वना देती है।

दृष्टि-पथ—शलाकाएं तथा शकु दृष्टिपटल मे कुछ मध्यस्थ न्यूरॉनो के साथ अतर्ग्रथित होते है, जो स्वय अपनी वारी मे दृष्टितन्त्रिका-तन्तुओ को जन्म देते है। प्रत्येक दृष्टि-तन्त्रिका मस्तिष्क को जाती है, जहा प्रत्येक दृष्टि-पटल के आतरिक अर्धांश के तन्तु मस्तिप्क के दूसरे भाग की तरफ चले जाते है। अव प्रत्येक दृष्टि-पटल के दक्षिणार्ध के तन्त्रिका-तन्तु दृष्टि-मार्ग के रूप मे चेतक (थैलम) को जाते है। चेतक से प्रमस्तिष्क-प्रातस्था के दाहिने दृष्टि-क्षेत्र को नये तन्तु जाते है। प्रत्येक दृष्टि-पटल के वामार्ध से आनेवाले तन्तु इसी तरह के रास्ते से होकर वाये दृष्टि-क्षेत्र को जाते है।

संगत-बिन्दु दृष्टि—एक दृष्टि-पटल पर के प्रत्येक विन्दु का दूसरे दृष्टि-पटल पर एक सगत विन्दु होता है। दृष्टि-पथो के विन्यास के कारण सगत विन्दुओ से आनेवाले तन्त्रिका-आवेग दृष्टि-क्षेत्र मे एक ही विन्दु को भेजे जाते है, जिसके

फलस्वरूप दृष्टि पटलो पर यद्यपि दो बिम्ब बनते है तथापि होता केवल एक बिम्ब सवेदन ही है।

वे सभी बिम्ब जो सगत बिन्दुओ पर नही पडते दो बिम्ब सवेदन उत्पन्न करगे। वस्तुत फोकस की जानेवाली वस्तु के अलावा दृष्टि क्षेत्र की अन्य सभी वस्तुए दोहरी दिखाई देती हैं। हम एक ही वस्तु पर अपनी एकाग्रता के कारण साधारणत इन बिम्बो का अनुभव नही करते। इन युगल बिम्बो को देखने के लिए दो पसिलो को एक-दूसरे से कोई फुट भर के फासले पर आगे पीछे रखिये। जब आप इनमे से किसी एक पसिल पर अपनी दृष्टि फोकस करेंगे तो आपको दूसरी पसिल दोहरी दिखाई देगी।

ये सामान्य घटनाए हैं। तथापि युग्म बिम्ब दृष्टि अपसामान्य भी हो सकती है। नेत्र गोलक की गतियो को जो छ पेशिया नियन्त्रित करती हैं उनमे से यदि एक भी कमजोर हो जाय तो दोनो नेत्र तुल्यकालिक गति नही कर पायेंगे। चूकि एक आख ठीक से फोकस नही करेगी इसलिए वस्तुओ से आनेवाली प्रकाश किरणें असगत बिन्दुओ पर पडेगी और दो बिम्बो का प्रत्यक्ष बोध होगा। इस विकार से ग्रस्त व्यक्ति सामान्यत अनुभव द्वारा मिथ्या बिम्ब की उपेक्षा करने लगता है। इससे अच्छी आख को कार्याधिक्य और दबाव का शिकार होना पड सकता है। इस विशेष प्रकार के चश्मे या पेशी की शल्य चिकित्सा द्वारा ठीक किया जा सकता है।

दूरी का प्रत्यक्ष बोध—द्विनेत्री दृष्टिवाले जन्तुओ मे दृष्टि क्षेत्र अन्वाच्छादन करते अर्थात् परस्परव्यापी होते हैं और सगत बिन्दु दृष्टि के साथ साथ यह विशेषता श्रेष्ठतर दूर-दृष्टि को सभव बनाती है। जिन जन्तुओ के नेत्र उनके सिरो के पार्श्व मे होते है या जिन लोगो के एक ही आख होती है उन्हे केवल एकनेत्री दृष्टि ही प्राप्त होती है और उनका दूरी का प्रत्यक्ष बोध घटिया होता है। फिर भी वे वस्तु की स्पष्टता उससे आनेवाले प्रकाश की तीव्रता निकटतर वस्तुओ की पारस्परिक स्थिति या उसके रग की शुद्धता आदि सकेतो से दूरी का किसी हद तक अदाज कर सकते है।

दो नेत्रोवाले व्यक्ति को दूर दृष्टि के जो सकेत प्राप्त हैं वे हैं नेत्रो का अभिबिन्दुता का अश स्वत समायोजन का अश तथा विस्थापनाभास। पहले दो सबधित पेशियो के कुचन की मात्रा द्वारा अपने अनुभव से यह सीखने पर निर्भर करते हैं कि कोई वस्तु कितनी दूर है। विस्थापनाभास किसी वस्तु को दो पृथक बिन्दुओ से देखे जाने पर प्रकट विस्थापन है। यह यहा इस कारण लागू होता है कि दोनो नेत्र इतने काफी पृथक होते हैं कि उनमे से प्रत्येक वस्तु का उसकी पीछे की पृष्ठभूमि की सापेक्षता मे कुछ भिन्न दृश्य उपस्थित करता है। उदाहरण के लिए एक उगली उठाकर उसपर अपनी दृष्टि फोकस कीजिए और इसके बाद बारी-बारी मे अपनी आखें बद कीजिए और पृष्ठभूमि की सापेक्षता मे उगली की स्थिति मे प्रकट स्थान परिवर्तन की ओर ध्यान दीजिये।

गहराई का प्रत्यक्ष ज्ञान—चूकि बाई आख किसी वस्तु के बाये भाग को अधिक, और दाहिनी आख उसके दाये भाग को अधिक देखती है और चूकि हम यह जानने लग जाते है कि किसी वस्तु का एक भाग उसके दूसरे भाग से अधिक दूर है, इसलिए दृष्टि-पटलो पर हम इन भेदो से युक्त बिम्बो को एक गहराई से युक्त वस्तु से आते भेदो के रूप मे निर्वचित करते है। त्रिविमितीय दृष्टि ससार को उस आकार से, जो हमे त्रिविमितदर्शी प्रभाव के बिना देखने से दिखाई देता, एक बहुत ही भिन्न आकार दे देती है।

प्रांतस्था द्वारा निर्वचन—आप देखेंगे कि दृष्टि के कई पहलू, जिन्हे हम स्वाभाविक ही मान बैठे है, अनुभव द्वारा सीखने के परिणाम है। दूरी तथा गहराई के प्रत्यक्ष-ज्ञान के सकेत इसी श्रेणी मे आते है। फिर प्रक्षेप की घटना भी है। हम दृष्टि-पटल के अर्धांश पर पडनेवाली किरणो को दृष्टि-क्षेत्र के विपरीत भाग मे स्थित वस्तुओ से संबद्ध करना सीख लेते है। इस प्रकार यदि हम पहले की भाति दो पेसिलो को आगे-पीछे खडा करे और दूरवाली पेसिल पर दृष्टि को फोकस करे, तो हम पास की पेसिल के दो बिम्ब देखेंगे। अब दाहिनी आख को बन्द कर लीजिये और देखिये कि युगल बिम्ब का बाया बिम्ब गायब हो जाता है। किरणे चाहे दाहिनी आख को जानेवाली ही रोकी गई है, पर हम यही समझते है कि बाया बिम्ब गायब हो जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि रोकी जानेवाली किरणे दाहिने दृष्टिपटल के बाह्यार्ध पर पडी थी और अनुभव द्वारा हमने ऐसी स्थिति मे, जब कि प्रकाश की किरणे दृष्टि-पटल के इस भाग का अतिक्रमण करती है, वस्तुओ को दृष्टि-क्षेत्र के बाये भाग को प्रक्षेपित करना सीख लिया है।

हम दृष्टि-पटल पर पडनेवाले उल्टे बिबो का सामान्य या साधारण सवेदनो की भाति निर्वचन करते है। यह बात, कि वास्तव मे हम इसे सीखते है, निम्न-लिखित प्रयोग से सिद्ध होती है। एक वैज्ञानिक ने ऐसा चश्मा लगाया कि जिसने दृष्टिपटल पर बिम्ब सीधा खडा पड़ता था। कुछ दिन तक यही चश्मा लगाया रखकर उन्होने इस 'उल्टी दुनिया' का आदी होना सीख लिया। यह सीख लेने के बाद उन्होने चश्मा उतार दिया और अब उन्होने देखा कि उन्हे वस्तुओ की सामान्य स्थिति को निर्वचित करना फिर सीखना पड रहा है।

यह कहना अतिशयोक्ति नही कि नेत्र और दृष्टि-पथ मात्र कच्चा माल उपलब्ध करते है, जिसमे हमारी प्रमस्तिष्क-प्रांतस्था वास्तविक 'देखना' कर पाती है।

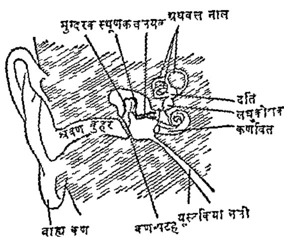
श्रवण

प्रकाश की किरणें जहा निर्वात मे होकर गुज़र सकती है, ध्वनि-तरंगो को वहा पानी या हवा-जैसा कोई माध्यम चाहिए। श्रवण-सग्राहकों तक पहुंचने के पहले ध्वनि-तरगो का इन दोनो ही माध्यमो से होकर सचरण आवश्यक है।

श्रवण की प्रक्रिया को दो भागों में बांटा जा सकता है। एक ध्वनि का भीतरी कान या आभ्यंतर कर्ण को संवहन है और दूसरा कर्णावित या कावित्रया द्वारा ध्वनि का संग्रहण तथा विवेचन है।

संवहन—कान या कर्ण के तीन भाग हैं—बाह्य मध्य तथा आभ्यंतर (आकृति 36)। कर्णपल्लव या बाह्य कर्ण ध्वनि तरंगों को श्रवण मार्ग या कर्ण कुहर नामक नाल में निर्देशित करता है। बाहरी कर्णों की कुछ कुछ सीप जैसी आकृति ध्वनि को नाल में निर्देशित करने में सहायक होती है। इस कार्य की दृष्टि से बाह्य कर्ण मनुष्य की अपेक्षा जन्तुओं के अधिक काम के हैं क्योंकि जन्तु उन्हें ध्वनि के स्रोत की दिशा की ओर मोड़ सकते हैं। हममें से भी कुछ लोग अपने कानों को चला सकते हैं लेकिन इससे अधिक हम उन्हें नहीं घुमा फिरा सकते। फिर भी बाह्य कर्ण काफी उपयोगी है।

श्रवण कुहर से होकर ध्वनि-तरंग कर्णपटह पहुंचती हैं। ये कर्णपटह में कंपन उत्पन्न कर देती हैं और इस झिल्ली के कंपन तीन अस्थिकाओं (छोटी हड्डियां)—मुग्दरक, स्पूणक या निहाई तथा वलयक या रकाब के एक पुल के द्वारा मध्यकर्ण में से होकर संचारित कर दिए जाते हैं।



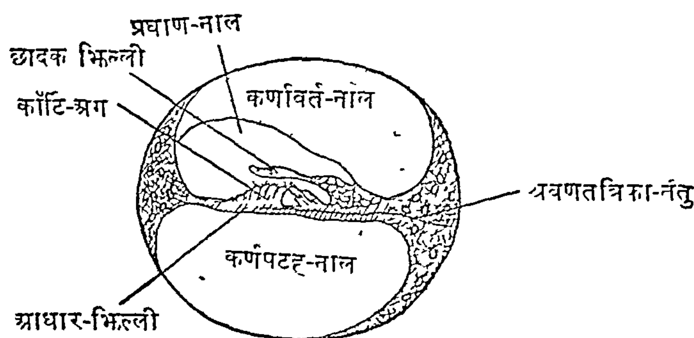
आकृति 36– सिर की एक काट, जिसमें बाह्य, मध्य तथा आभ्यंतर कर्ण दर्शाए गए हैं।

मध्यकर्ण में वायु भरी होती है जिसका उसी दाब पर जितना कि कर्णपटह के दूसरी ओर होता है रहना आवश्यक है ताकि कर्णपटह को क्षति न पहुंचे। यदि आप पहाड़ों पर चढ़े हों (या तेज लिफ्ट पर सवार होकर किसी ऊंची इमारत में ऊपर को गए हों) तो आपको अपने कानों में दाब का अनुभव हुआ होगा। इसके बाद अचानक 'चट' की आवाज, और दाब सम हो जाता है।

होता असल मे यह है—आपके ऊपर चढने के साथ-साथ वायुमडलीय दाब कम होता जाता है, जो कर्णपटह के दोनो ओर के दाव के सतुलन को भग कर देता है और अब मध्यकर्ण मे दाव अधिक हो जाता है। मध्यकर्ण ग्रसनी से एक नली द्वारा जुडा हुआ है, जिसे 'यूस्टेकिओ नली' कहते है। अधिकतर यह नली वद ही रहती है। जब आप निगलते है, तो यह खुल जाती है। ग्रसनी की अपेक्षा मध्य-कर्ण मे दाव अधिक रहने के कारण अब वायु मध्यकर्ण से यूस्टेकिओ नली द्वारा तब तक निकलती जाती है जब तक कि यह दाव समान नही हो जाता। 'चट्' की यह आवाज सभवत भीतर दाव के अधिक होने के कारण बाहर की ओर उभरे हुए कर्णपटह के झटककर पीछे हटने से पैदा होती है।

मध्यकर्ण की अस्थिकाओ द्वारा ये कपन मध्यकर्ण को आभ्यतर कर्ण से पृथक् करनेवाली झिल्ली, अडाकार द्वार को सचारित कर दिये जाते है। इस वर्णन को आगे ले जाने के पहले हमे कर्णावर्त की सरचना जान लेनी चाहिए।

कर्णवर्त की सरचना—आभ्यतर कर्ण का कर्णावर्त खोपडी की शखास्थि मे स्थित एक सर्पिल कुडलित अग है। अकुडलित किये जाने पर यह तीन नालो से बने शकु-जैसा नजर आता है। प्रघाण-नाल तथा कर्णपटह-नाल 'परिलसीका' नामक द्रव से भरी है और ये एक-दूसरे से कर्णावर्त के शीर्ष पर सयोजित होती है। दोनो के आधार पर क्रमश अडाकार तथा गोल द्वार है। केंद्रीय कर्णावर्त-नाल 'अतर्लसीका' नामक द्रव से भरी है।



आकृति 37—कर्णावर्त को आरपार काट

कर्णपटह-नाल तथा कर्णावर्त-नाल को आधार-झिल्ली पृथक् करती है, जिस पर कॉर्टि-अग स्थित है (आकृति 37)। कॉर्टि-अग मे 'लोम'-कोशिकाए या 'रोमाभि' कोशिकाए होती है। ये 'लोम'-कोशिकाए ही श्रवण-सग्राहक है और श्रवणतन्त्रिका-तन्तु इन्ही से निकलते है। 'लोम'-कोशिकाओ के रोमक छादक झिल्ली के सपर्क मे हैं, जो कॉर्टि-अग पर प्रलवित है।

ध्वनि-तरगो का सग्रहण—स्थूणक (निहाई) की गतियो द्वारा जब अडा-

बार द्वार कंपायमान हो जाता है तो वह परिलसीका म कंपन उत्पन्न कर देता है जो कर्णावत क समस्त द्रव तन्त्र म संचारित हो जाता है। द्रव की गतियां आधार भिल्ली को कंपायमान कर देती है जिसस लोम कोशिकाए उपर नीचे उछलने लगती है। यह समझा जाता है कि उनके इस प्रकार उछलते समय रोमक छादक भिल्ली स लगकर मुडते हैं। रोमको का मुडना संभवत श्रवण तन्त्रिका-तन्तुओ म तन्त्रिका आवेग उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त उद्दीपन है।

तारत्व का निर्धारण—श्रवण का अच्छा सिद्धान्त वही माना जायेगा जो विभिन्न तारत्वो या स्वरको म विभेद कर सकने का कारण बता सके। श्रवण का अनुनाद सिद्धान्त आधार भिल्ली क महत्त्व पर जोर देता है। यह भिल्ली विभिन्न लम्बाइयो क तन्तुओ की बनी है और इनकी तरतीब किसी हद तक पियानो के तारो जसी है। कर्णावत अपने शीर्ष की अपेक्षा आधार पर अधिक चौडा है पर आधार भिल्ली कर्णावत के शीर्ष पर ज्यादा चौडी है और उसके आधार पर कम। इस प्रकार उसके लम्बे तन्तु कर्णावत के शीर्ष पर और छोटे तन्तु उसके आधार पर है।

पियानो के लम्बे तार निम्नतारत्व की ध्वनिया या मद्र स्वर और छोटे तार उच्च स्वरक या तिपाती स्वर उत्पन्न करते है यह विश्वास किया जाता है निम्न आवृति ध्वनिया या निम्नस्वरक कर्णावत के शीर्ष पर के आधार भिल्ली के तन्तु को विशेषकर कंपायमान कर दते है। इन तन्तुओ पर की लोम-कोशिकाओ के लोम मुड जाते है और संबद्ध तन्त्रिकातन्तुओ द्वारा प्रमस्तिष्क प्रातस्था को तन्त्रिका आवेग भेज दिये जात है जहा निम्न या उच्चस्वरको के संवेदनो का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

इस सिद्धान्त की प्रयोगो द्वारा पुष्टि की जा चुकी है। कार्टि अंग के शीर्ष का विनाश निम्नस्वरको क प्रति बधिरता (बहरापन) उत्पन्न कर देता है। कारखाना मे जहा बडी तीव्रता की उच्च तारत्व ध्वनियो की बहुलता होती है काम करनेवालो म इन ध्वनियो के प्रति बधिरता उत्पन्न हो जाती है जिसे बायलर मकरो की बधिरता कहते हैं। मृत्यु के बाद उनके कर्णावतों की परीक्षा करने पर कर्णावत क आधार पर कार्टि अंग का अपक्षय पाया गया है।

प्रबलता का निर्धारण—यद्यपि यह निश्चितरूपेण सिद्ध तो नही किया जा सकता है पर यह विश्वास किया जाता है कि किसी ध्वनि की तीव्रता जितनी ही अधिक होती है आधार भिल्ली उतने ही जोरो स कंपन करती है। इसम प्रमस्तिष्क प्रातस्था को अधिक संख्या म तन्त्रिका आवेग जाते हैं जो उनका प्रबल ध्वनियो क रूप म निर्वचन करती है।

बधिरता या बहरापन—बधिरता क दो प्रकारो म स आमतौर पर केवल संवहन-बधिरता का ही इलाज किया जा सकता है। यह कान म मल या ठेठ जमा हो जाने स पैदा होती है और मल निकाल देन स ठीक की जा सकती है। संवहन सम्बन्धी एक अधिक गम्भीर विकार वह है जो मध्यकर्ण की हड्डियों के जड हो

जाने से, या कर्णपटहो मे छेद हो जाने से पैदा होता है। यदि इनसे स्वाभाविक श्रवण को स्थायी क्षति पहुंच जाती है, तो इस तथ्य का लाभ उठाया जा सकता है कि खोपड़ी की हड्डिया ध्वनि-तरगो का सवहन कर सकती है। इसके लिए श्रवण-सहायको का उपयोग किया जाता है, जो ध्वनि-तरगो को कंपनो मे परिवर्तित कर देती है, जो हड्डी के जरिये कर्णावर्त को सचारित कर दी जाती है। आप ध्वनि के अस्थि-सवहन को स्वय दर्शा सकते है। दोनो कानो को रूई की डाट से बन्द कर लीजिए और अपने दातो के बीच मे एक टिकटिक करती घड़ी रख लीजिये, घडी की टिकटिकाहट साफ सुनाई देगी।

अगर बहरापन श्रवण-तन्त्रिका या कॉर्टि-अग के किसी विकार के कारण है, तो वह असाध्य हो सकता है।

साम्यावस्था

आभ्यतर कर्ण के कर्णावर्त के अलावा दृति या यूट्रिकिल, लघुकोशक या सैक्यूल और अर्धवृत्त नलिकाए है (आकृति 36)। इन अगो मे साम्यावस्था के संग्राहक है।

स्थिति प्रतिवर्त—दृति तथा लघुकोशक अतर्लसीका से भरे है। प्रत्येक दृति तथा लघुकोशक मे लोम-कोशिकाओ का एक समूह होता है, जिनके लोमो पर एक 'पत्थर' रहता है। पत्थरो पर गुरुत्व बल का खिचाव पडता है और यह विश्वास किया जाता है कि केशो का झुकना या न झुकना (सिर की स्थिति के अनुसार) श्रवण-तन्त्रिका की शाखा, प्रघाण-तन्त्रिका जो लोम-कोशिकाओ से निकलती है, के तन्तुओ को उद्दीपित करने का पर्याप्त कारण है।

सिर की स्थिति जब भी गुरुत्व की सामेक्षता मे बदली जाती है, तो दृति में विशेष रूप से तन्त्रिका-आवेग उत्पन्न होते है, जो प्रघाण-केन्द्रको के जरिये अपवाही न्यूरॉनो तथा पेशियो के भेज दिये जाते है। ये आवेग पेशी-स्फूर्ति का स्वरूप बदलने तथा देह की स्थिर साम्यावस्था कायम रखने का काम करते है।

लघुकोशको के कार्य अभी अज्ञातप्राय है। तथापि दृति-परिवर्त देह की स्थिति मे परिवर्तनो के बावजूद सिर की सामान्य स्थिति बनाये रखने मे बडे महत्त्व के है। मनुष्य की अपेक्षा निम्न जन्तुओ मे ये अधिक सरलतापूर्वक दर्शाये जा सकते है, क्योकि मनुष्य मे—यदि वह चाहे, तो—अस्वाभाविक स्थितिया भी ऐच्छिक क्रिया द्वारा कायम रखी जा सकती है।

सुस्थितिकर प्रतिवर्त—जब मेढक, पक्षी या बिल्ली-जैसे किसी जन्तु को उसकी कमर के बल रख दिया जाता है, तो वह तुरन्त पलटकर अपनी सामान्य स्थिति मे आ जाता है। इसमे गतियो का पूरा क्रम सन्निहित होता है, जिन्हे आप बिल्ली को अधर उल्टा पकडकर और फिर उसे छोडकर स्वयं देख सकते हैं। अगर आप उसका धरती पर पैरो के बल उतरने के लिए उसके अधर मुड़ने पर गौर करे, तो आप देखेंगे कि वह अपने को एक सर्पिल तरीके से सीधा करती है—

कार द्वार कपायमान हो जाता है, तो वह परिलसीका म कपन उत्पन्न कर देता है, जो कर्णावत क समस्त द्रव त त्र म सचारित हो जाते हैं। द्रव की गतिया आधार झिल्ली को कपायमान कर देती हैं, जिसस नाम कोशिकाए उपर नीचे उछलन लगती हैं। यह समझा जाता है कि उनके इस प्रकार उछलते समय रोमक छादक झिल्ली स लगकर मुडते हैं। रोमको का मुडना सभवत श्रवण तन्त्रिका-तन्तुओ म तन्त्रिका आवेग उत्पन्न करने क लिए पर्याप्त उद्दीपन है।

तारत्व का निर्धारण—श्रवण का अच्छा सिद्धान्त वही माना जायेगा जो विभिन्न तारत्वो या स्वरको म विभेद कर सकने का कारण बता सके। श्रवण का अनुनाद सिद्धान्त आधार झिल्ली के महत्त्व पर जोर देता है। यह झिल्ली विभिन्न लम्बाइयो के तन्तुओ की बनी है और इनकी तरताव किसी हद तक पियानो के तारो जसी है। कर्णावित अपने शीष की अपेक्षा आधार पर अधिक चौडा है पर आधार झिल्ली कर्णावत के शीष पर ज्यादा चौडी है और उसके आधार पर कम। इस प्रकार उसके लम्बे तन्तु कर्णावत के शीष पर और छोटे तन्तु उसके आधार पर हैं।

पियानो के लम्बे तार निम्नतारत्व की ध्वनिया या मद्र स्वर और छोटे तार उच्च स्वरक या तिपाता स्वर उत्पन्न करते है यह विश्वास किया जाता है निम्न आवृत्ति ध्वनिया या निम्नस्वरक कर्णावित के शीप पर के आधार झिल्ली के तन्तु को विशेषकर कपायमान कर देते हैं। इन तन्तुओ पर की लोम-कोशिकाओ के लोम मुड जाते है और सबद्ध तन्त्रिका तन्तुओ द्वारा प्रमस्तिष्क प्रांतस्था को तन्त्रिका आवेग भेज दिये जाते है जहा निम्न या उच्चस्वरको के सवेदनो का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

इस सिद्धात की प्रयोगों द्वारा पुष्टि की जा चुकी है। कॉर्टि अग क भाग का विनाश निम्नस्वरको के प्रति बधिरता (बहरापन) उत्पन्न कर देता है। कार खानो म जहा बडी तीव्रता का उच्च तारत्व ध्वनियो की बहुलता होती है काम करनवालो में इन ध्वनियों के प्रति बधिरता उत्पन्न हो जाता है, जिसे बायलर मेकरो की बधिरता कहते है। मृत्यु क बाद उनके कर्णावर्तों की परीक्षा करने पर कर्णावित क आधार पर कॉर्टि अग का अपकर्ष पाया गया है।

प्रबलता का निर्धारण—यद्यपि यह निश्चितरूपेण सिद्ध वा नहीं किया जा सकता है पर यह विश्वास किया जाता है कि किसी ध्वनि की तीव्रता जितनी ही अधिक होती है आधार झिल्ली उतने ही जोरो स कपन करती है। इसस प्रमस्तिष्क प्रांतस्था को अधिक सख्या म तन्त्रिका आवेग जाते हैं जो उनका प्रवन ध्वनिया क रूप म निर्वचन करती है।

बधिरता या बहरापन—बधिरता क दो प्रकारो म स आमतौर पर केवल सवहन-बधिरता का ही इलाज किया जा सकता है। यह कान म मल या ठेठ जमा हो जाने स पैदा होती है और मल निकाल देने स ठीक की जा सकती है। सवहन सम्बन्धी एक अधिक गम्भीर विकार वह है जो मध्यकर्ण का हड्डिया क जुड हो

जाने से, या कर्णपटहो मे छेद हो जाने से पैदा होता है। यदि इनसे स्वाभाविक श्रवण को स्थायी क्षति पहुंच जाती है, तो इस तथ्य का लाभ उठाया जा सकता है कि खोपडी की हड्डिया ध्वनि-तरगो का सवहन कर सकती है। इसके लिए श्रवण-सहायको का उपयोग किया जाता है, जो ध्वनि-तरगो को कपनो मे परिवर्तित कर देती है, जो हड्डी के जरिये कर्णावर्त को सचारित कर दी जाती है। आप ध्वनि के अस्थि-सवहन को स्वय दर्शा सकते है। दोनो कानो को रूई की डाट से बन्द कर लीजिए और अपने दातो के बीच मे एक टिकटिक करती घडी रख लीजिये, घडी की टिकटिकाहट साफ सुनाई देगी।

अगर बहरापन श्रवण-तत्रिका या कॉर्टि-अग के किसी विकार के कारण है, तो वह असाध्य हो सकता है।

साम्यावस्था

आभ्यंतर कर्ण के कर्णावर्त के अलावा दृति या यूट्रिकिल, लघुकोशक या सैक्यूल और अर्धवृत्त नलिकाए है (आकृति 36)। इन अगो मे साम्यावस्था के संग्राहक है।

स्थिति प्रतिवर्त—दृति तथा लघुकोशक अतर्लसीका से भरे है। प्रत्येक दृति तथा लघुकोशक मे लोम-कोशिकाओ का एक समूह होता है, जिनके लोमो पर एक 'पत्थर' रहता है। पत्थरो पर गुरुत्व बल का खिचाव पडता है और यह विश्वास किया जाता है कि केशो का झुकना या न झुकना (सिर की स्थिति के अनुसार) श्रवण-तत्रिका की शाखा, प्रघाण-तन्त्रिका जो लोम-कोशिकाओ से निकलती है, के तन्तुओ को उद्दीपित करने का पर्याप्त कारण है।

सिर की स्थिति जब भी गुरुत्व की सापेक्षता मे बदली जाती है, तो दृति मे विशेष रूप से तन्त्रिका-आवेग उत्पन्न होते है, जो प्रघाण-केन्द्रको के जरिये अपवाही न्यूरॉनो तथा पेशियो के भेज दिये जाते है। ये आवेग पेशी-स्फूर्ति का स्वरूप बदलने तथा देह की स्थिर साम्यावस्था कायम रखने का काम करते है।

लघुकोशको के कार्य अभी अज्ञातप्राय है। तथापि दृति-परिवर्त देह की स्थिति मे परिवर्तनो के बावजूद सिर की सामान्य स्थिति बनाये रखने मे बडे महत्त्व के है। मनुष्य की अपेक्षा निम्न जन्तुओ मे ये अधिक सरलतापूर्वक दर्शाये जा सकते है, क्योकि मनुष्य मे—यदि वह चाहे, तो—अस्वाभाविक स्थितिया भी ऐच्छिक क्रिया द्वारा कायम रखी जा सकती है।

सुस्थितिकर प्रतिवर्त—जब मेढक, पक्षी या बिल्ली-जैसे किसी जन्तु को उसकी कमर के बल रख दिया जाता है, तो वह तुरन्त पलटकर अपनी सामान्य स्थिति मे आ जाता है। इसमे गतियो का पूरा क्रम सन्निहित होता है, जिन्हे आप बिल्ली को अधर उल्टा पकडकर और फिर उसे छोडकर स्वय देख सकते है। अगर आप उसका धरती पर पैरो के बल उतरने के लिए उसके अधर मुडने पर गौर करे, तो आप देखेगे कि वह अपने को एक सर्पिल तरीके मे सीधा करती है—

पहले सिर, फिर देह का अगला हिस्सा और अंत में पिछला हिस्सा। इन गतियों की प्रकृति प्रतिवर्ती है और इन्हें सुस्थितिकर परिवर्त कहते हैं।

बिल्ली के पीठ के बल होने पर दृति में उत्पन्न उद्दीपन गर्दन की पेशियों को इस प्रकार कुंचित करते हैं कि जिससे सिर सीधा हो जाता है। गर्दन की पेशियों का उमेठना गर्दन के स्नायुओं में अंतक संवेदी आवेग उत्पन्न करता है जो पैरों तथा देह की पेशियों में प्रतिवर्ती अनुक्रियाएं उत्पन्न कर देते हैं। ये अंततः पैरों तथा देह को ठीक स्थिति में ले आते हैं।

यदि दृतियां अलग कर दी जाएं तो जंतुओं के लिए अपने को सीधा करना बहुत कठिन हो जाता है—विशेषकर सिर ढीला लटकने लगता है। तथापि अच्छी दृष्टिवाले जंतुओं में अतिरिक्त दृष्टि सुस्थितिकर प्रतिवर्त होते हैं जो दृति प्रतिवर्तों के स्थान पर काम कर सकते हैं। यदि किसी दृतिहीन जंतु की आंखों पर पट्टी बांधी जाय तो उसके लिए अपनी स्थिर साम्यावस्था बनाए रखना असंभव हो जाता है।

गतिज प्रतिवर्त—प्रत्येक आभ्यंतर कर्ण में तीन अर्धवृत्त नलिकाएं होती हैं। हर नलिका अन्य दोनों के साथ समकोण पर होती है। ये नलिकाएं भी अंतर्लसीका से भरी होती हैं और इनमें लोम कोशिका संग्राहक होते हैं। ये संग्राहक सिर की गतियों की अनुक्रिया में प्रतिवर्त उत्पन्न करते हैं जब कि दृति संग्राहक केवल सिर की स्थिति में परिवर्तनों की ही अनुक्रिया करते हैं।

हर नलिका दृति से दो बिन्दुओं पर मिलती है। इनमें से एक बिन्दु पर कुछ उभार होता है जिसमें लोम कोशिकाएं होती हैं। जब सिर गति करता है तो अवस्थितत्व के कारण इन नलिकाओं में अंतर्लसीका पीछे रहने और इस प्रकार सिर की गति की विपरीत दिशा में जाने लगती है। अंतर्लसीका की यह गति लोम-कोशिकाओं को उद्दीपित करती है, जो फिर लोम कोशिकाओं से निकलने वाली प्रशाखाएं तन्त्रिका के तंतुओं में तन्त्रिका आवेग उत्पन्न करती हैं।

सिर के घूमने या घूर्णन के प्रति अनुक्रियाएं विशेषकर अधिक स्पष्ट होती हैं। यदि सिर एक ही दिशा में घुमाया जाता है, तो लोम कोशिकाओं का उद्दीपन चक्कर आने का संवेदन उत्पन्न करता है और सिर तथा आंखों की प्रतिवर्ती अनुक्रियाएं भी उत्पन्न करता है। घूर्णन के समय सिर और आंखों की गति विपरीत दिशा में होती है। घूर्णन बन्द होता है तो अन्तर्लसीका अपनी पूर्व गति की दिशा से विपरीत दिशा में जाने लगती है (अवस्थितत्व के कारण) और अब सिर तथा आंखें घूर्णन की ही दिशा में चलने लगती हैं।

अर्धवृत्त नलिकाओं के उद्दीपन की प्रतिवर्ती अनुक्रिया का एक अन्य उदाहरण है आपके ठोकर खाकर गिरते समय हाथों का बाहर की ओर सहारा पाने के लिए फैल जाना। इस प्रकार सिर की गतियां अर्धवृत्त नलिकाओं के जरिए प्रतिवर्ती अनुक्रियाएं उत्पन्न करती हैं। सिर की नार्मल स्थिति दृति प्रतिवर्तों द्वारा कायम रखी जाती है। ये सारे प्रतिवर्त सिर तथा आंखों की स्वाभाविक स्थिति बनाए

रखने के काम आते हैं और देह की साम्यावस्था बनाए रखते है।

इस बात का कुछ प्रमाण मिलता है कि अर्धवृत्त नलिकाओ का उद्दीपन कम-से-कम कुछ अश तक जहाजी मतली उत्पन्न करने का कारण है। जहाज का डोलना किन्ही नलिकाओ मे के सग्राहको को उद्दीपित कर देता है। 'ड्रामामीन' नाम की औषधि साम्य-भग के परिणामो के विरुद्ध प्रभावशाली पाई गई है, और कई लोगो के लिए एक और नई औषधि, 'वोनामीन' उससे भी अधिक प्रभावशाली साबित हुई है।

स्वाद और गंध

यद्यपि स्वाद प्राय गध पर ही निर्भर करता लगता है, तथापि इन दोनो सवेदनो का अन्यान्य सम्बन्ध दिखाना बहुत कठिन सिद्ध हुआ है। सन्निहित सग्राहको, प्रमस्तिष्क-प्रातस्था को जानेवाले मार्गों तथा प्रातस्था मे प्रतिनिधित्व के सवेदन-क्षेत्रो के प्रकारो के हिसाब से वे असमान है। वास्तव मे इन मामलो मे स्वाद और गध की अपेक्षा स्वाद मे तथा मुख के भीतर उत्पन्न होनेवाली सवेदना के अन्य प्रकारो (स्पर्श और ताप) मे कही अधिक समानता है।

गध—मनुष्य गध के सवेदन पर बहुत निर्भर नही है। कुछ निम्न जतु इस पर कही अधिक निर्भर करते है। वस्तुत उनके विकास के आरम्भ मे उनके प्रमस्तिष्क-गोलार्ध मुख्यत गध-केद्र ही थे। इसकी पुरातनता और प्रकट सरलता के बावजूद अधिक जटिल सवेदनो की अपेक्षा गंध के सवेदन की जानकारी बहुत कम है।

घ्राण-सग्राहक मितरगामी श्वसन-पथ के ऊपर नासा-श्लेष्मा मे स्थित हैं। किसी वस्तु की गंध लेने मे उसे सूघना लाभप्रद रहता है, क्योकि यह वायुवहित रसायनो को गध-सग्राहको के प्रदेश तक ले जाता है, सामान्य श्वसन मे वायु अपनी फेफडो की यात्रा मे अधिकतर उनके पास से ही होकर गुजर सकती है।

गधों का कोई सतोषजनक वर्गीकरण नही हुआ है, जिससे हम विशेष रूप से यही कहते है कि अमुक वस्तु मे अमुक वस्तु-जैसी गध है। इसका कारण यह है कि जितनी तरह-तरह की गध है, लगता है कि उनके लिए उतने ही तरह-तरह के गध-सग्राहक भी है। इसका कुछ आभास इस बात से मिलता है कि गध-सग्राहक कितनी आसानी से क्लात हो जाते है। किसी गध द्वारा कुछ ही मिनट के निरतर उद्दीपन के बाद हम उसे पहचानने की क्षमता को पूरी तरह से गवा सकते है। लेकिन अगर हम तुरन्त ही कोई और गध सूघे, तो पहली गध के प्रति क्लाति हमारे दूसरी गध के सवेदन मे किसी प्रकार बाधक बनती नही लगती है।

घ्राण-सग्राहक अपने को काफी तेजी के साथ अनुकूलित भी कर लेने लगते है। आप सभवत इस तथ्य से अवगत हो कि आप अपने को किसी अप्रिय गध के प्रति जल्दी ही अभ्यस्त बना सकते है, और जल्दी ही उसकी उपस्थिति का भी पता नही चला पाते।

पहले सिर फिर देह का अगला हिस्सा और अंत में पिछला हिस्सा। इन गतियों की पद्धति प्रतिवर्ती है और इन्हें 'सुस्थितिकर परिवर्तन' कहते हैं।

बिल्ली के पीठ के बल होने पर गति से उत्पन्न उद्दीपन गर्दन की पेशियों को इस प्रकार कुंचित करते हैं कि जिससे सिर सीधा हो जाता है। गर्दन की पेशियों का उमठना गर्दन के स्नायुओं में उत्तक संवेदी आवेग उत्पन्न करता है, जो परों तथा देह की पेशियों में प्रतिवर्ती अनुक्रियाएं उत्पन्न कर देते हैं। ये प्रतिवर्त परों तथा पेट को ठीक स्थिति में ले आते हैं।

यदि दंतिया अलग कर दी जाएं तो जंतुओं के लिए अपने को सीधा करना बहुत कठिन हो जाता है—विशेषकर सिर ढीला लटकने लगता है। तथापि अच्छी दृष्टिवाले जंतुओं में अतिरिक्त दृष्टि सुस्थितिकर प्रतिवर्त होते हैं जो दृति प्रतिवर्तों के स्थान पर काम कर सकते हैं। यदि किसी दंतिहीन जन्तु की आंखों पर पट्टी बांधी जाय, तो उसके लिए अपनी स्थिर साम्यावस्था बनाये रखना असंभव हो जाता है।

गतिज प्रतिवर्त—प्रत्येक आभ्यंतर कर्ण में तीन अर्धवृत्त नलिकाएं होती हैं। हर नलिका अन्य दोनों के साथ समकोण पर होती है। ये नलिकाएं भी अंतर्लसीका से भरी होती हैं और इनमें लोम कोशिका संग्राहक होते हैं। ये संग्राहक सिर की गतियों की अनुक्रिया में प्रतिवर्त उत्पन्न करते हैं जब कि दृति संग्राहक केवल सिर की स्थिति में परिवर्तनों की ही अनुक्रिया करते हैं।

हर नलिका दृति से दो बिन्दुओं पर मिलती है। इनमें से एक बिन्दु पर कुछ उभार होता है जिसमें लोम कोशिकाएं होती हैं। जब सिर गति करता है तो अवस्थितत्व के कारण इन नलिकाओं में अंतर्लसीका पीछे रहने और इस प्रकार सिर की गति की विपरीत दिशा में जाने लगती है। अंतर्लसीका की यह गति लोम कोशिकाओं को उद्दीपित करती है जो फिर लोम कोशिकाओं से निकलने वाली प्रशाखा तन्त्रिका के तंतुओं में तन्त्रिका आवेग उत्पन्न करती है।

सिर के घूमने या घूर्णन के प्रति अनुक्रियाएं विशेषकर अधिक स्पष्ट होती हैं। यदि सिर एक ही दिशा में घुमाया जाता है तो लोम कोशिकाओं का उद्दीपन चक्कर आने का संवेदन उत्पन्न करता है और सिर तथा आंखों की प्रतिवर्ती अनुक्रियाएं भी उत्पन्न करता है। घूर्णन के समय सिर और आंखों की गति विपरीत दिशा में होती है। घूर्णन बन्द होता है तो अन्तर्लसीका अपनी पूर्व गति की दिशा से विपरीत दिशा में जाने लगती है (अवस्थितत्व के कारण) और अब सिर तथा आंखें घूर्णन की ही दिशा में चलने लगती हैं।

अर्धवृत्त नलिकाओं के उद्दीपन की प्रतिवर्ती अनुक्रिया का एक अन्य उदाहरण है अचानक ठोकर खाकर गिरते समय हाथों का बाहर की ओर सहारा पाने के लिए फैल जाना। इस प्रकार सिर की गतियां अर्धवृत्त नलिकाओं के जरिए प्रतिवर्ती अनुक्रियाएं उत्पन्न करता है। सिर की नई स्थिति दृति प्रतिवर्तों द्वारा कायम रखी जाती है। ये सारे प्रतिवर्त सिर तथा आंखों की स्वाभाविक स्थिति बनाए

रखने के काम आते है और देह की साम्यावस्था बनाए रखते है।

इस बात का कुछ प्रमाण मिलता है कि अर्धवृत्त नलिकाओ का उद्दीपन कम-से-कम कुछ अग तक जहाजी मतली उत्पन्न करने का कारण है। जहाज का डोलना किन्ही नलिकाओ मे के सग्राहको को उद्दीपित कर देता है। 'ड्रामामीन' नाम की औषधि साम्य-भग के परिणामो के विरुद्ध प्रभावशाली पाई गई है, और कई लोगो के लिए एक और नई ओषधि, 'बोनामीन' उससे भी अधिक प्रभावशाली साबित हुई है।

स्वाद और गंध

यद्यपि स्वाद प्राय गध पर ही निर्भर करता लगता है, तथापि इन दोनो सवेदनो का अन्यान्य सम्बन्ध दिखाना बहुत कठिन सिद्ध हुआ है। सन्निहित सग्राहको, प्रमस्तिष्क-प्रातस्था को जानेवाले मार्गो तथा प्रातस्था मे प्रतिनिधित्व के सवेदन-क्षेत्रो के प्रकारो के हिसाब से वे असमान है। वास्तव मे इन मामलो मे स्वाद और गध की अपेक्षा स्वाद मे तथा मुख के भीतर उत्पन्न होनेवाली सवेदना के अन्य प्रकारो (स्पर्श और ताप) मे कही अधिक समानता है।

गध—मनुष्य गध के सवेदन पर बहुत निर्भर नही है। कुछ निम्न जतु इस पर कही अधिक निर्भर करते है। वस्तुत उनके विकास के आरम्भ मे उनके प्रमस्तिष्क-गोलार्ध मुख्यत गध-केद्र ही थे। इसकी पुरातनता और प्रकट सरलता के बावजूद अधिक जटिल सवेदनो की अपेक्षा गध के सवेदन की जानकारी बहुत कम है।

घ्राण-सग्राहक मितरगामी श्वसन-पथ के ऊपर नासा-श्लेष्मा मे स्थित है। किसी वस्तु की गध लेने मे उसे सूघना लाभप्रद रहता है, क्योकि यह वायुवहित रसायनो को गध-सग्राहको के प्रदेश तक ले जाता है, सामान्य श्वसन मे वायु अपनी फेफडो की यात्रा मे अधिकतर उनके पास से ही होकर गुजर सकती है।

गधों का कोई सतोपजनक वर्गीकरण नही हुआ है, जिससे हम विशेप रूप से यही कहते है कि अमुक वस्तु मे अमुक वस्तु-जैसी गध है। इसका कारण यह है कि जितनी तरह-तरह की गध है, लगता है कि उनके लिए उतने ही तरह-तरह के गंध-सग्राहक भी है। इसका कुछ आभास इस बात से मिलता है कि गध-सग्राहक कितनी आसानी से क्लात हो जाते है। किसी गध द्वारा कुछ ही मिनट के निरतर उद्दीपन के बाद हम उसे पहचानने की क्षमता को पूरी तरह से गवा सकते है। लेकिन अगर हम तुरन्त ही कोई और गध सूघे, तो पहली गध के प्रति क्लाति हमारे दूसरी गध के सवेदन मे किसी प्रकार बाधक बनती नही लगती है।

घ्राण-सग्राहक अपने को काफी तेजी के साथ अनुकूलित भी कर लेने लगते है। आप सभवत इस तथ्य से अवगत हो कि आप अपने को किसी अप्रिय गध के प्रति जल्दी ही अभ्यस्त बना सकते है, और जल्दी ही उसकी उपस्थिति का भी पता नही चला पाते।

स्वाद—स्वादों के प्रकार में प्रकटत बड़ा वभिन्य होने के बावजूद केवल चार विशिष्ट स्वाद गवेषणा को ही स्वीकार किया जाता है—नमकीन मीठा खट्टा और कड़वा। इनमें से प्रत्येक के लिए एक विशिष्ट प्रकार की स्वाद-कलिका या सग्राहक है। जिह्वा पर ये सग्राहक सर्वाधिक सख्या में हैं किन्तु मुख मुह की श्लेष्मा तथा ग्रसनी में भी उपस्थित हैं।

विभिन्न स्वाद सवदनो की स्वाद-कलिकाए जिह्वा की सतह पर समान रूप से वितरित नहीं हैं। मीठी तथा नमकीन वस्तुओं के प्रति सवदी कलिकाए मुख्यत जिह्वा की नोक पर स्थित हैं अम्लीय वस्तुओं के प्रति सवदी-कलिकाए जिह्वा के पार्श्वों पर और कड़वी वस्तुओं के प्रति सवदी कलिकाए जिह्वा के पिछले भाग की ओर स्थित हैं। हम इस तथ्य को अचेतन रूप से ग्रहण करने लगते हैं क्योंकि हम सुरा (जो मीठी या खट्टी मीठी होती है) को तो चुस्की से लेकर पर बीअर (जो कसैली होती है) को निगलते हुए पीते हैं। बच्चों का मीठी गोलियां को चूसना इसका एक और उदाहरण है।

स्वाद सवेदन के विभिन्न प्रकार चार मूल सवदनों के सयोग से—इन वस्तुओं द्वारा मुख में उत्पन्न अन्य सवेदना से (मिसाल के तौर पर गरम या ठंडे भोजन या पेय के 'स्वाद में भेद'), या इन वस्तुओं से उत्पन्न गधो द्वारा गध सग्राहको के समकालिक उद्दीपन से उत्पन्न होते है।

अन्य सवेद

पेशियों कडराओं तथा सधियों से आनेवाले ऊतक सवदी सवदन हम हमारी देह के भागों की स्थिति तथा पेशियों के तनाव की सीमा के बारे में सूचना देते हैं।

त्वचा ज्ञान या त्वचा सवद हैं स्पर्श दाब ऊष्मा शीत तथा पीडा। इनमे से प्रत्येक अपने ही प्रकार के सग्राहक में उत्पन्न होता है और स्वाद कलिकाओं की ही भांति ये सग्राहक देह की सतह पर समान रूप से वितरित नहीं हैं। हाथ के पिछले भाग या प्रबाहु की अपेक्षा उंगलियों के छोर स्पर्श तथा दाब के प्रति, अधिक सुग्राही हैं। नेत्र गोलक के कॉर्निआ में केवल पीडा सग्राहक ही हैं आदि आदि। त्वचा पर एक बारीक नोकवाला उपकरण लगाकर विभिन्न त्वचा-सग्राहकों का काफी आसानी से पता चलाया जा सकता है। तब यह मालूम होता है कि एक विशेष बिंदु वहा स्थित सग्राहक के प्रकार के अनुसार केवल स्पर्श या पीडा या ऊष्मा के सवेदन ही उत्पन्न करेगा।

उद्दीपन के सामान्य सामातरो के भीतर हम अपने को स्पर्श तथा ताप सवेदना के प्रति काफी जल्दी अनुकूलित कर लेते हैं। उदाहरण के लिए हम अपने पहने हुए कपड़ों के स्पर्श की प्राय कोई चेतना नहीं होती। या अपनी एक उगली गुनगुने पानी में डालिए और दूसरी ठंडे पानी में, अब दोनों उंगलियां को कमरे के ताप पानी में डाल दीजिए। जो उंगली गुनगुने पानी में थी वह अब सरदी का और दूसरी उंगली गरमी का अनुभव करती है। ताप-सग्राहकों ने अपने

ो उन गरम तथा ठडे तापो के प्रति अनुकूलित कर लिया है जिनमे उनको खुला खा गया है और अब कमरे का ताप प्रत्येक उगली के लिए उद्दीपन का काम रता है, जिससे एक उगली उसे ठडा पाती है और दूसरी गरम।

पीडादायी उद्दीपन के प्रति हम अपने को सुगमतापूर्वक अनुकूलित नही कर ाते। यह बात हमारे लिए बहुत उपयोगी है, क्योकि पीडा इस बात की चेतावनी ने का काम करती है कि यदि कोई अनुक्रिया न हुई, तो देह को कोई हानि हो ही है या होगी।

सवेदनो की विशिष्टता

कोई सग्राहक चाहे किसी भी प्रकार से उद्दीपित क्यो न होता हो, वह सदा एक ही सवेदन का आभास करायेगा। अगर हमे आख मे चोट लगती है और हमे 'तारे' दिखाई दे जाते है, तो इसका कारण यह है कि दृष्टिपटल-सग्राहक उद्दीपित हो गये थे—चाहे यान्त्रिक तरीके से ही। या अपनी घाव की परीक्षा करने की सूई—एषणी से आप सारे ही त्वचा-सग्राहको को यान्त्रिक उद्दीपन द्वारा उद्दीपित कर सकते है और तिस पर भी ताप और पीडा तथा स्पर्श-सवेदनाए प्राप्त कर सकते है।

इसका अर्थ यह है कि भिन्न-भिन्न सवेदी ततुओ मे तन्त्रिका-आवेग स्वय भिन्न नही होते, प्रत्युत उनका अत मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न प्रदेशो मे होता है। सवेदन का निर्वचन पथो के अन्तिम छोर पर होता है और ये अग्र सयोजन ही सवेदनो की विशिष्टता निर्धारित करते है। यदि हम शलाकाओ तथा शकुओ को श्रवण-तन्त्रिका से और कर्णावर्त की लोम-कोशिकाओ को दृष्टि-तन्त्रिका से सयोजित कर सकते (मस्तिष्क मे इन तन्त्रिकाओ के अन्तागो को अपरिवर्तित ही रखकर), तो ध्वनि बिंब-रूप मे और प्रकाश-किरण ध्वनि-रूप मे निर्वचित होती।

गध के अतिरिक्त चेतना तक पहुचनेवाले सवेदनो का आदान-प्रदान करने वाले सभी पथो का चेतक मे एक माध्यमिक केन्द्र होता है (आकृति 27)। यहा प्रमस्तिष्क-प्रातस्था मे जाने से पहले सवेदी ततुओ का पुनर्गठन होता है। चेतक से ततुओ के उपयुक्त समूह प्रमस्तिष्क-प्रातस्था के विभिन्न क्षेत्रो—दृष्टि-क्षेत्र, श्रवण-क्षेत्र (श्रवण तथा साम्यावस्था) को और सामान्य सवेदन-क्षेत्र (पेशी तथा कडरा-सवेद, अधिकाश त्वचा-सवेद, स्वाद) को जाते है (आकृति 31)। गध के क्षेत्र का यथार्थ स्थिति-निर्धारण नही हो पाया है, किन्तु यह भी प्रमस्तिष्क-प्रातस्था मे ही है। यह केवल आवेगो के प्रातस्था क्षेत्रो मे पहुचने पर ही होता है कि हम उद्दीपित किये जाने से अवगत होते है अर्थात् हम किसी सवेदन का प्रत्यक्ष ज्ञान करते है।

इस अन्तिम कथन का एकमात्र सभव अपवाद 'पीडा' का सवेद है। इसकी चेतना का स्थल स्वय चेतक मे हो सकता है। प्रमस्तिष्क-प्रातस्था का कोई भी क्षेत्र उद्दीपित किया जाने पर पीडा का सवेद उत्पन्न नही करता पाया गया है। इसके अलावा, रोग मे या दुर्घटना के कारण चेतक के भागो का विनाश सम्भवत.

मनुष्य द्वारा अनुभूत तीव्रतम पीड़ा उत्पन्न कर सकता है।

तथापि मन में याद रखना चाहिए कि तत्रिका तत्र के इन स्तरों पर भी आगत सवेदी आवेग प्रतिवर्ती क्रिया में परिणत हो जाते हैं अर्थात् ये आवेग सवेदन क्षेत्र के चुराना तथा सवेदनग्राहियों को आवेग भजन के लिए सक्रिय कर सकते हैं। यह संभव है कि कुछ सक्रियताएं जिन्हें हम ऐच्छिक समझते हैं इस प्रकार के जटिल परिवर्त ही हों। यह अधिक संभव है कि इस प्रकार के परिवर्त हमारी ऐच्छिक क्रियाओं को परिवर्तित कर रहे हों।

उच्च मानसिक क्रियाएं

विकास के क्रम में जतु जितना ही आगे होता है जटिल क्रियाओं के निष्पादन तथा स्वयं जीवन के लिए भी वह प्रमस्तिष्क प्रांतस्था पर उतना ही अधिक निर्भर होता जाता है। ऐसा मेंढक जिसके प्रमस्तिष्क गोलार्ध निकाल दिए गये हैं प्रकटतः अपनी सभी सामान्य क्रियाओं का निष्पादन कर सकता है सामान्य मेंढक से उसका विभेद बस अपने आस पास की वस्तुओं के प्रति उसकी उदासीनता से ही किया जा सकता है। छिन्न प्रांतस्थ पक्षी या कुत्ते को यदि उचित उपचार मिले, तो वह उड़ या चल सकता है खाना निगल सकता है और महीनों जीवित रह सकता है। तथापि ऐसे जन्तु केवल तब ही चलते फिरते हैं जब क्षुधा प्यास या अन्य अशक्तिकर सवेदना का तीव्र उद्दीपन उन्हें ऐसा करने के लिए विवश कर देता है। और वे सामने रखे खाने को न पहचानते हैं न खाते हैं वरन् जीवित रखने के लिए उन्हें खिलाया जाना पड़ता है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि अपने भ्रौणीय परिवर्धन में किसी दोष के कारण मानव शिशु बिना प्रमस्तिष्क प्रांतस्था के पैदा हो जाते हैं। ऐसे शिशु चाहे कितना ही क्यों न जियें उनमें सीखने की क्षमता बिल्कुल ही नहीं होती। वयस्क व्यक्ति में प्रांतस्था का व्यापक विनाश आमतौर पर सघातक रहता है।

प्रमस्तिष्क प्रांतस्था के भिन्न भिन्न भागों के कार्यों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अध्ययन के विभिन्न तरीके अपनाये गये हैं। प्रयोगगत जीवों में प्रांतस्था के छोटे या बड़े क्षेत्रों का विनाश किया जा सकता है और ऐसी क्रियाओं के प्रभावों का प्रेक्षण तथा परीक्षण किया जा सकता है। इसी प्रकार मनुष्य में प्रांतस्था के रोग या दुर्घटना से ऐसी ही सूचना उपलब्ध होती है। सवेदन हरण के अंतर्गत प्रांतस्था का स्थानीकृत उद्दीपन यह भी निश्चित कर सकता है कि कोई क्षेत्र प्रेरक सक्रियता को नियंत्रित करता है या वह कोई सवेदन क्षेत्र है। यदि उद्दीपन से पेशीय सक्रियता उत्पन्न होती है तो उस क्षेत्र की प्रकृति प्रेरक होना चाहिए। स्थानीकृत सवेदनहरण के अंतर्गत शल्य क्रिया के दौरान खुले हुए मानव मस्तिष्कों को उद्दीपित करना संभव हो सका है। रोगी यह बतला सकता है कि इन परिस्थितियों में कौन सी सवेदना का प्रत्यक्ष बोध होता है।

एक अधिक नया तरीका मस्तिष्क-तरंगों का उपयोग करता है। पुरानी हर

समय निरतर सक्रिय रहते है और इस सक्रियता के परिणामस्वरूप विद्युत ऊर्जा उत्पन्न करते हैं। कोशिकाओ या प्रदेशो के वीच ऊर्जा-अतरो को मस्तिष्क-विभवो के रूप मे पृथक् निकाला जा सकता है। मतिस्तष्क-विभवो का अभिलेख विद्युत-मस्तिष्क ऐक्स-रे लेखन या 'इलेक्ट्रोएन्सेफैलोग्राम' कहलाता है। मस्तिष्क-विभव भिन्न-भिन्न होते है और पृथक्-पृथक् प्रातस्था क्षेत्रो के लाक्षणिक होते है। विद्युदग्रो द्वारा मस्तिष्क-विभवो को मस्तिष्क से ले जाया जा सकता है और देह के किसी भाग के उद्दीपित किये जाने के समय उनमे आये परिवर्तन देखे जा सकते है। मस्तिष्क-विभव मस्तिष्कार्वुदो या दिमाग की रसौलियो तथा अपस्मार या मिरगी के अध्ययन और उपचार मे भी उपयोगी सिद्ध हुए है।

सयोजन-क्षेत्र—प्रमस्तिष्क-प्रातस्थाओ के अधिकाश का कोई विशिष्ट सवेदी या प्रेरक कार्य नही है। यह सार्थक क्रियाओ तथा प्रत्यक्ष ज्ञान और समस्त उच्च मानसिक कार्यो के लिए आवश्यक सयोजन-क्षेत्रो से सरचित है।

यह ठीक है कि प्रेरक क्षेत्रो का प्रायोगिक उद्दीपन गति उत्पन्न करता है, लेकिन कोई वास्तविक प्रयोजनपूर्ण गति नही उत्पन्न करता। ऐसा विश्वास किया जाता है कि दैनंदिन जीवन मे हम जो सार्थक क्रियाए करते है, वे प्रेरक क्षेत्रो के चहु ओर के सयोजन-क्षेत्रो द्वारा प्रेरक क्षेत्रो के प्रतिरूपित उद्दीपन के परिणाम है।

कुछ इसी प्रकार हम विश्वास करते है कि किसी सवेदन-क्षेत्र का सक्रिय-करण प्रत्यक्ष ज्ञान की केवल कच्ची सामग्री ही उत्पन्न करता है। दृष्टि-सवेदन क्षेत्र द्वारा प्रत्यक्षित 'एक गोल-सी रगीन वस्तु' 'नारगी' तभी वन जाती है कि जव दृष्टिसयोजन-क्षेत्र का काम भी उसमे सम्मिलित कर दिया जाए।

भाव, स्मृति, अधिगम—भाव या मनोवेग वे मानसिक अवस्थाए है, जिनका उद्गम—मनोवैज्ञानिक अर्थो मे—अभी तक अस्पष्ट है। हमे इस वात की वहुत ही कम जानकारी है कि प्रातस्था के कौनसे भाग उनके लिए उत्तरदायी है। हाल के कुछ वर्षो मे ललाट-पालि सयोजन-क्षेत्रो की ओर काफी ध्यान दिया गया है, क्योकि यह दिखलाया गया कि ललाट-पालि की शल्यक्रिया (ललाट-पालि का अधश्चेतक से सयोजन-विच्छेद कर देना) मानसिक रोग के तीव्र भावात्मक विक्षोभ को कम कर सकता है ऐसी शल्यक्रियाए सभी मामलो मे लाभप्रद नही होती, इसलिए हम अभी भी निश्चित रूप से नही कह सकते कि ललाट-पालिया ही भावों के लिए उत्तरदायी है। तथापि यह ठीक लगता है कि आतरागीय अनुक्रियाओ को नियत्रत करनेवाले अधश्चेतक केन्द्र प्रमस्तिष्क-प्रातस्था द्वारा उत्प्रेरित होकर उन शारीरिक अभिव्यक्तियो को जन्म देते है, जो भावो के साथ रहती है (जैसे शरमाना या त्वचा का पीला पड जाना, हृद् तथा श्वसन-गति मे परिवर्तन, पाचक क्षेत्र की सक्रियता मे परिवर्तन, आदि)।

स्मृति, अधिगम या सीखना अथवा 'चितन' या 'विचारना' के तर्कणापरक

के साथ नहीं जोड सकते। वास्तव में इसकी उल्टी बात ही सही नजर आती है —मस्तिष्क प्रांतस्था के विभिन्न भाग एक विचित्र प्रकार से इन कार्यों में सम्मिलित होते जान पड़ते हैं। प्रांतस्था ऊतक में चूंकि लाखों ही न्यूरान हैं इसलिए कोई आश्चर्य की बात न होगी कि अनेक न्यूरान एक ही 'स्मृति' या 'विचार' से संबंधित हों मानसिक क्रिया के चेतना के स्तर पर आने के लिए इन सभी न्यूरानों के एक ही समय सक्रिय होने की आवश्यकता नहीं होगी।

हाल के वर्षों में इस बात का कुछ प्रमाण मिला है कि न्यूरानों की सक्रियता से अन्तर्ग्रथन प्रदेशों में भौतिक परिवर्तन अवश्य आते हैं जो काफी समय तक कायम रह सकते हैं। ये परिवर्तन स्मृति की घटना के और, संभवतः अधिगम प्रक्रिया के कुछ पहलुओं के भौतिक आधार हो सकते हैं।

अधिगम का सरलतम उदाहरण औपाधिक या अनुकूलित प्रतिवर्त है। मिसाल के तौर पर सामने खाना रख दिया जाए तो कुत्ता लार स्रवित करने लगेगा, यह एक अनुकूलित वंशागत प्रतिवर्त है। लेकिन अगर उसी समय या उस खाना दिखाए जाने के पहले एक घंटी बजा दी जाए, और इस प्रक्रिया को कुछ बार दुहराया जाए तो कुत्ता घंटी बजने की अनुक्रिया में तब भी लार स्राव करना सीख लेगा कि जब खाना उसे दिखाया भी नहीं गया है। यह अधिगमित लार स्राव अनुक्रिया एक अनुकूलित प्रतिवर्त है। हमारी कई 'आदतें' के पीछे इसी तरह की या जटिलतर अनुकूलन प्रक्रियाएं रहती हैं। हम भी भोजन की घंटी की अनुक्रिया में लार स्राव कर सकते हैं। टाइप करने या वाद्य-यन्त्र के वादन में सीखी अंगुलियों की गतियां अनुकूलित प्रतिवर्तों की और मिसालें हैं और ऐसे कितने ही उदाहरण और भी हैं।

अभी इस बात की व्याख्या परिकल्पनाएं ही कर सकती हैं कि अनुकूल उद्दीपन की अनुक्रिया में न्यूरान वंशागत प्रतिवर्त परिपथों में के न्यूरानों में किस प्रकार संयोजन स्थापित करके एक नया प्रतिवर्त परिपथ खोल देते हैं। अन्तर्दृष्टि द्वारा अधिगम करने-जैसी अधिक जटिल प्रक्रियाओं में अंतर्निहित क्रियात्मक प्रक्रिया के बारे में हम सचमुच कुछ नहीं जानते।

तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि संयोजन क्षेत्र ही उच्चतर मानसिक क्रियाओं के कारक हैं। संवेदी प्रभावों के सतत अन्तर्प्रवाह को सार्थक धारणाओं और विचारों में एकीकृत करने का कार्य ये क्षेत्र ही करते हैं। इन क्षेत्रों की सहायता से ही हम अमूर्त विविक्तियों को ग्रहण कर सकते हैं और भाषा में सन्निहित संकेतों का उपयोग कर सकते हैं। संयोजन क्षेत्रों की क्षति या विनाश से उत्पन्न दोष संभवतः इन क्षेत्रों के कार्यों के सबसे स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। संवेदी अभिवाही के ठीक हो जाने पर प्रत्यक्ष अक्षमता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है दृष्टि अक्षमता जिसमें अंधापन न होने पर भी देखी जानेवाली वस्तुओं की पहचान नहीं रहती श्रवण अक्षमता स्पर्श अक्षमता आदि ऐसी स्थिति के उदाहरण हैं। प्रेरक कार्य के क्षीण हो जाने पर चेष्टा अक्षमता की स्थिति आ जाती

है (व्यक्ति को पक्षाघात नही होता, लेकिन फिर भी वह कुछ सार्थक कृत्य करने के लिए अपनी पेशियो का ठीक उपयोग नही कर पाता), जब अधिक जटिल कमिया आ जाती है और सकेतो को समझने की क्षमता जाती रहती है, तो इस विकार को 'वाचाघात' कहते है। वाचाघात के कई प्रकार हो सकते है—'सवेद वाचाघात' मे देखा जा सकता है, पर भाषा को पढने की क्षमता नही रहती, सुना जा सकता है, पर बोली समझने की क्षमता नही रहती। प्रेरक वाचाघात मे ध्वनि उत्पन्न करने की क्षमता रहती है, पर शब्द ठीक नही बोले जा पाते, या ऐसे वाचाघात, जिनमे साकेतिक व्यवहार की समझ अशत. या पूर्णत. जाती रहती है।

जो घटक तथा प्रक्रम मनुष्य को अन्य सजीव वस्तुओ से अलग करते है, वे धूसर द्रव्य की उस पतली परत मे होते है, जो प्रमस्तिष्क-गोलार्धो पर चढी होती है। कई और बातो मे मनुष्य की देह या उसके अग अन्य जन्तुओ की देह या अगो के कुछ हीन ही, या अधिक-से-अधिक उनके समान ही है। किन्तु मनुष्य की प्रमस्तिष्क-प्रान्तस्था से उसे बुद्धि के वे हथियार मिल जाते है जिनसे वह अन्य सभी सजीव वस्तुओ से अधिक सीमा तक सोच-विचार कर सकता है। इन हथियारो ने उसे आज दुनिया पर शासन करने मे समर्थ बना दिया है। आशा करनी चाहिए कि वे भविष्य मे उसे उत्तमतर और अधिक विवेकपूर्ण जीवन की ओर ले जाएगे।

अध्याय 10

अंत स्रावी तंत्र

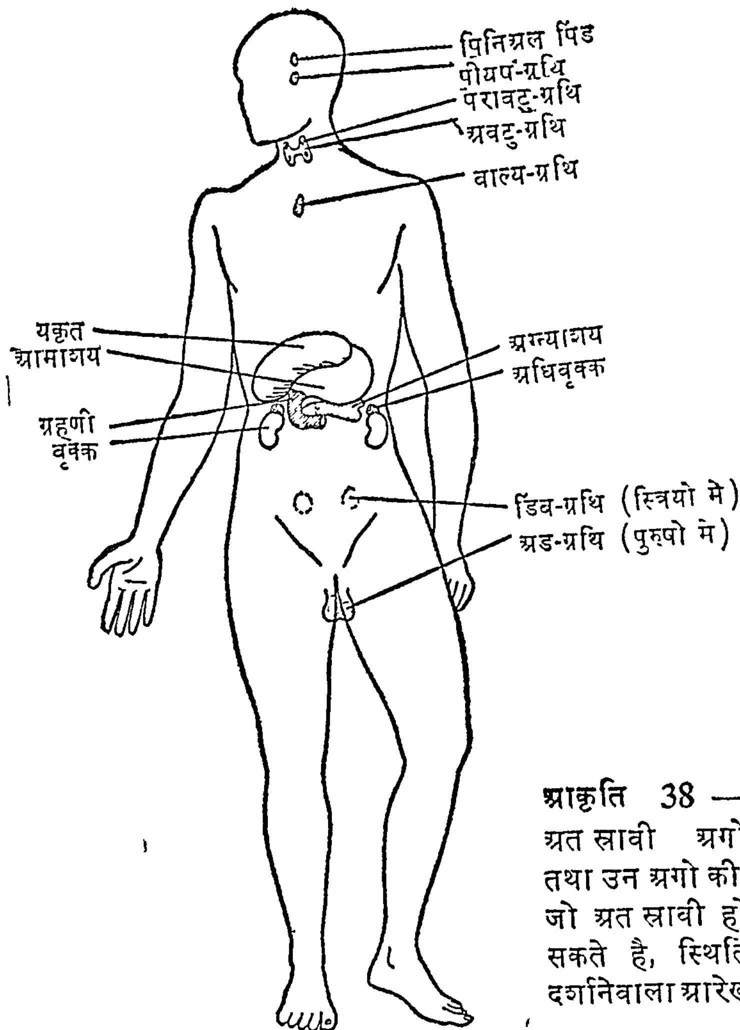
अगर हम किसी एक तंत्र को देह का सबसे महत्त्वपूर्ण समन्वयकारी और एकीकृत करनेवाला कारक कह सकते हैं तो वह तंत्रिका-तंत्र ही होगा। इसके बिना जांग अंगों और ऊतकों का एक ढीला-ढाला पिंड ही रहेगा जिसकी सक्रियताएं सुसंबद्ध नहीं होंगी। तथापि तंत्रिका कारकों की ही तरह देह में समन्वय का काम करनेवाले रासायनिक कारक भी हैं। उदाहरण के लिए हम कार्बन डाई ऑक्साइड की सक्रियताओं का एक इसी तरह के कारक के रूप में अध्ययन कर चुके हैं। देह की अनेक ग्रंथियां कई अन्य रासायनिक कारक उत्पन्न करती हैं। अधिकांश ग्रंथियां जिन रासायनिक वस्तुओं का उत्पादन करती हैं उन्हें वे मुख्यतः किसी सीमित प्रदेश या कार्य के लिए ही स्रवित करती हैं। ग्रंथि से इस प्रकार के उत्पाद उसकी वाहिका द्वारा निकलते हैं।

अंत स्रावी ग्रंथियां, सामूहिक रूप में

कुछ ग्रंथियां बिना वाहिनियों के हैं और वे अपने रासायनिक द्रव्यों को अपने में से गुजरनेवाले रुधिर में सीधे स्रवित कर देती हैं। अवाहिनी या अंत स्रावी (आंतरिक स्राव की) ग्रंथियां जिस तरह देह के अलग भागों में बिखरी हुई हैं उससे वे संरचना की दृष्टि से किसी एकीकृत तंत्र का निर्माण नहीं करतीं। किंतु वे जिन पदार्थों—हारमोनों का स्राव करती हैं वे कई दैहिक क्रियाओं पर खासा संयोजनकारी प्रभाव डालते हैं।

प्रत्येक हारमोन अपने को स्रवित करनेवाली ग्रंथि द्वारा विशिष्ट रूप से उत्पन्न रासायनिक पदार्थ है और यह रुधिर के जरिये अपनी उत्पत्ति के स्थान से दूर या पास के क्षेत्रों को वितरित होता रहता है। इस तरह के द्रव्य को केवल तब ही हारमोन माना जा सकता है कि जब वह देह के किसी भाग या सक्रियता पर कोई विशिष्ट प्रभाव डाले। देह के किसी अंग को अंत स्रावी कार्य करनेवाला केवल इसी हालत में माना जा सकता है कि जब उसमें कोई ऐसा विशिष्ट रासायनिक पदार्थ रहता हो जो रुधिर में स्रवित होने के बाद कोई विशिष्ट कार्य करता हो।

इन अपेक्षाओं की पूर्ति केवल थाइरॉइड या अवटु ग्रंथि पराथाइराइड या परावटु ग्रंथि अधिवृक्क ग्रंथि तथा पिट्यूइटरी या पीयूष ग्रंथि द्वारा तथा अन्यान्य मुख्य जननेंद्रिय—गोनद या जननग्रंथि आमाशय तथा क्षुद्रांत्र द्वारा ही की जाती है। ये वे अंग हैं जिनके बारे में हम निश्चित रूप से जानते हैं कि इनका कार्य अन्त स्रावी है। दूसरे अंगों को अन्त स्रावी प्रकृति का माना जाता है। यह संदेह किया जाता है कि वृक्क एक रुधिर दाबवर्धक पदार्थ का स्राव करते हैं और



आकृति 38 — अत स्रावी अगों तथा उन अगो की, जो अत स्रावी हो सकते है, स्थिति दर्शानेवाला आरेख

यकृत् एक रक्तक्षीणतावरोधी पदार्थ का स्राव करता है। वक्ष-गुहा के ऊपरी भाग मे पाई जानेवाली थाइमस या वाल्य ग्रथि बच्चो मे बडी होती है और प्रौढता आते-आते अपकर्षित हो जाती है। कुछ वैज्ञानिक इसकी गिनती अन्त स्रावी ग्रथियो मे ही करते है। उनका दावा है कि यह एक हारमोन का स्राव करती है, जो वृद्धि और परिपक्वता के लिए आवश्यक है। पिनिअल पिंड, जो मस्तिष्क के चेतक प्रदेश की छत से आगे निकला एक भाग है, के बारे मे भी यह माना जाता है कि यह सभवत परिपक्वता पर प्रभाव डालता है। (इस सबंध मे यह जानकारी दिलचस्प रहेगी कि सत्रहवी सदी का प्रमुख फ्रासीसी वैज्ञानिक तथा दार्शनिक दकार्त पिनिअल पिंड को आत्मा का निवास मानता था।) तथापि इस बात का कोई [illegible] नही है कि इन चारो अगो मे से कोई भी हारमोनो का

स्राव करता है ।

आमाशय 'गस्ट्रिन' नामक हारमोन का स्राव करता है और क्षुद्रान्त्र की ग्रहणी सक्रेटिन और कोलासिस्टोकाइनिन' नामक हारमोन स्रवित करता है। पाचन अध्याय मे यद्यपि हमने इस समय इन स्रावो को हारमोन नहा कहा था तथापि हमने उनके पाचक ग्रथियो, यकृत् तथा अग्न्याशय के स्राव को उत्तेजित करने के कार्यों की चर्चा की थी। जनन ग्रंथियो या जनदो का चर्चा हम जनन-तन्त्र के अध्याय म ही करगे।

अन्त स्रावी ग्रथियो पर प्रायोगिक कार्य—किसी भी विशेष अन्त स्रावी ग्रथि के कार्यो के अध्ययन का एक उत्तम तरीका यह है कि उसे देह से अलग कर दिया जाय और यह देखा जाय कि उसकी अनुपस्थिति स क्या प्रभाव उत्पन्न होते है। आधुनिक विज्ञान के जन्म के बहुत पहले से इस प्रकार मनुष्यो तथा जन्तुओ की ग्रथियां निकालने का काय किया जाता रहा है। बध्यकरण या अडोच्छेदन, अर्थात् जनन पिंडो के पृथक्करण का विभिन्न कारणो स मनुष्यो (जसे हिजडे बनाने के लिए) तथा पशुओ मे उपयोग किया जाता था—किसी को अधिक आज्ञानुवर्ती बनाने के लिए, तो औरो को—जसे मुर्गो को—ज्यादा मुलायम और सरस बनाने के लिए। जब कोई ग्रथि अलग कर ली जाती है या वह हारमोन का पर्याप्त मात्रा म स्राव नही करती तो अल्पक्रिया की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

एक और महत्त्वपूर्ण तरीका ग्रथि के निकाल लिये जाने के बाद उसी जन्तु को उस ग्रथि का सत्त्व देना और यह देखना है कि उसके पृथक किये जाने से उत्पन्न हुए विकार ठीक हो जाते है या नही। जीव रसायन म हुई महान् प्रगति के कारण अनेक ग्रथीय सत्त्वो को शुद्ध करना सभव हो गया है। यह बात निश्चय ही बडे महत्त्व की है क्योंकि शुद्धतम हारमोन का दिया जाना जो सत्त्व म वर्तमान बाह्य द्रव्यो स मुक्त हो सबसे अच्छा रहता है। कुछ मामलो म तो जीव रसायनशास्त्री इससे भी आगे चले गये हैं। उन्होने विश्लेषण करके हारमोन की रासायनिक सरचना तथा गुणधर्म को जान लिया है और फिर उसे प्रयोगशाला म सश्लेषित कर लिया। यह तरीका मनुष्य जाति के उपचार के लिए ऐसे हारमोनो का अधिक प्रचुर स्रोत उपलब्ध करता है और पूर्णत शुद्ध पदार्थो का दिया जाना भी सभव बना देता है। चूंकि सभी कशेरुकदंडियो म अन्त स्रावी ग्रथियो के हारमोन एक जसे ही होते हैं इसलिए निम्नतर जतुओ के ग्रथीय सत्त्व मनुष्य को देना निरापद है।

हारमोन या ग्रथीय सत्त्व सामान्य जन्तुओ म किसी अतिसक्रिय अन्त स्रावी ग्रथि की क्रिया की अनुकृति करने के लिए इजेक्शन द्वारा भी दिये जा सकते हैं। किसी ग्रथि के अत्यधिक हारमोन के स्राव स उत्पन्न स्थिति को अतिक्रिया की स्थिति कहते हैं।

अन्त स्रावी रोगो से पीडित मनुष्यो पर भी इस प्रकार के प्रायोगिक अध्ययनो के समान ही अध्ययन किये गये हैं। मानव रोगियो के अध्ययन और उपचार से

अन्त स्रावी ग्रथियो की अन्य सक्रियताओ के वारे मे काफी-कुछ जाना गया है।

थाइरॉइड ग्रंथि

थाइरॉइड ग्रथि या अवटु ग्रथि एक द्विखडीय निर्मिति है जो श्वास-नली के ऊपरी भाग पर स्थित है। ग्रथि का प्रत्येक खड नली के एक-एक तरफ है(आकृति 38)। दोनो खड एक ऊतकीय सयोजक द्वारा जुडे हुए है जो श्वास-नली की पिछली सतह को पार करके जाता है।

स्वास्थ्य मे अवटु ग्रथि—देह के सामान्य कार्य-व्यापार पर अवटु ग्रथि का वड़ा प्रत्यक्ष प्रभाव है। अवटु हारमोन देह की प्रत्येक कोशिका मे चयापचय के नियमन मे सहायता देता है। जैसा कि हम आगे देखेगे, यह हारमोन प्रत्यक्षत ऑक्सीकरण की गति के नियत्रण द्वारा यह प्रभाव डालता है। चूकि देह को ऊर्जा ऑक्सीकर प्रतिक्रियाओं के ज़रिये ही मिलती है, इसलिए यह प्रकट है कि अवटु ग्र थि परोक्षत कई प्रकार की देहीय सक्रियताओ को नियन्त्रित करती है।

अवटु ग्रथि के स्वास्थ्य की अवस्था निर्धारित करने का अकेला सवसे अच्छा उपाय है व्यक्ति के न्यूनतम चयापचय को मापा जाये। न्यूनतम चयापचय का अर्थ है अक्रियता ही की कुछ मानक या प्रामाणिक अवस्थाओ मे देह का ऊष्मा-उत्पादन। यद्यपि सवसे महत्त्वपूर्ण मान यही है, फिर भी इसके साथ-साथ दूसरे प्रेक्षण भी किए जाने चाहिए, ताकि न्यूनतम चयापचय की अवस्था से हम जो राय वनायेगे, उसे सपुष्ट या रद्द किया जा सके।

सामान्य व्यक्ति मे अवटु ग्रथि के सामान्य कार्य का अध्ययन करना अत्यधिक कठिन है। इसके कार्य को समझने का सवसे अच्छा तरीका (दूसरी अत स्रावी ग्रन्थियो के अध्ययन मे भी हम यही दृष्टिकोण रखेगे) उन दोषो को देखना है जव यह ग्रन्थि ठीक से काम नही करती होती, या जव यह देह से वस्तुत अलग कर दी जाती है।

जड वामनता (क्रेटिनता) तथा प्रयोगात्मक अल्पक्रिया—अपरिपक्व प्रयोगगत जन्तु की देह से अवटु ग्रन्थि के निकाल दिए जाने पर अल्पक्रिया की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि मानव-शिशु मे अवटु की अल्पक्रिया स्वत. उत्पन्न हो जाती है, तो यह दशा 'जड वामनता', 'क्रेटिनता' या 'क्रेटिनिज्म' कहलाती है। दोनो ही दशाओ मे उत्पन्न दोषो मे अद्भुत समानता है।

न्यूनतम चयापचय गति या न्यू० च० ग०—अर्थात् वह गति, जिससे देह किन्ही प्रामाणिक स्थितियो मे ऊष्मा का उत्पादन करती है, उल्लेखनीय रूप से कम हो जाती है। अस्थि-वृद्धि अवरुद्ध हो जाती है और अस्थियां विकृत हो सकती है। व्यक्ति की यौन परिपक्वता धीमी हो जाती या रुक जाती है। त्वचा खुश्क हो जाती है और वाल झडने लगते हैं। हृद्-गति धीमी पड जाती है। पेशिया कमजोर हो जाती है और थकान जल्दी आ जाती है। रक्तक्षीणता, अवसामान्य ताप तथा सक्रमण के प्रति वर्धित ग्रहणशीलता उत्पन्न हो सकती है। अग्न्याशय के सिवा

अन्य सभी अन्तःस्रावी ग्रंथियों में अपकर्षी परिवर्तन प्रकट हो सकते हैं। रुधिर में शर्करा का सान्द्रण सामान्य से भी नीचा हो सकता है।

मिक्सोडीमा—वयस्क मानव में अल्पक्रिया को मिक्सोडीमा या गल रोग (गल्स डिज़ीज) कहते हैं। इसके लक्षण भी उस प्रयोगगत जन्तु के समान ही होते हैं जिसकी अवटु ग्रंथि को निकाल दिया गया है। अधिकांश लक्षण क्रटिनता (जड़ वामनता) जैसे ही होते हैं लेकिन कुछ अन्य भी रहता है। मिक्सोडीमा नाम इस तथ्य से निकाला गया है कि त्वचा के नीचे तरल का संचय हो जाता है और इससे उत्पन्न अवस्था शोथ या त्वचा शोथ जैसी अवस्था से मिलती जुलती है तथापि यह शोफ के समान ही नहीं है। फिर चूंकि वयस्क व्यक्ति की पूरी वृद्धि हो चुकी होती है इसलिए शारीरिक परिवर्तन में कोई कमी नहीं आती। वज़न प्रायः बढ़ जाया करता है अन्यथा लक्षण क्रटिनता के समान ही होते हैं।

हीनावटुता द्वारा उत्पन्न दोषों का अध्ययन करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि अवटु ग्रंथि देह की सभी कोशिकाओं पर प्रभाव डालता है। चूंकि अवटु हारमोन की न्यूनता से देह की इतनी अधिक सक्रियताएं मन्द हो जाती हैं (न्यूनित बू० च० ग० विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण है) इसलिए यह कहा जा सकता है कि अवटु हारमोन देह की समस्त कोशिकाओं में हो रही आक्सीकर प्रतिक्रियाओं पर उल्लेखनीय प्रभाव डालता है। वृद्धि बुद्धि तथा यौन परिवर्धन में हीनावटुता के प्रभाव संभवतः इसी चयापचयी विक्षोभ के परिणाम हैं यद्यपि यह संभव है कि इन प्रक्रियाओं में इस हारमोन के कुछ अधिक विशिष्ट कार्य भी हों।

प्रयोगात्मक तथा मानव अत्यवटुता—हम आशा कर सकते हैं कि मनुष्य स्वतः स्फूर्त अत्यवटुता के लक्षण हीनावटुता के ठीक उलटे होंगे। हमारी आशा लगभग पूर्णतः पूरी हो जाती है। बू० च० ग० काफी बढ़ जाती है। हृद् गति 150 धड़कन प्रति मिनट तक जा सकती है। कभी-कभी भूख और अत्यधिक मात्रा में भोजन करने के बावजूद रोगी एकदम क्षीण होता जाता है। व्यक्ति में अपार प्रेरणा और प्रत्यक्षतः असीम ऊर्जा होती है लेकिन वह अत्यधिक अधीर भी होता है। त्वचा नम रहती है। देह के ताप में कुछ वृद्धि हो सकती है और—रुधिर में ग्लूकोज का सान्द्रण भी सामान्य से कुछ अधिक हो सकता है।

हम तब इस बात निश्चय अधिक हो जाता है कि ये लक्षण अवटु हारमोन के आधिक्य के फलस्वरूप ही हैं कि जब हम यह पता चलता है कि सामान्य प्रयोगगत जन्तु में अवटु सत्त्व के दिए जाने से लगभग ये सभी लक्षण पुनरुत्पन्न किए जा सकते हैं। मानव अत्यवटुता के मामलों में पाया जानेवाला एक अन्य लक्षण—नेत्र गोलकों का बहिःसरण अवटु हारमोन के इंजेक्शन द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इसलिए यह सन्देहास्पद है कि यह लक्षण सीधे अति सक्रिय अवटु के कारण होता है।

गलगंड या गलगण्ड—अभिवृद्ध (बढ़ी हुई) अवटु-ग्रंथि को गलगंड घेघा या गलगन्ड कहते हैं। जब हम पहले पहल यह सुनते हैं कि गलगंड अतिक्रिय

अल्पक्रिय, या सामान्य कार्यरत ग्रथि मे से किसी की भी प्रतीक हो सकती है, तो यह बात बडी चकरानेवाली लगती है। आइए, हम यह देखे कि क्या इस विचित्र घटना का कोई समाधान हो सकता है।

जब गलगड का अस्तित्व अतिक्रिय ग्रथि का प्रतीक होता हे, तब यह विश्वास किया जाता है। कि ग्रथि की अपवृद्धि ही अत्यवटुता का कारण है। मतलब यह कि अपवृद्ध ग्रथि मे अवटु हारमोन का स्राव करनेवाली कोशिकाओ की सख्या अधिक होती है और फलत रुधिर मे अधिक हारमोन प्रवाहित होता है। लेकिन हमारे पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नही कि 'ग्रथि की अपवृद्धि किस कारण होती है ?

कभी गलगड अल्पक्रिय ग्रथि की उपस्थिति का आभास देती है। इसके समाधान मे यह बात मान ली जाती है कि किसी कारण से ग्रथि सामान्य कार्य के लिए पर्याप्त हारमोन का स्राव नही कर रही है। न्यूनित हारमोन-उत्पादन की अनुक्रिया मे ग्रथि आकार मे बढ जाती है। यद्यपि प्रत्येक कोशिका अवसामान्य मात्रा मे हारमोन का उत्पादन करती हैं, पर स्राव करनेवाली कोशिकाओ की अपवर्धित सख्या इतना काफी हारमोन उत्पन्न कर सकती है कि मिलकर पूरी ग्रथि से प्राप्त सामान्य मात्रा के बराबर हो जाये। दुर्भाग्यवश, यदि मूल हीनावटुता को उत्पन्न करनेवाली स्थिति उसी तीव्रता से बनी रहे, तो ग्रथि की प्रतिपूरक चेष्टाए किसी काम नही आती—हीनावटुता फिर भी कायम रहती है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि न्यूनता की प्रतिपूर्ति करने की अपनी चेष्टा मे ग्रथि अपने को परिक्लात कर डालती है।

और जब हीनावटुता का मूल कारण अत्यधिक उग्र नही होता, तब ग्रथि की प्रतिपूरक चेष्टाए सफल रहती है। कोशिकाओ की वर्धित सख्या हारमोन की पर्याप्त मात्रा स्रवित कर देती है। ऐसे साधारण गलगड के मामलो मे यद्यपि ग्रथि की खासी अपवृद्धि हो सकती है, पर हारमोन की न्यूनता या आधिक्य के कोई लक्षण नही होते।

इस प्रकार गलगड हीनावटुता या अत्यवटुता—दोनो—के साथ सयुक्त हो सकती है, यद्यपि यह इन दोनो मे से किसी भी एक अवस्था का अनिवार्य लक्षण नही है।

आयोडीन तथा अवटु हारमोन—उन्नीसवी सदी मे ससार के बडे-बडे आतरस्थलीय क्षेत्र गलगड-कटिबधो के नाम से विख्यात थे, क्योकि वहा के निवासियो मे साधारणतया हीनावटु गलगड का आपात अत्यधिक ऊचा था। सयुक्त राज्य अमरीका मे ग्रेट लेक्स का प्रदेश ऐसा ही इलाका था। गलगड के उच्च आपात को इन कटिबधो की मिट्टी तथा पानी मे आयोडीन के अभाव के साथ सहसबधित करने मे—इसी सदी मे प्राप्त इस जानकारी के बावजूद कि गलगड के उपचार मे आयोडीन खिलाना लाभदायी रहता है—कई वर्ष लग गए। तथापि इस शताब्दी मे अधिकाश स्थानो मे आयोडीकृत नमक के उपयोग या पीने

के पानी म आयोडीन की अल्प मात्राओ के सम्मिलन द्वारा स्थिति पर काबू पा लिया गया है।

आयोडीन की औपचारिक क्रिया का वास्तविक महत्त्व कुछ बाद म अवटु हारमोन की रासायनिक सरचना के अध्ययन के दौरान प्रकाश म आया। यह पाया गया कि आयोडीन इस हारमोन का एक आवश्यक अग है।

अवटु दोषो की चिकित्सा—*अवटु हारमोन के पृथक्करण और अभिनिर्धारण म म किसी हद तक देर प्रोत्साहन के अभाव के कारण लगी। यह पता लगा कि हीनावटु व्यक्तियो को अवटु ग्रथि के सपोषण स उनकी व्याधि म सुधार आ जाता है। चूकि स्वय ग्रथि का उपयोग ही प्रभावकारी था इस लिए उसके हारमोन को पृथक करने की कोई विशेष आवश्यकता नही अनुभव की गई।*

तथापि अत म इस समस्या को हाथ म लिया गया और थाइरोग्लोबुलिन नामक एक द्रव्य को पृथक किया गया। इस द्रव्य को अभी वास्तविक हारमोन ही समझा जाता था लेकिन अब यह विश्वास किया जाता है कि वास्तव मे हारमोन ग्रथि म इस द्रव्य के रूप म ही सग्रहीत रहता है। रुधिर मे परिवाहित होनेवाला वास्तविक हारमोन 'थाइराक्सिन' है, जिसे स्वय ग्रथि की ही भाति हीनावटुता के उपचार के लिए मुह द्वारा दिया जा सकता है। किसी हारमोन का मुह द्वारा दिया जाना वास्तव मे बडी असाधारण बात है अधिकाश हारमोनो पर पाचक प्रकिण्व क्रिया करके उनका विनाश कर देते हैं किन्तु किसी कारण से अवटु हारमोन इस प्रकिण्व क्रिया का अत्यधिक प्रतिरोधी है।

अत्यवटुता की सफल चिकित्सा म इस ग्रथि का एक्स किरणो द्वारा विनाश शल्य क्रिया द्वारा ग्रथि के कुछ भाग का निष्कासन तथा रेडियोधर्मी आयोडीन का दिया जाना सम्मिलित है। अवटु ऊतक आयोडीन को देह म अपने भार के अनुपात से बहुत अधिक मात्रा मे ग्रहण कर लेता है। इसका मतलब यह है कि आयोडीन की खुराक का अधिकाश देह भर म वितरित होने के बजाय अवटु ग्रथि म चला जायेगा। अवटु ग्रथि म पहुचने के बाद रेडियो आयोडीन के पर माणुओ का विकिरण कुछ अवटु कोशिकाओ को समाप्त कर देता है। इनम स कोई भी तरीका काम म लाते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि पूरी ही ग्रथि को नष्ट या निष्कासित न कर दिया जाए क्योकि ऐसा करने स हीनावटुता पैदा हो जायगी। कभी-कभी ग्रथि फिर इतनी बडी हो जाती है कि इसस अत्यवटुता फिर पैदा हो जाती है और इलाज को दुहराने की जरूरत हो जाती है।

परावटु ग्रथिया

परावटु या पैराथाइरॉइड ग्रथिया ग्रीवीय ऊतक म अत्यन्त छोटे-छोटे 1/4 इच लम्बे ग्रथि के टुकडे हैं जो या तो अवटु ग्रथि के बहुत ही निकट स्थित होते हैं या उसी म धस किये हुए रहते हैं (आकृति 38)। आदमी आदमी म उनकी सख्या

दो से चार के बीच ग्रलग-ग्रलग होती है।

स्वास्थ्य मे परावटु ग्रथिया—रुधिर तथा ऊतक-तरल मे कैल्सियम ग्रौर फास्फोरस के सामान्य स्तर बनाये रखने मे ये नन्ही परावटु ग्रथिया बडा गहन प्रभाव डालती है। सामान्य उद्दीपनो की स्वस्थ ढग से ग्रनुक्रिया कर सकने के लिए तन्त्रिका तथा पेशी-कोशिकाग्रो को ग्रपने पर्यावरण मे कैल्सियम के एक निश्चित साद्रण की ग्रावश्यकता होती है। परावटु हारमोन का महत्त्व यह है कि यह हड्डी ग्रौर देहीय तरलो-जैसे 'भडार केन्द्रो' मे कैल्सियम तथा फास्फोरस के उचित वितरण को कायम रखता है।

मनुष्य मे ग्रल्पक्रिया—मनुष्य मे परावटु ग्रथियो की स्वत स्फूर्त ग्रल्प-क्रिया का प्रमाण ग्रभी ग्रप्राप्य है। ऐठन की ग्रवस्थाए ग्रल्पपरावटुता के कारण उत्पन्न बताई गई है, लेकिन इन मामलो मे परावटु ग्रथियो को सन्निहित करने का प्रमाण ग्रधिक-से-ग्रधिक केवल 'सकेतात्मक' ही है। कभी-कभी तब ग्रल्पक्रिया ग्रवश्य हो जाती है कि जब ग्रवटु ग्रन्थि पर शल्यक्रिया करते समय किसी परावटु-ऊतक का ग्राकस्मिक निष्कासन हो जाता है। यह तब भी उत्पन्न हो सकती है जब परावटु-ऊतक के ग्रर्बुद (रसौली) को निकाला जाए ग्रौर उसके साथ ग्रथियो का ग्रधिकाश भी निकाल ग्राए। मनुष्य मे यह ग्रवस्था ग्राम तौर पर हल्की ही होती है (क्योकि कुछ परावटु-ऊतक तो उपस्थित रहता ही है) ग्रौर तुरन्त ठीक की जा सकती है।

ग्रतिपरावटुता—सामान्य प्रयोगगत जतु को 'पैराथारमोन' के इजैक्शन देकर मनुष्य मे परावटुग्रो की ग्रतिक्रिया की ग्रनुकृति की जा सकती है। यह ग्रवस्था उत्पन्न होती भी है—यद्यपि कम ही, ग्रौर यह पता लगने के पहले कि यह परावटु हारमोन के ग्रतिस्राव के कारण उत्पन्न होती है, इसे 'फॉन रेक-लिंघोसेन का रोग' कहा जाता था। यह बीमारी ग्रामतौर पर परावटुग्रो की ग्रपवृद्धि ग्रौर ग्रर्बुद (रसौली) के साथ सम्बद्ध रहती है।

परावटुग्रो की ग्रतिक्रिया से रुधिर मे फास्फोरस का साद्रण कम, पर कैल्सियम का ग्रधिक हो जाता है। कैल्सियम की वृद्धि से पेशीय ग्रौर तन्त्रिकायिक उत्तेजन-शीलता न्यून तथा पेशीस्फूर्ति कम हो जाती है। विशेष ध्यान देने योग्य ग्रन्य लक्षण मूत्र मे फास्फोरस तथा कैल्सियम का ग्रत्यधिक उत्सर्जन ग्रौर हड्डियो मे से कैल्सियम का खिचना है। हड्डियो मे से कैल्सियम का क्षय उन्हे कमजोर कर देता है ग्रौर वे विकृत हो सकती है। वे टूट भी जल्दी जाती है ग्रौर देर मे ठीक होती है।

ग्रतिपरावटुता केवल परावटु-ऊतक के निष्कासन द्वारा ही ठीक की जा सकती है। यह ग्रॉपरेशन इस स्थिति को सफलतापूर्वक सुधार सकता है। लेकिन ग्रगर रुधिर का कैल्सियम-साद्रण बहुत ऊचा हो गया है, तो इसको कम करने का कोई उपाय ग्रभी तक ज्ञात नही है।

परावटु हारमोन जीवन के लिए ग्रावश्यक है, क्योकि यह देह के कैल्सियम सन्तुलन का नियमन करता है। हारमोन का साद्रण व[illegible]

का कैल्सियम साद्रण भी नीचा हो जाता है। तन्त्रिका और पशी-ऊतक की वर्धित उत्तेजनशीलता से उत्पन्न ऐठना के कारण मृत्यु हो सकती है। हारमोन की अधिकता हड्डियो से कैल्सियम खीचकर रुधिर म उसके साद्रण को अधिक कर देती है और इसके उत्सर्जन की गति को बढा देती है।

अधिवक्क ग्रथिया

अधिवृक्क ग्रथि प्रत्येक वृक्क पर टोपी की तरह आधारित है (आकृति 38) सरचना और काय दोनो की दृष्टि से प्रत्येक अधिवृक्क ग्रथि असल म एक दोहरी ग्रथि है। यह विभिन्न भ्रूणीय ऊतको से मिलकर बनी है एक प्रकार से बाहरी परत या 'अधिवृक्क प्रातस्था' और दूसरे प्रकार से भीतरी परत या 'अधिवृक्क अन्तस्था' बनती ह।

स्वास्थ्य मे अधिवक्क ग्रथिया—अधिवृक्क अतस्था के हारमोन के सामान्य काय की कोई निश्चित व्याख्या नही की जा सकी है। इसके महत्त्व पर एक खासा विस्तृत सिद्धात पेश किया गया ह लेकिन अभी तक उसकी पूर्णत पुष्टि नही हो पाई ह। यह ज्ञात ह कि पर्याप्त साद्रण होने पर यह हारमोन वही प्रभाव उत्पन्न कर सकता ह, जो अनुकपी तन्त्र का उद्दीपन करेगा। जिस निर्णायक प्रमाण की अब प्रतीक्षा है वह यह है कि क्या सामान्य परिस्थितियो म अधिवृक्क अतस्था यथेष्ट मात्रा म हारमोन उत्पन्न करती ह।

इसके विपरीत यह ज्ञात ह कि अधिवृक्क प्रातस्था के हारमोन देह के सामान्य अर्थतन्त्र म बडे ही महत्त्वपूर्ण है। ये हारमोन देहीय तरलो के लवण तथा जल सतुलन (विशेषकर सोडियम तथा पोटासियम-सतुलन) के नियमन म और साथ ही देह म प्रोटीन तथा कार्बोहाइड्रेट द्रव्यो के स्तरो के नियमन म भी सहायता देते ह।

अधिवक्क अतस्था—अधिवृक्क अन्तस्था का हारमोन इस सदी के आरभ से ज्ञात ह। अधिवृक्क अन्तस्था का सत्व पहले पहल 1885 म प्राप्त किया गया था। यह देखा गया कि प्रयोगगत जतु म इजेक्ट कराने पर यह सत्व जो अनेक प्रभाव उत्पन्न करता ह उनम एक यह भी ह कि इससे रुधिर दाब म उल्लेखनीय वृद्धि होती ह। इस सत्त्व से 'ऐड्रिनलिन' नामक द्रव्य पृथक किया गया।

ऐड्रिनलिन द्वारा उत्पन्न प्रभाव—अपनी खोज के बाद एड्रिनलिन सबसे अधिक अध्ययन किया जानेवाला हारमोन बन गया ह। इसके रासायनिक सूत्र की शीघ्र ही खोज हो गई और इसको सश्लेषित भी कर लिया गया। रुधिर म ऐड्रिनलिन के इजेक्शन से उत्पन्न प्रभाव है—धमनिक रुधिर दाब म तीव्र वृद्धि तीव्रतर हृद्गति उदरीय प्रातरागो म धमनिकाओ का सकुचन रुधिर म अतिरिक्त ग्लूकोज की विमुक्ति तथा पाचक क्षेत्र म चरता का अवरोध।

आपात सिद्धात—आपने देखा होगा कि एड्रिनलिन द्वारा उत्पन्न प्रभाव वस ही है कि जस प्रभाव अनुकपी तन्त्रिका तन्त्र के व्यापक उद्दीपन द्वारा उत्पन्न

किए जा सकते है। हॉवर्ड विश्वविद्यालय (अमरीका) के डॉ० केनन ने इस प्रेक्षण को अपने अधिवृक्कीय कार्य के आपात-सिद्धांत का आधार बनाया है।

डॉ० केनन के अनुसार, अत्यधिक भार के समय—जैसे भागने, भय और लडाई मे—अधिवृक्क-अन्तस्था की सहायता से अनुकपी तन्त्र देह मे ऐसी अनुक्रियाएं उत्पन्न कर देता है, जो प्राणी को आपात का सामना करने मे समर्थ बनाती है। तीव्रतर हृद्गति से प्रति मिनट अधिक हृद्-उत्पादन सुनिश्चित हो जाता है। उदरीय धमनिकाओ का सकुचन रुधिर को उदरीय आतरागो से ककाल-पेशियो (जिनकी धमनिकाए वितनित होती है) की ओर मोड देता है और परिसर प्रतिरोध को बढाकर रुधिर-दाब बढाने मे भी सहायता देता है (तीव्र हृद्गति भी रुधिर-दाब बढाने मे योग देती है)। इन सभी परिवर्तनो का परिणाम यह होता है कि ककाल-पेशियो को अधिक रुधिर की अधिक तेजी से और अधिक दाब के अन्तर्गत प्रदाय होती है। ककाल-पेशियो को प्रत्यक्षत अधिक रुधिर मिलना चाहिए, जिससे कि प्रबल कार्य के लिए उन्हे ऑक्सीजन तथा ईधन अधिक मात्रा मे मिल सके।

प्लीहा मे सचित लाल रुधिर-कोशिकाओ की उन्मुक्ति से रुधिर की ऑक्सीजन-धारिता कुछ बढ जाती है। श्वसन-गति तेज हो जाती है और श्वास-नलिकाए वितनित हो जाती है, जिससे फेफडो मे वायु का आवागमन बढ जाता है। ये कारक तथा तीव्रतर परिवहन-काल इस बात को सम्भव कर देते है कि पेशियो को अधिकाधिक मात्रा मे ऑक्सीजन मिले। रुधिर मे अतिरिक्त ग्लूकोज की उन्मुक्ति से पेशियो को अधिक ईधन मिलने लगता है। पेशियो को भी बिना थके अधिक समय तक कार्य करने की सामर्थ्य मिल जाती है।

कुछेक गौण घटनाए इस सिद्धात को ऊपर की ओर ले जाने मे सहायक होती है। ऐड्रिनलिन रुधिर की अपेक्षपण शक्ति को बढा देती है। इसलिए इस तर्क के अनुसार यदि जतु घायल हो जाता है, तो उसे रुधिर-स्राव से उत्पन्न भय कम हो जाता है। आपात कालीन परिस्थितियो मे उत्पन्न भावनाओ की अनेक शारीरिक अभिव्यक्तिया होती है—आख के तारो का फैल जाना, बालो का खडा हो जाना, नेत्र-गोलको का फूल जाना, पसीना आना, इत्यादि। और अनुकपी उद्दीपन या रुधिर मे ऐड्रिनलिन की उपस्थिति द्वारा इन सभी अभिव्यक्तियो को उत्पन्न किया जा सकता है।

अधिवृक्क-अंतस्था की सार्थकता—इस अत्यन्त आकर्षक सिद्धात की स्वीकृति एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर निर्भर है, और वह यह है कि अधिवृक्क-अतस्था रुधिर मे यथेष्ट ऐड्रिनलिन स्रवित करती है या नही जिससे कि उपरोक्त प्रभाव उत्पन्न किए जा सके। इन प्रभावो को प्राप्त करने के लिए प्रयोगगत जतु मे सामान्यत ऐड्रिनलिन की अपेक्षाकृत बडी मात्राओ का प्रवेश कराया जाता है।

डॉ० केनन और उनके सहकर्मियो के इस दावे को, कि अत्यधिक भार की परिस्थितियो मे अधिवृक्क-अन्तस्था ऐड्रिनलिन की एक सार्थक मात्रा का स्राव

करती है, अन्य शरीरक्रियाविदों ने स्वीकार नहीं किया है। उनका कहना है कि क्रियात्मक परिस्थितियों में वे ऐड्रिनलिन की इतनी अधिक मात्रा नहीं प्राप्त कर सके हैं। उपलब्ध प्रमाण के आधार पर इन दोनों विचारधाराओं में से किसी एक के पक्ष में अन्तिम निर्णय लेना सम्भव नहीं हो पाया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अधिवृक्क अंतस्था ऐड्रिनलिन का अविरल स्राव करती है यद्यपि उसका सांद्रण बहुत नीचा होता है। लेकिन जीव की दैनिक क्रियाओं में इसकी सार्थकता क्या है यह बात स्पष्ट नहीं है।

अधिवृक्क अंतस्था जीवन के लिए आवश्यक नहीं है। दोनों अंतस्थाओं को निकाला जा सकता है और जन्तु के जीवन पर इसके कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं देखने में आएंगे।

प्रायोगिक और चिकित्सीय—दोनों ही कार्यों में ऐड्रिनलिन औषधि के रूप में बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई है। हृद् उद्दीपक के रूप में यह अक्सर उपयोग में लाई जाती है यद्यपि इसके प्रभाव बहुत ही अल्पजीवी होते हैं। श्वास-नलिकाओं को वितनित करने के अपने गुण के कारण यह श्वास या दमा रोग से पीड़ित रोगियों के श्वसन में राहत देने के लिए प्रयुक्त की जाती है (श्वास रोग में श्वास नलिकाओं में दीर्घकालिक या आकर्षी संकुचन आ सकता है)।

अधिवृक्क प्रांतस्था—समीपवर्ती अधिवृक्क अंतस्था के एकदम विपरीत अधिवृक्क प्रांतस्था जीवन के लिए आवश्यक पाई गई है। यद्यपि इसके कार्यों के अभिज्ञान में बहुत समय लगा लेकिन अब हम कम से कम उनको समझने लगे हैं।

अधिवृक्क प्रांतस्था की अल्पक्रिया—दोनों अधिवृक्क ग्रंथियों के अलग कर दिए जाने पर अधिकांश प्रयोगगत जन्तु क्षुधा विलोप, अत्यधिक पेशीय दुर्बलता, मन्दक्रियता तथा रुचि की स्पष्ट अवनति प्रदर्शित करते हैं। इसके बाद वे संमूर्छा की अवस्था में पड़ जाते हैं और शल्य क्रिया के दस दिन के भीतर उनका प्राणान्त हो जाता है।

मनुष्य में इसकी तुलनात्मक अवस्था एडीसन रोग है। अधिवृक्क प्रांतस्था की अल्पक्रिया से इस रोग के संबद्ध किए जाने के बहुत पहले ही इसकी जानकारी हो चुकी थी। इस रोग का एक सामान्य कारण अधिवृक्क ग्रंथि का क्षय है। मनुष्य में उसके लक्षण पशुओं की तरह ही होते हैं लेकिन वे हल्के होते हैं क्योंकि मनुष्यों में यह रोग अधिक लम्बी अवधि तक चलता है। एक लक्षण जो प्रयोगगत जन्तुओं में नहीं पाया जाता यह है कि सामान्य रंजक की अधिक मात्रा की उपस्थिति के कारण त्वचा पर कांसे की तरह एक विशेष रंगत आ जाती है। उपचार न किया गया, तो एडीसन रोग के रोगी प्रारम्भ होने के एक से तीन मास के भीतर मर जाते हैं।

अल्पक्रिया द्वारा उत्पन्न दोष—अल्पक्रिया के बाह्य लक्षणों के मूल में जाकर कई रासायनिक न्यूनताएं अन्य लक्षण भी रहते हैं। रुधिर में सोडियम के सांद्रण में कमी आती है और पोटैशियम के सांद्रण में वृद्धि होती है। इसके साथ ही रुधिर

से जल के विलोप के कारण रुधिर-आयतन मे कमी आती है और रुधिर-दाव न्यून हो जाता है। रुधिर-ग्लूकोज मे भी सार्थक ह्रास हो सकता है।

जहा तक कि जीवन के लिए उसके महत्त्व का प्रश्न है, सोडियम और पोटासियम मे परिवर्तन सबसे ज्यादा गभीर पाए गए है। काफी श्रमसाध्य खोज के बाद अभी हाल ही मे यह पता चला है कि प्रातस्था अपर्याप्तता मे वृक्क सोडियम की अतिशय मात्राए उत्सर्जित करते है और पोटासियम का इतना उत्सर्जन नही करते, जितना वे सामान्य परिस्थितियो मे करते है। रुधिर-सोडियम तथा पोटासियम मे परिवर्तनो का यही कारण है। यह भी समझा जाता है कि अधिवृक्क-प्रातस्था हारमोन या ऐड्रिनोकॉर्टिकल हारमोन की कमी या अनुपस्थिति से कोशिकाओ की भित्तियो की पारगम्यता बढ जाती है, जिससे रुधिर से तरल का अधिक प्रस्राव होने लगता है।

अत्यधिक महत्त्व की एक और बात यह है कि अधिवृक्कहीनित जन्तु या प्रातस्थाहीन मनुष्य भार की स्थितियो (जैसे शल्यक्रिया, अभिघात ऑक्सीजन-निक्षेपण आदि) के सामान्य जन्तुओ की अपेक्षा कही आसानी से शिकार हो जाते है।

अधिवृक्क-प्रातस्था के हारमोन—प्रातस्था-ऊतक से कई विशुद्ध यौगिक प्राप्त किए गए है, जिनमे से कुछ प्रयोगशाला मे सश्लेपित भी किये जा चुके है। यह बात अभी तक निश्चित रूप से जानी नही जा सकी है कि इस ग्रथि द्वारा एक ही हारमोन का स्राव किया जाता है या कई हारमोनो का। अभी इस यौगिक के दो मुख्य प्रकार सार्थक प्रतीत होते है। इनमे से एक 'डेसऑक्सिकोर्टिकोस्टेरोन' कहलाता है और यह मुख्यत लवण तथा जल-सतुलन मे प्रभावी है। दूसरी प्रकार का उदाहरण कॉर्टिजोन है और इसका मुख्य प्रभाव प्रोटीनो तथा कार्बोहाइड्रेटो के चयापचयन पर पडता है।

अधिवृक्कीय अल्पक्रिया की चिकित्सा—चिकित्सा के दो तरीके उपयोग मे लाये गए है, लेकिन अधिवृक्कीय अपर्याप्तता के सभी मामलो मे कोई भी सफल नही हुआ है। एक तरीका तो डेसऑक्सिकोर्टिकोस्टेरोन या कॉर्टिजोन का, या यदि वाछनीय हो, तो दोनो ही हारमोनो का इजेक्शन देने का है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि कौनसी हीनता के लक्षण अधिक गम्भीर है। दूसरा तरीका रोगी को सोडियमप्रचुर भोजन का सपोपण कराना है। अभी तक निकाला सबसे अच्छा तरीका सम्भवत इन दोनो इलाजो का सयोग ही है। यह बता दिया जाना चाहिए कि चिकित्सा अधिकतर सफल ही रहती है। जिन मामलो मे यह सफल नही रहती, वहा कोई पूर्णत सतोपजनक कारण सामने नही आए है। चूकि हमे इस बात का जरा भी निश्चय नही कि हमने वास्तविक हारमोन या हारमोनो को पृथक् कर लिया है, इसलिए यह सम्भव है कि कोई महत्त्वपूर्ण दोप तब तक न सुधर पाये कि जब तक यथार्थ हारमोन ही न दिया जाए।

अधिवृक्क-प्रांतस्था की अतिक्रिया—सामान्य जन्तुओ या मनुष्यो में प्रातस्था

योनिया या स्तन की बड़ी मात्राओं के इजनन से जो प्रभाव उत्पन्न होते हैं वे अल्पनिया में देख जानेवाले प्रभावों के उल्टे होते हैं। लेकिन पुरुषों में ऐसा कोई रोग नहीं है कि जो एडीसन रोग का उल्टा हो।

तथापि स्त्रियों में अधिवृक्क अर्बुद या गुर्दे की रसौली (अपवृद्ध ग्रंथि जो सम्भवत अतिशय मात्रा में हारमोनों का स्राव करती है) का रोग होना है जिसका मुख्य प्रभाव गौण लैंगिक लक्षणों का पुरुष लक्षणों में परिवर्तन है। स्तन अपक्षयित हो (घट) जाते हैं, वेश विन्यास पुरुषों जैसा होने लगता है और प्रवृत्ति ज्यादा मरदानी हो जाती है। पुरुषों में अधिवृक्क अर्बुद के रोग के मामले अधिक दुर्लभ होते हैं, किन्तु इससे जनित स्त्रैणता के कुछ मामलों की सूचना मिली है। बच्चों में इस तरह की रसौलियाँ अकाल लैंगिक परिपक्वता उत्पन्न कर सकता है। इनमें से किसी भी मामले में शल्य क्रिया द्वारा अर्बुद के निकाल देने से स्थिति ठीक हो सकती है।

अधिवृक्क प्रांतस्था का महत्व—अधिवृक्क प्रांतस्था एक ओर तो अपने लवण तथा जल के सन्तुलन नियमन कार्य द्वारा और दूसरी ओर प्रोटीन तथा कार्बोहाइड्रेट चयापचयन के नियमन द्वारा देह भर पर व्यापक प्रभाव डालती है।

डिसाक्सिकोर्टिकोस्टेरोन वृक्क नलिकाओं पर सीधा प्रभाव डालकर सोडियम तथा पोटासियम की सामान्य मात्रा सचित करती है। इसमें यह सोडियम के अवरोधन और पोटासियम के उत्सर्जन के कुछ अनुकूल रहती है। देहीय तरलों में लवण के सामान्य सान्द्रण के बने रहने का तरलों में जल की उचित मात्रा के अवरोधन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है और यह देह की समस्त कोशिकाओं के सामान्य कार्य करने के लिए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात है।

ऊतकों और तरलों में प्रोटीनों और कार्बोहाइड्रेटों के उचित स्तर कायम रखने में कार्टिजोन का कार्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। एमीनो अम्लों को कार्बोहाइड्रेटों में रूपांतरित करने की इसकी क्षमता विशेष साधक है। यह प्रक्रिया सामान्यत समुचित रुधिर शर्करा स्तर कायम रखने में सहायता देता है।

सामान्य जीवन (जिसमें अधिवृक्क प्रांतस्था या ऐन्ड्रिनोकॉर्टिकल हारमोनों की मात्रा सामान्य है) की अनेक प्रकार के भार झेलने की क्षमता न सिर्फ इन उपर्युल्लिखित हारमोनों के कार्य पर ही बल्कि कार्टिजोन का समस्त देह में संयोजी ऊतक को रूपान्तरित करने की क्षमता पर भी निर्भर करता है। चूंकि देह के हर भाग की रचना में कुछ संयोजी ऊतक होता ही है इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि कार्टिजोन देह पर व्यापक प्रभाव डालता है। सन्धिवातज सन्धिशोथ के उपशमन और शोथ के प्रसार को रोकने में कॉर्टिजोन जो काम करता है उसका कारण इसका संयोजी ऊतक पर प्रभाव ही बताया जा सकता है। तथापि कार्टिजोन के उपयोग में भी दूसरे मनुष्य जानकार किसी भी अन्य रासायनिक द्रव्य की हो भांति सावधानी बरतने की आवश्यकता है।

यह प्रश्न है कि अधिवृक्क प्रांतस्था के हारमोन लैंगिक प्रक्रियाओं सहित

देह की अनेकानेक प्रक्रियाओ पर प्रभाव डालते है। यह कोई वहुत आश्चर्य की वात नही है कि लैंगिक प्रक्रियाओ के साथ इनका कुछ सम्बन्ध भी है, क्योंकि यह ज्ञात है कि प्रातस्था तथा लिंग-हारमोनो की रासायनिक सरचना मे वहुत सादृश्यता हे।

अग्न्याशय

अग्न्याशय (आकृति 38) को हम पाचक रसो का स्राव करनेवाली एक ग्रथि के रूप मे जानते हैं। यह भी एक दोहरी ग्रन्थि है। अग्न्याशय रस का स्राव करने वाली वहुसख्यक कोशिकाओ के बीच ऊतक की नन्ही द्वीपिकाए—लैंगरहेन्स की द्वीपिकाए—फैली हुई है, जो अत स्रावी प्रकृति की हे।

स्वास्थ्य मे अग्न्याशय—अग्न्याशय का अन्त स्रावी भाग एक हारमोन स्रवित करता है, जो ऊतको मे कार्वोहाइड्रेटो के सन्तुलन तथा उपयोग का अकेला सवसे महत्त्वपूर्ण नियामक है। अग्न्याशय-हारमोन रुधिर-शर्करा के सामान्य स्तर के सरक्षण मे, यकृत् तथा पेशियो मे 'जातव मंड'—मधुजन या ग्लाइकोजन के पर्याप्त सचय के सरक्षण मे, और, सम्भवत ऊतको द्वारा कार्वोहाइड्रेट पदार्थो के ऑक्सीकरण मे सहायता देता है। चूकि कार्वोहाइड्रेट हमारे प्राथमिक ऊर्जा-दायी पदार्थ है, इसलिए यह प्रकट है कि स्वस्थ देहीय सक्रियता मे अग्न्याशय एक सशक्त कारक है।

मधुमेह या अग्न्याशयिक मधुमेह—मधुमेह या डायविटीज मेलाइटस सदियो से रोग के रूप मे ज्ञात है, तथापि उन्नीसवी सदी के उत्तरार्व तक इसके कारण की, या इसके इलाज की कोई जानकारी न थी और तव भी एक आकस्मिक खोज से ही इसको समझ पाने का रास्ता खुला।

फ़ॉन मेरिंग तथा मिकोवस्की जो अग्न्याशयिक ने एजाइमो (प्रकिण्वो) के अभाव से उत्प्रेरित पाचन के विकारो का अध्ययन करना चाहते थे, कुत्तो के अग्न्याशय अलग किए। लेकिन पाचन दुष्क्रिया के अलावा उन्होने यह भी पाया कि इन कुत्तों मे पैदा हुए लक्षण मधुमेह से पीडित आदमियो मे देखे जानेवाले लक्षणो से वहुत मिलते-जुलते थे।

ये लक्षण है मूत्र मे वडी मात्रा मे शर्करा (ग्लूकोज) का उत्सर्जित होना और रुधिर मे उच्च शर्करा सान्द्रण। रुधिर तथा मूत्र मे वसा के ऑक्सीकरण के अपूर्ण उत्पाद मिलते हैं। दैनिक मूत्रोत्पादन वहुत वढ जाता है। अम्लोपचय—रुधिर मे अत्यधिक अम्ल होने की अवस्था—भी हो जाती है।

मूत्र मे शर्करा तथा वसा-उत्पादो की उपस्थिति उनके रुधिर मे अत्यधिक सान्द्रण के कारण है। आपको याद होगा कि ग्लूकोज सामान्यत वृक्क नलिकाओ मे छनकर आता है और फिर रुधिर मे पूर्णत पुनरवशोपित हो जाता है। लेकिन जव रुधिर मे इसका सान्द्रण काफी वढ जाता है, तो नलिकाए इस अतिरिक्त ग्लूकोज का अवशोपण नही कर पाती है।

नलिकायिक मूत्र में द्रव्यों के बढ़ित सान्द्रण के कारण इन नलिकाओं में अधिक जल रोक लिया जाता है और इस प्रकार मूत्र का आयतन बढ़ जाता है। चूँकि वसीय आक्सीकरण के अपूर्ण उत्पादों की प्रकृति अम्लीय होती है, इसलिए अम्लोपचय उत्पन्न हो जाता है।

यदि प्रयोगगत जन्तुओं में अग्न्याशयिक मधुमेह का उपचार नहीं किया जाता तो वे कुछ ही सप्ताहों में मर जाते हैं। मनुष्य में यह दशा अधिक देर तक बनी रहती है क्योंकि सारा ही द्वीपिका ऊतक न एक साथ नष्ट हो जाता है और न एक साथ काम करना बन्द कर देता है।

इसुलिन तथा मधुमेह की चिकित्सा—अग्न्याशयिक मधुमेह पर प्रारंभिक प्रयोगों के बाद की गई सतत खोजों से पता चला है कि मधुमेह की अवस्था अग्न्याशयिक द्वीपिका ऊतक की अनुपस्थिति से उत्पन्न होती है। इसके बाद कई अनुसंधानकर्त्ताओं ने अग्न्याशयिक सत्त्व से एक हारमोन पृथक करने का असफल चेष्टाएं की। उनकी कठिनाई यह रही होगी कि उन्होंने सम्पूर्ण अग्न्याशय के सत्त्व से हारमोन को पृथक करने की कोशिश की थी। अंतःस्रावी भाग द्वारा स्रवित अग्न्याशयिक प्रकिण्व बहुत करके हारमोन को नष्ट कर देते होंगे। फिर 1922 में टोरंटो विश्वविद्यालय (कनाडा) के डा० बैंटिंग, बेस्ट मैकलियोड तथा कोलिप ने केवल द्वीपिका-ऊतक के उपयोग द्वारा ही एक ऐसे सत्त्व के निष्कासन की सूचना दी जो मधुमेहग्रस्त कुत्तों के लक्षणों में आराम पहुँचाता था।

परिशुद्धि के बाद इस सत्त्व—इंसुलिन—का मनुष्य पर प्रयोग किया गया और ऐसे ही सफल परिणाम प्राप्त हुए। तब से इंसुलिन को मणिभिकृत कर लिया गया है और अब यह अत्यंत शुद्ध अवस्था में उपलब्ध है।

इंसुलिन को केवल इंजेक्शन द्वारा ही दिया जा सकता है क्योंकि यह द्वारा देने पर यह प्रभावी नहीं होती। इंजेक्शन दिए जाने पर यह मधुमेह की दशा को तुरंत सुधार देती है। लेकिन मधुमेह के लक्षणों के आवर्तन को रोकने के लिए इंसुलिन दिन में कम से कम एक बार अवश्य दी जानी चाहिए।

इंसुलिन कैसे क्रिया करती है—इस समय यह विश्वास किया जाता है कि इंसुलिन इस प्रकार क्रिया करती है : यह यकृत् तथा कंकाल व हृद् पेशियों में रुधिर शर्करा के मधुजन (ग्लाइकोजन) में रूपांतर का संवर्धन करती है, यह अन्य ऊतकों द्वारा रुधिर ग्लूकोज के उपयोग को त्वरित करती है, यह यकृत् द्वारा *वसाओं के विघटन को धीमा कर देती है, यकृत् में कार्बोहाइड्रेट-स्तर को ऊंचा* रखकर यह प्रोटीन द्रव्यों का कार्बोहाइड्रेट में रूपांतर भी धीमा कर देती है। इन सभी क्रियाओं का उद्देश्य रुधिर में ग्लूकोज के स्तर को कम करना ही है। यह क्रिया अन्य सभी हारमोनों के कार्बोहाइड्रेट स्तर को प्रभावित करने के प्रभाव को निराकृत कर देता है।

इंसुलिन मात्रा की अधिकता के प्रभाव—सामान्य जन्तु में इंसुलिन इंजेक्ट करने या मधुमेहग्रस्त जन्तु में इसकी अत्यधिक मात्रा पहुँचा देने से रुधिर

शर्करा के सांद्रण मे बहुत गिरावट आ जाती है। यदि रुधिर-शर्करा-अंश एक न्यूनतम स्तर से नीचे गिर जाता है, तो बडे गभीर लक्षण उत्पन्न हो जाते है— ऐंठन, समूर्च्छा और मृत्यु। सर्वोत्तम आपात-उपचार ग्लूकोज-विलयन (घोल)का इंजेक्शन देकर रुधिर का शर्करा-सांद्रण ऊंचा करना है। मस्तिष्क की कोशिकाओ मे आनेवाले रुधिर मे शर्करा के एक अल्पतम स्तर का रहना प्रकटत आवश्यक है, यदि यह स्तर कायम नही रहता, तो वे सामान्य अवस्था से अधिक उत्तेजन-शील हो जाती है और ऐंठन शुरू कर देती है।

कभी-कभी अत्यधिक इंसुलिन की स्वत उत्पत्ति भी होती रहती है, और यदि यह स्थिति निरतर बनी रहे, तो इसका एक ही उपचार है, और वह है कुछ अग्न्याशयिक द्वीपिका-ऊतक को निकाल देना। कुछ प्रकार के विषायन तथा यकृत् की क्षति से भी इंसुलिन के अत्यस्राव-जैसे प्रभाव उत्पन्न हो सकते है, किंतु उनके कारण भिन्न होते है।

पीयूष ग्रंथि

अधश्चेतक के पश्च तल पर एक वृन्त या डठल से लटकती पीयूष-ग्रथि या पीयूषिका है (आकृति 28 तथा 38)। सरचना और कार्य की दृष्टि से यह भी एक दोहरी ग्रथि है। मस्तिष्क का निकटस्थ भाग, पश्च पालि भ्रूणीय मस्तिष्क-ऊतक से निकला है, जबकि अग्र पालि भ्रूणीय मुख की छत मे के ऊतक का उद्वर्ध है।

अत्यत छोटी होने पर भी पीयूष-ग्रथि किसी भी अन्य अत स्रावी ग्रथि की अपेक्षा अधिक हारमोनो को स्रवित करती है। चूंकि इन हारमोनो मे कम-से-कम हारमोन ऐसे भी है कि जो अन्य अत स्रावी ग्रथियो की सक्रियता को नियन्त्रित करते है, इसलिए इसे 'गुरुग्रथि' नाम भी दिया गया है। यह इस उपाधि की पात्र हो या न हो, यह निश्चित है कि देह मे इस ग्रथि का खासा असर है।

स्वास्थ्य मे पीयूष-ग्रथि—सामान्य व्यक्ति मे पीयूषिका-हारमोन कई प्रकार के काम करते है। वे वृद्धि, लैंगिक सक्रियता और वृक्को द्वारा उत्सर्जित जल की मात्रा का नियमन करते है। देह मे कार्बोहाइड्रेटो, प्रोटीनो तथा वसाओ के नियत्रण और उपयोग मे ये महत्त्वपूर्ण साधनो का काम देते है। और, जैसा कि अभी बताया गया है, ये अत स्रावी सक्रियता के महत्त्वपूर्ण समन्वयकार है, क्योकि वे कई अन्य अत स्रावी अगो द्वारा हारमोन-स्राव को नियत्रित करते है। इस पुस्तक के आगामी विभागो मे पीयूषिका-हारमोनो के सामान्य स्तरो का व्यापक महत्त्व अधिकाधिक स्पष्ट होता जायेगा।

पश्च पालि के कार्य—पीयूष पालि ने मस्तिष्क के साथ अपना सयोजन बनाये रखा है और अधिकाश अन्य अत स्रावी अगो के विपरीत यह तन्त्रिका-नियत्रण के अतर्गत है। अधश्चेतक से निकलकर एक तन्त्रिका-पथ पीयूषिका-वृन्त से गुजरता हुआ पश्च पालि की कोशिकाओ को जाता है। प्रायोगिक परिणाम न केवल इसके सत्त्वो के इंजेक्शन या ग्रन्थि के निष्कासन द्वारा ही, वरन् इसे

तन्त्रिकोत्तेजन देनेवाले तन्त्रिका-तन्तुओं को काटकर भी प्राप्त किए जा सकते हैं।

इस पालि द्वारा स्रवित हारमोनों को कई कार्यों का श्रेय दिया गया है। 1894 पीयूष ग्रन्थि से पिट्यूइट्रिन नामक सत्त्व प्राप्त किया गया था। प्रायोगिक इंजेक्शन करने पर इसका रुधिर दाब बढ़ाने का गुण बड़ा उल्लेखनीय पाया गया। कुछ वर्ष के बाद यह अभिनिश्चित किया गया कि इस कार्य को करनेवाला द्रव्य ग्रन्थि की केवल पश्च पालि में ही प्राप्य है। इस सत्त्व पर बाद में हुए अनुसंधान कार्य से पता चला कि इसे कम से कम दो महत्त्वपूर्ण अंशों में विभाजित किया जा सकता था। इनमें से एक पिट्रेसिन में रुधिर दाब बढ़ाने के गुणधर्म थे। दूसरे अंश 'पिटोसिन' का कई आंतरांगों विशेषकर गर्भाशय की चिकनी पेशी पर बड़ा उत्तेजक प्रभाव था।

अभी हाल ही में पश्च पालि सत्त्व में एक मूत्रलतारोधी प्रभाव के होने का पता चला है। मिसाल के तौर पर इसका इंजेक्शन बड़ी मात्रा में पानी पीने से उत्पन्न मूत्र उत्सर्जन में वृद्धि को काफी समय के लिए विलंबित कर देता है। उदकमेह या डायबिटीज इन्सीपीडस नामक रोग के निवारण में इसकी क्रिया कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस रोग में बहुत बड़ी मात्रा में मूत्र का उत्सर्जन होता है, जिसमें ठोस द्रव्य बहुत कम और ग्लूकोज बिलकुल नहीं होता है। पश्च पालि को अलग कर देने या उसे जानेवाले तन्त्रिका पथ को काट देने से यह अवस्था उत्पन्न की जा सकती है। (अंतोक्त प्रक्रिया के फलस्वरूप पश्च पालि-क्षीणिमा अपर्याप्त हो जाती है)। चूंकि पश्च पालि सत्त्व इस अवस्था को सुधार देता है इसलिए हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पश्च पालि में कोई मूत्रलतारोधी हारमोन होता है। यह हारमोन वृक्क नलिकाओं द्वारा जल के पुनरवशोषण का आन्तरिक नियमन करता है। इसकी अनुपस्थिति में सामान्य परिस्थितियों से अधिक जल उत्सर्जित होता है।

पिट्यूइट्रिन के रुधिर दाब वर्धक अंश का कुछ औषधिक महत्त्व है। अभी यह नहीं समझा जाता है कि यह रुधिर दाब पर कोई हारमोनल प्रभाव डालता है। कुछ जन्तुओं में इस बात का प्रमाण मिला है कि पिटोसिन या उसी जैसी कोई चीज प्रसव के समय गर्भाशय के आकुंचनों का नियमित करती है। स्त्री में भी ऐसा होता है या नहीं यह ज्ञात नहीं। तथापि डाक्टर लोग गर्भाशयिक आकुंचन उद्दीपित करने के लिए—यदि ये सामान्यतः नहीं होते—या सामान्य दुर्बल आकुंचनों में सहायता देने के लिए पिटोसिन का साधारणतया ढंग से उपयोग करते हैं।

अग्र पालि के कार्य—अग्र पायूषिका सत्त्व के इंजेक्शन से उत्पन्न हुए अनेकानेक प्रभावों के आधार पर अग्र पायूषिका पालि में नये-नये कई हारमोनों की उपस्थिति बताई गई है। यह बात कि हर एक प्रभाव एक विशेष हारमोन की उपस्थिति सूचित करता है मान्य नहीं है। हार का प्रकार हारमोनों का सम्प्रति इस विचार में कम करने का रहा है कि कुछ हारमोन एक से अधिक

प्रभाव डालते है। फिर भी कुछ हारमोन ऐसे हैं कि जिनके अस्तित्व के बारे मे हम बिलकुल निश्चित हो सकते हैं।

वृद्धिकर हारमोन—अग्र पालि के निष्कासन से प्रयोगगत जन्तुओ की वृद्धि मे स्पष्ट अवरोधन आ जाता है। ऐसे वामनित जन्तुओ को अग्रपालि-सत्त्व के इंजेक्शन द्वारा नूतन वृद्धि के लिए उद्दीपित किया जा सकता है, बशर्ते कि अग्र पालि के निकालने और इंजेक्शन देने के बीच अधिक समय न हुआ हो। इसके विपरीत सीमान्त-जन्तुओ मे इस सत्त्व का इंजेक्शन उनकी वृद्धि को असामान्य आकार तक ले जाता है। आकार मे वृद्धि हड्डियो और अन्य ऊतको की वास्तविक वृद्धि के कारण होती है, और केवल वर्धित वसीयता ही नही होती।

जननग्रन्थि-प्रेरक हारमोन—दो ऐसे हारमोन है, जो लिंग-हारमोनो के स्राव को निश्चित रूप से उद्दीपित करते है। अग्र पालि के निष्कासित कर दिये जाने पर जनन पिंड (जनद) अपकर्षित हो जाते है। पीयूषिका-जनद अंत-सम्बन्ध के बारे मे हम अगले अध्याय मे अधिक विस्तार से चर्चा करेगे।

दुग्धजनक हारमोन—इसके बारे मे भी हम आगे चलकर ही अधिक कहेगे। हम यहाँ पर केवल यह बता दे कि एक अग्र पालि-हारमोन का स्तन-ग्रंथियो द्वारा दूध के स्राव के सम्बन्ध है।

अन्य प्रेरक हारमोन—अग्र पालि के निकाल दिए जाने पर न केवल जनन-पिंड (जनद) ही अपकर्षित हो जाते हैं, वरन् अवटु ग्रन्थि तथा अधिवृक्क-प्रातस्था भी अपकर्षित हो जाती है। इस बात की भी कुछ सूचनाएं मिली है, यद्यपि वे अभी अनिश्चायक ही है कि परावटु-ग्रन्थियो का भी अनुरूपी अपकर्ष होता है। अग्र पालि-सत्त्व अवटु और अधिवृक्क-ग्रन्थियो की प्रवृद्धि करा सकते है या इसकी अधिकता उन्हे सामान्य अवस्था से अधिक बड़ा कर सकती है। इस तरह के सत्त्व उन हारमोनो के स्राव को भी उत्प्रेरित कर देते हैं, जो सामान्यत ग्रन्थियो द्वारा उत्पन्न किये जाते है। इस तरह 'अवटु-प्रेरक हारमोन' या 'थाइरोट्रोपिक हारमोन' अवटु-ग्रन्थि की वृद्धि के लिए (अधिक मात्रा मे होने पर यह गलगंड पैदा करता है) और थाइरॉक्सीन के स्राव के लिए आवश्यक है। 'अधिवृक्क-प्रातस्था-प्रेरक हारमोन' या 'एड्रिनोकॉर्टिकोट्रॉपिक हारमोन' जो अधिकतर ए० सी०टी०एच० के नाम से जाना जाता है, भी अधिवृक्क-प्रातस्था पर यही प्रभाव डालता है। हाल के वर्षो मे ए० सी० टी० एच० का अधिवृक्क-प्रातस्था को उद्दीपित करके कॉर्टिजोन उत्पन्न करने के कारक रूप मे व्यापक चिकित्सीय उपयोग हुआ है।

अन्य प्रभाव—यह पाया गया है कि अग्र पालि-सत्त्व कार्बोहाइड्रेट तथा वसा के चयापचयन मे सम्बन्धित अनेक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। अग्र पालि मे निश्चित रूप मे कुछ हारमोन है, जो चयापचयन पर गहन प्रभाव डालते हैं। वे कितने है और क्या वे उपरिवर्णित कुछ हारमोन ही है या उनसे भिन्न हैं, ये ऐसे प्रश्न है कि जिनके उत्तर अभी नहीं मिले है।

मनुष्य में पीयूषिका रोग—बच्चा में अग्र पालि की कुछ विशेष कोशिकाएं यदि अपरापित हो जाती हैं या वृद्धिकर हारमान की अपर्याप्त मात्रा स्रवित करती हैं तो इसका परिणाम वामनता या 'बौनापन' होता है। आमतौर पर ये बौने विरूपित या विकृत नहीं होते, किन्तु ये लैंगिक दृष्टि से अल्पविकसित हो सकते हैं। वृद्धिकर हारमोन द्वारा चिकित्सा करने में कुछ सफलता मिली है। बच्चों में इस पालि कोशिकाओं के अर्बुद(रसौली)से 'भीमकायता' पैदा हो जाती है। पीयूषिका-वामन केवल 3-4 फुट लम्बा ही हो सकता है जबकि पीयूषिका भीम प्रायः 7 8 फुट की ऊंचाई प्राप्त कर लेता है। यदि वृद्धिकर हारमान-कोशिकाएं व्यक्ति के पूरा वृद्धि प्राप्त कर लेने के बाद प्रभावित होती हैं तो फिर ऊंचाई में तो और बढ़ती नहीं होती पर एक्रोमिगली हो जाती है। इसमें चेहरे और हाथ पैरों की हड्डियों तथा कोमल ऊतकों की अतिवृद्धि हो जाती है। जनदों का अपक्षय इसका एक और प्रमुख प्रभाव है।

वयस्कों में 'सायमंड रोग' अग्रपालि के अपक्षय से उत्पन्न होता है इसे अकाल जरा कहना इसका सर्वोत्तम वर्णन करना है—बालों का सफेद होना और झड़ना, त्वचा पर झुर्रियां पड़ना देह तथा उसके अंगों के आकार का घटना जनदों का अपक्षय पेशीय दुर्बलता तथा समूर्च्छा में शीघ्र मृत्यु। मनुष्य में यह रोग प्रयोगशाला जन्तु की अग्रपालि के निष्कासन के समान है।

पीयूषिका रोग की चिकित्सा बहुत कठिन है। अतिपीयूषिकता के मामलों में ग्रंथि का स्थिति के कारण शल्य क्रिया विशेषकर कठिन और खतरनाक है। यदि शल्य क्रिया सम्भव भी हो, तो किसी अन्य आवश्यक अंग को क्षति पहुंचाए बिना इतनी छोटी निर्मिति के ठीक ही भाग को निकालना कोई सरल कार्य नहीं है। अल्पपीयूषिकता के उपचार में भी हमारे सामने बाधाएं है, क्योंकि विशिष्ट हारमोनों के यथेष्ट परिशुद्ध सम्पाक हमारे पास नहीं हैं। कुछ मामलों में यह निर्धारित करने में एक और कठिनाई पैदा हो जाती है कि रोग में ठीक कौनसा हारमोन सन्निहित है।

अध्याय 11

जनन-तंत्र

व्यक्ति के जनन को वृद्धि का ही एक स्वरूप माना जा सकता है—एक विभिन्न या असतत वृद्धि, जो जात को शाश्वत बनाती है।

पुरुषजनन-तन्त्र

पुरुष मे जननतन्त्र (आकृति 39) की बनावट बडी सरल है और सीधी है। वृषण या अडग्रन्थिया नर-जननग्रन्थिया (जनद) है, जो देह के बाहर 'वृषणकोश' या 'अडकोश' नामक कोश मे स्थित है।

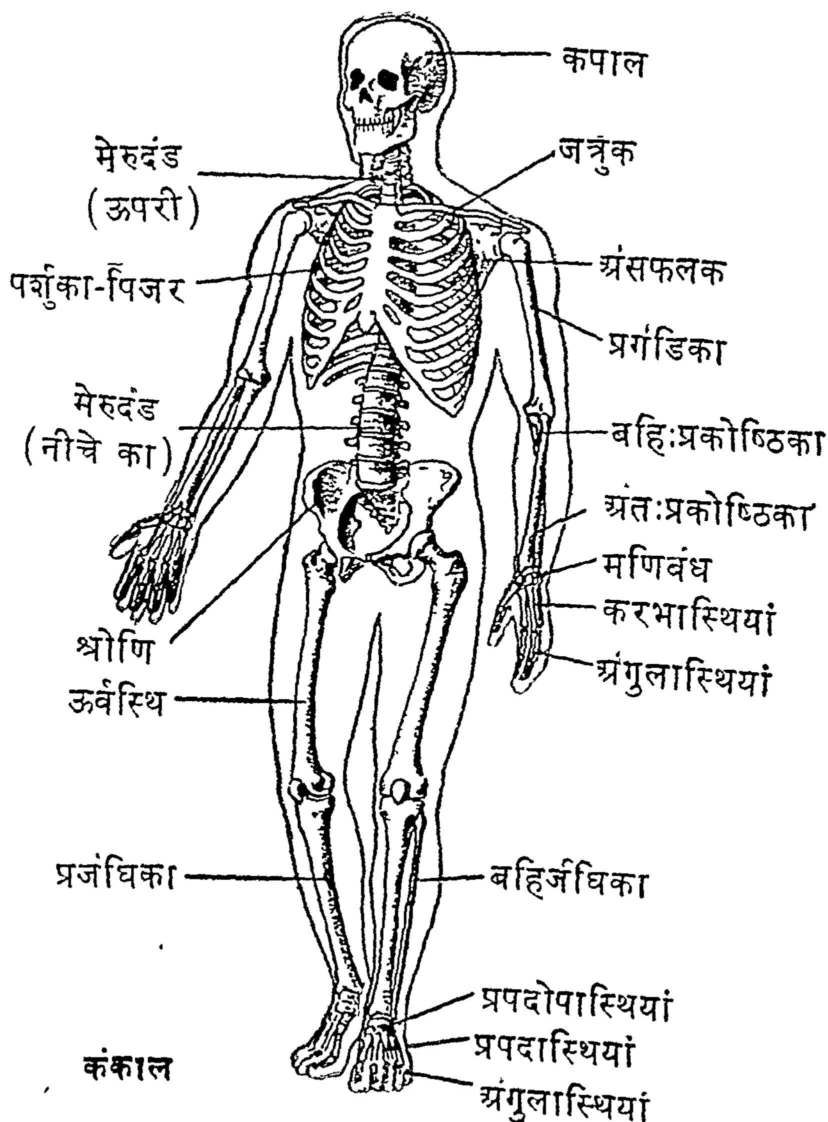
आतरिक रूप से प्रत्येक अड-ग्रन्थि अनेक शुक्रजनक नलिकाओ की बनी है (आकृति 40), जिनमे शुक्राणु-कोशिकाए उत्पन्न तथा परिपक्व होती है। नलिकायिक ऊतक-तत्त्वो के मध्य बिखरी अन्य कोशिकाए अतरालीय ऊतक की रचना करती है।

पुरुषजनन तत्र की सामान्य सक्रियताए—अंडग्रन्थियो का सामान्य कार्य परिपक्व शुक्राणु-कोशिकाए तथा पु-लैगिक हारमोन उत्पन्न करना है। पु-लैगिक हारमोन पुरुष के देहीय सलक्षणो को उत्पन्न करने तथा अतिरिक्त लिगेद्रियो के भरण-पोषण के लिए उत्तरदायी है। अतिरिक्त लिगेद्रिया इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि वे शुक्राणु-कोशिकाओ को उचित माध्यम प्रदान करती है, ताकि वे मैथुन की प्रक्रिया के दौरान पुरुष से निकलते और स्त्री मे प्रवेश करते समय जीवित और सक्रिय रह सकें।

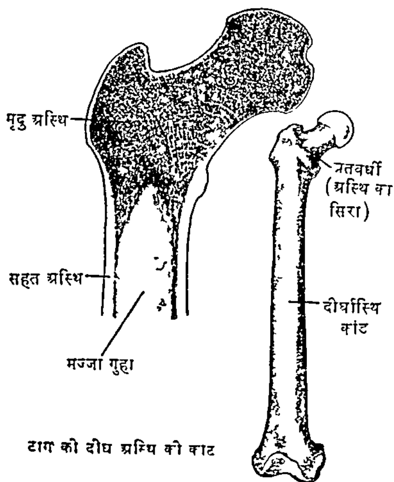
परिपक्व शुक्राणु-कोशिकाए नलिकाओ के विवरो मे से बहुकुडलित अधिवृषणिका या अध्यड मे चली जाती है, जहा उनका अल्पकालीन सचय होता है। जब मैथुन होता है, तब शुक्राणु 'शुक्रवहा' या 'शुक्रप्रवाहिणी' से होते हुए मूत्र-मार्ग मे चले जाते है, जो उन्हे शिश्न या लिंग द्वारा बाहर ले जाता है। मार्ग मे शुक्राशय, पुरस्थ ग्रन्थि या प्रोस्टेट ग्रन्थि तथा 'कद मूत्रपथ ग्रन्थिया' नलिकाओ मे शुक्रीय तरल उडेलती है। यह तरल शुक्र कोशिकाओ के लिए वाहक और परिरक्षी माध्यम का काम करता है। शुक्राणु-सहित शुक्रीय तरल को 'वीर्य' या 'शुक्र' कहते है। शिश्न का हर्षण-ऊतक अपनी अनेक रुधिर-वाहिकाओ के रुधिर-सकुलन द्वारा इस अग को कडा कर सकता है। मैथुन के दौरान शिश्न से शुक्र उत्क्षेपित हो (निकल) जाता है।

अडग्रथियो के निष्कासन के प्रभाव—जब किसी नर जन्तु को वध्यीकृत या अडोच्छेदित किया जाता है, अर्थात् उनकी अडग्रन्थिया अलग कर दी जाती है, तो अनुर्वर हो जाने के अलावा उनमे कई अन्य देहीय परिवर्तन भी आ जाते

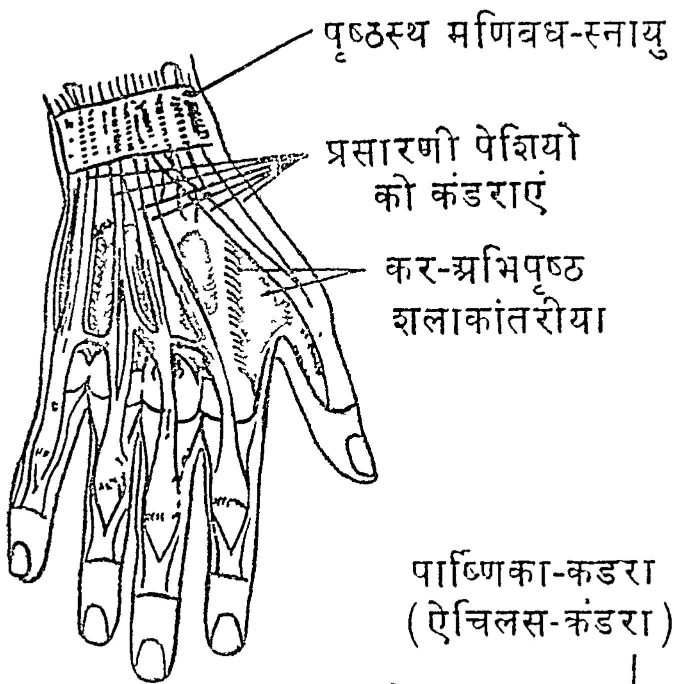
मानव-शरीर चित्रावली

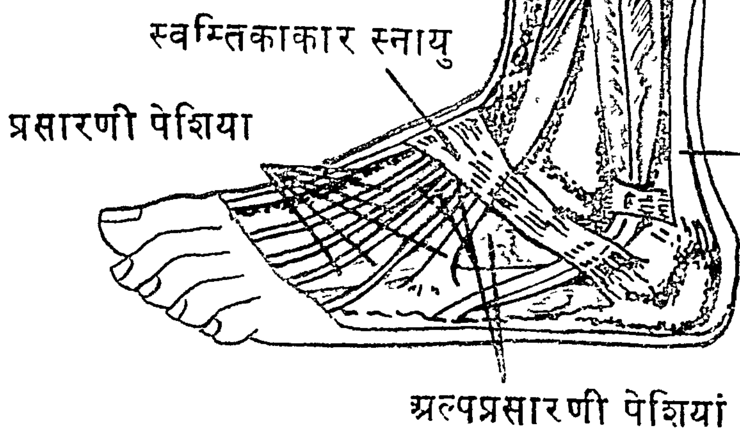


कंकाल

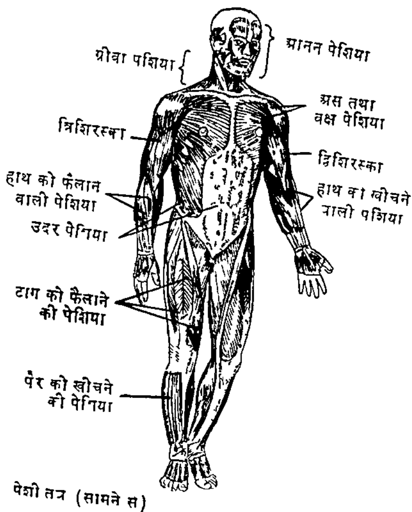


टाग की दीघ अस्थि की काट

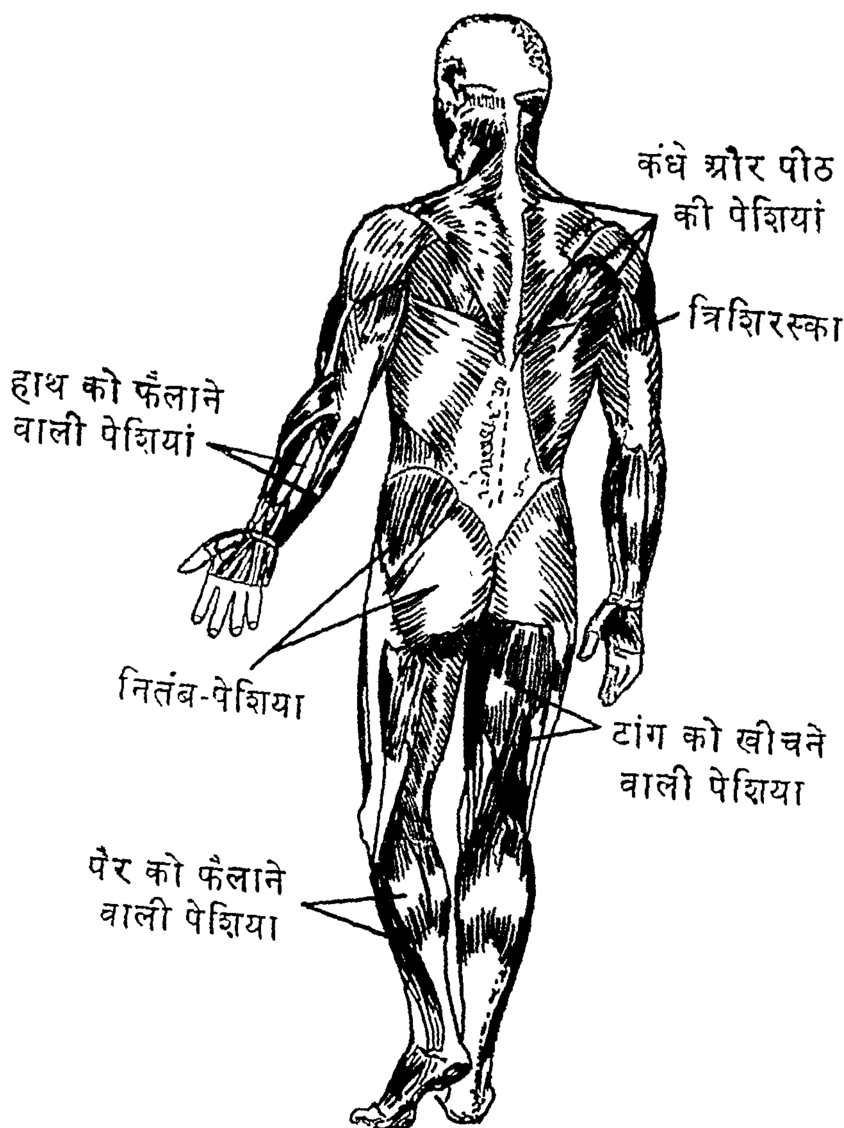

पृष्ठस्थ मणिबंध-स्नायु
प्रसारणी पेशियों
को कंडराएं
कर-अभिपृष्ठ
शलाकांतरीया


पार्ष्णिका-कंडरा
(ऐचिलस-कंडरा)
स्वस्तिकाकार स्नायु
प्रसारणी पेशियां
अल्पप्रसारणी पेशियां

हाथ तथा पैर

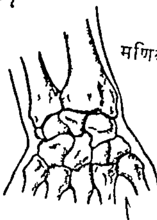

ग्रीवा पशिया
ग्रानन पेशिया
ग्रस तथा
वक्ष पेशिया
त्रिशिरस्का
द्विशिरस्का
हाथ को फैलान
वाली पेशिया
हाथ का खीचने
वाली पशिया
उदर पेशिया
टाग को फैलाने
की पेशिया
पैर को खीचने
की पेशिया

पेशी तत्र (सामने स)

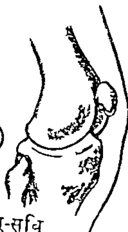

कंधे ग्रौर पीठ
की पेशियां
त्रिशिरस्का
हाथ को फैलाने
वाली पेशियां
नितंब-पेशिया
टांग को खीचने
वाली पेशिया
पैर को फैलाने
वाली पेशिया

पेशी-तंत्र (पीछे से)

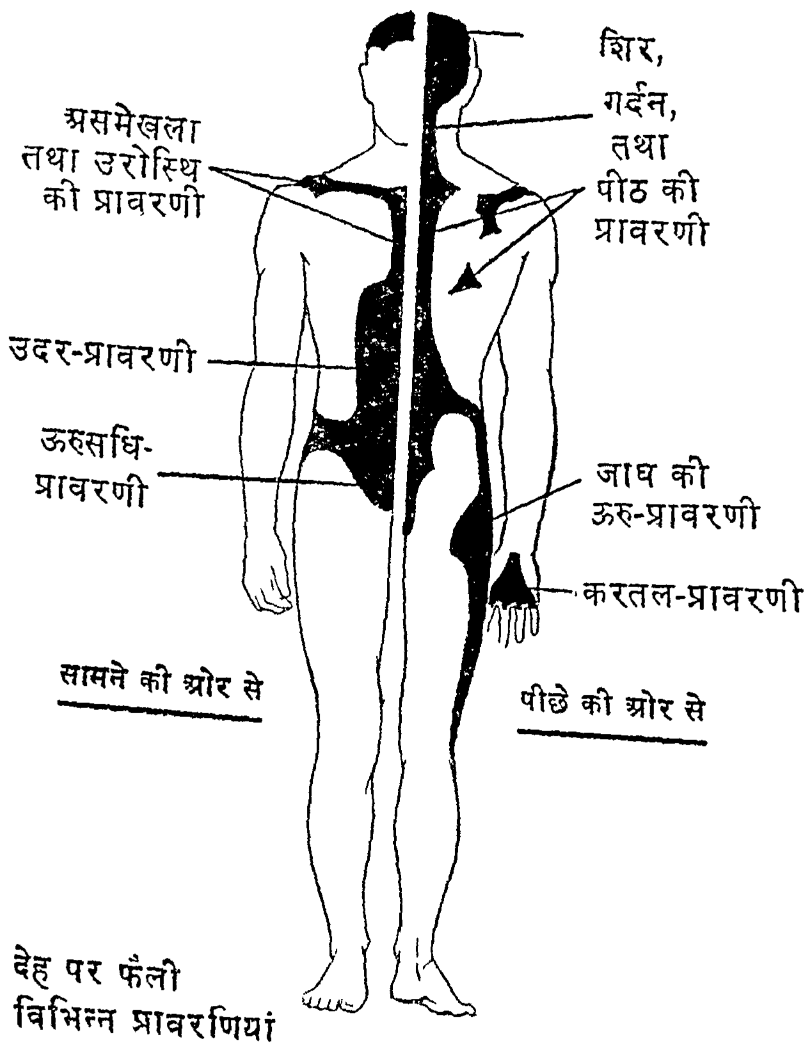




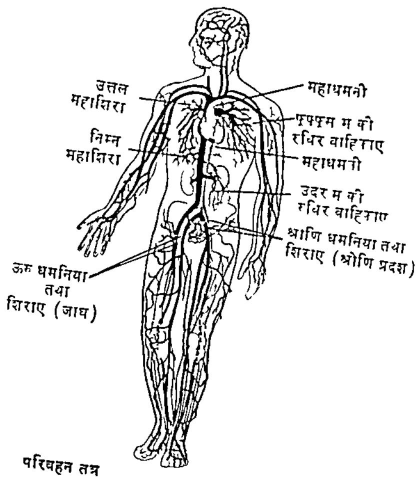




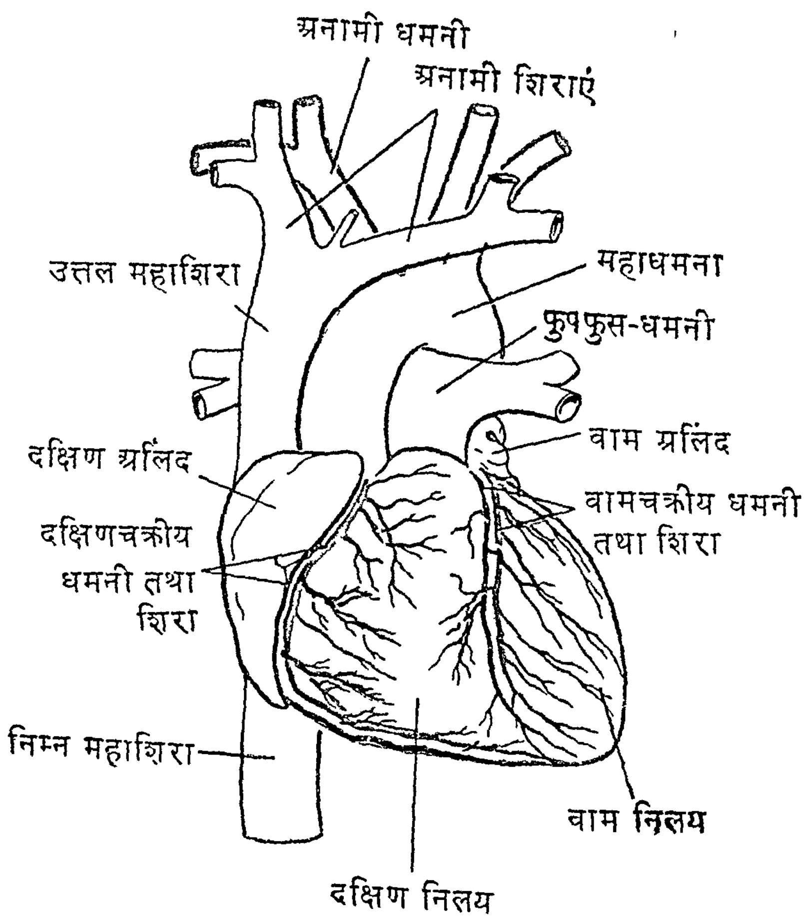
विभिन्न सधिया



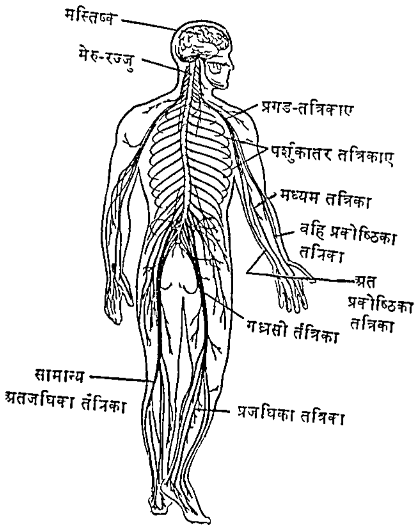
देह पर फैली
विभिन्न प्रावरणियां


उत्तल
महाशिरा
महाधमनी
फुफ्फुस म की
रुधिर वाहिनाए
निम्न
महाशिरा
महाधमनी
उदर म की
रुधिर वाहिनाए
श्रोणि धमनिया तथा
शिराए (श्रोणि प्रदश)
ऊरु धमनिया
तथा
शिराए (जाघ)

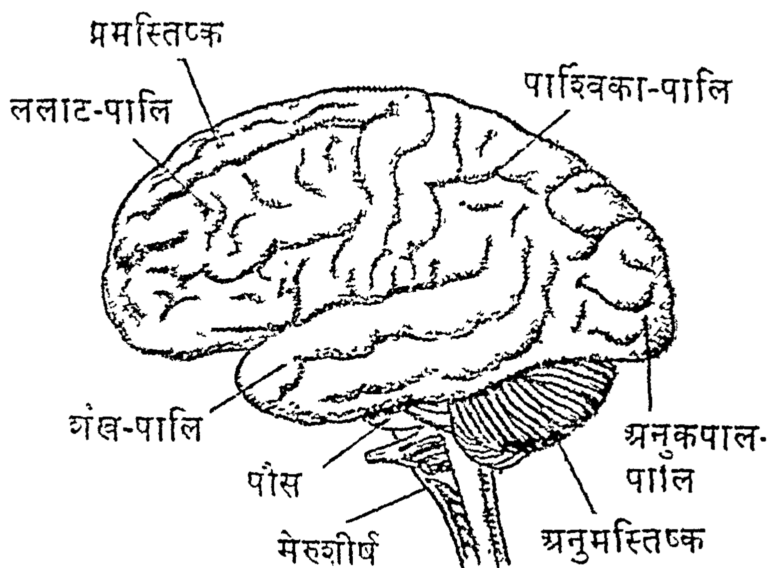
परिवहन तन्त्र

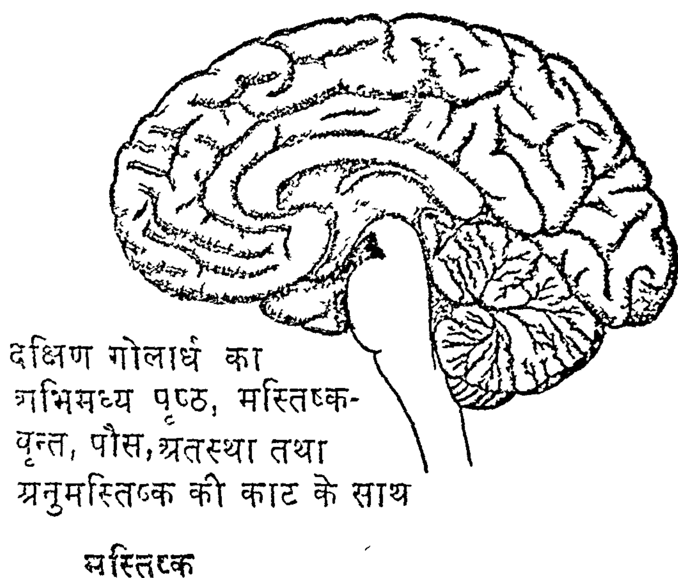


हृदय तथा प्रमुख रुधिर-वाहिकाएं


मस्तिष्क
मेरु-रज्जु
प्रगंड-तन्त्रिकाएं
पर्शुकांतर तन्त्रिकाएं
मध्यम तन्त्रिका
बहि प्रकोष्ठिका
तन्त्रिका
अंत
प्रकोष्ठिका
तन्त्रिका
गृध्रसी तंत्रिका
सामान्य
अंतजंघिका तंत्रिका
प्रजंघिका तन्त्रिका

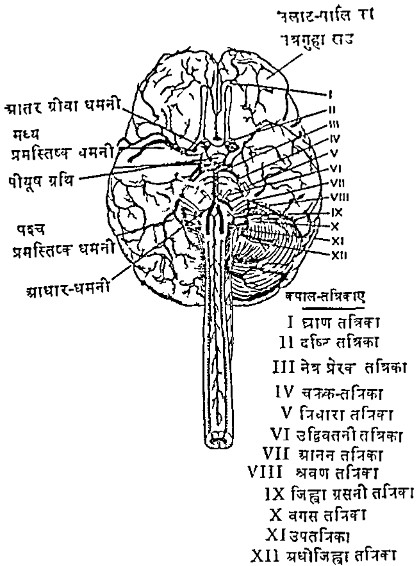
तन्त्रिका तन्त्र



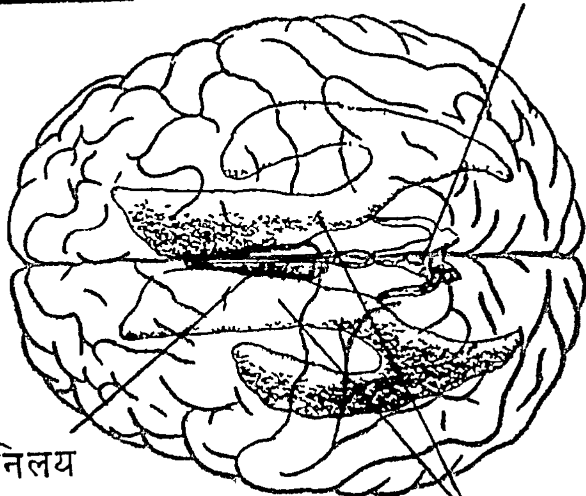


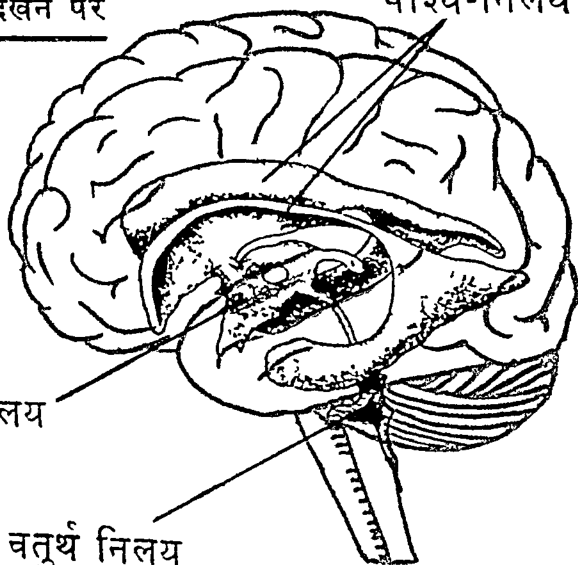
दक्षिण गोलार्ध का अभिसध्य पृष्ठ, मस्तिष्क-वृन्त, पौस, अतस्था तथा अनुमस्तिष्क की काट के साथ

मस्तिष्क

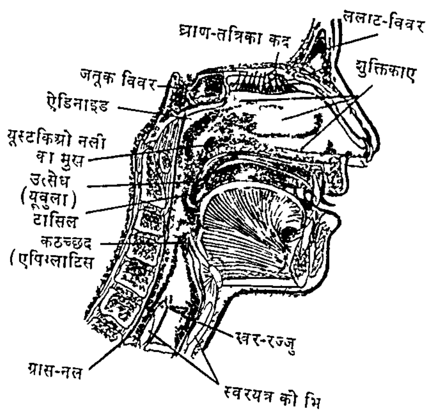


मस्तिष्क तथा मेरुरज्जु
(कपालतंत्रिकाओं सहित, ऊपर से देखने पर)


ऊपर से देखने पर
चतुर्थ निलय
तृतीय निलय


पार्श्व से देखने पर
पार्श्व-निलय
तृतीय निलय
चतुर्थ निलय

मस्तिष्क के निलय


घ्राण-तंत्रिका कंद
ललाट-विवर
जतूक विवर
शुक्तिकाए
ऐडिनाइड
यूस्टकिओ नली
वा मुख
उत्सेध
(यूवुला)
टांसिल
कंठच्छद
(एपिग्लाटिस
स्वर-रज्जु
ग्रास-नल
स्वरयंत्र की भि

सिर की काट

ऊर्ध्व ओष्ठबध

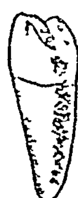
टांसिल

उत्सेध (यूवुला)

निम्न ओष्ठवध



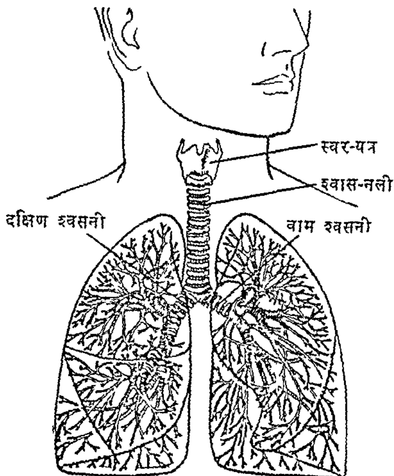




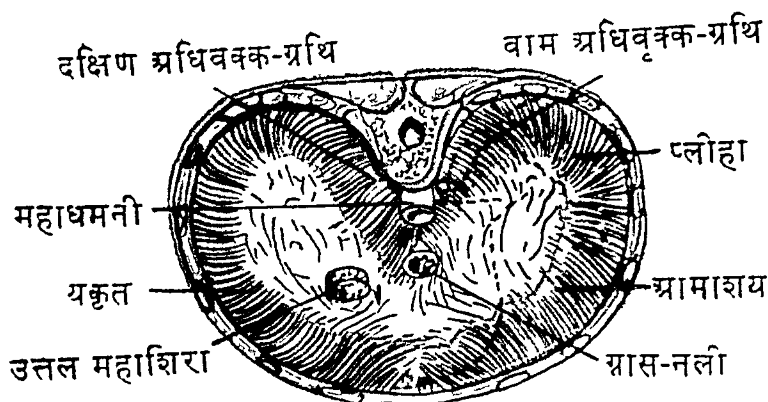


छेदन दत एकदली दंत द्विदली दंत चर्वण दंत

मुख तथा दांत



स्वर-यन्त्र, श्वास-नली तथा श्वास वृक्ष

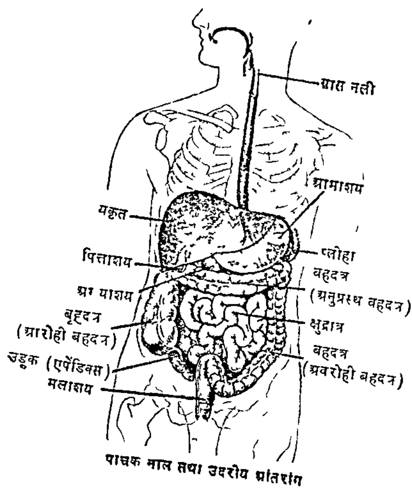


बिदुरेखाओ द्वारा मध्यच्छद के ऊपर से देखे जाने पर उदरीय अगो की स्थिति दर्शाई गई है

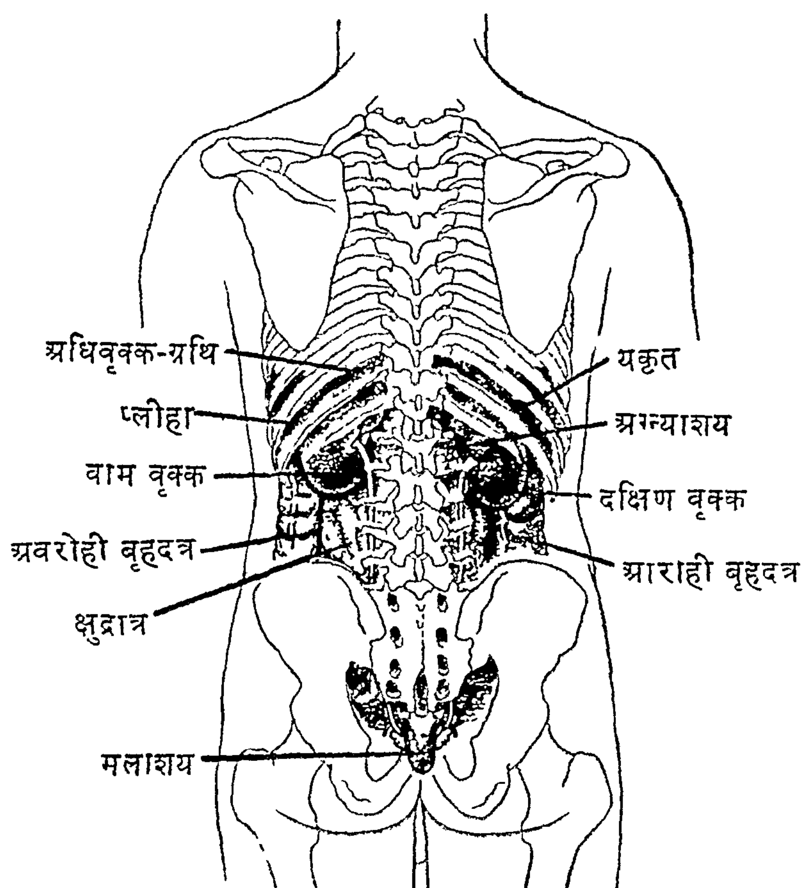


बिदुरेखाओ द्वारा मध्यच्छद के नीचे से देखे जाने पर वक्षीय अगो की स्थिति दर्शाई गई है

मध्यच्छद मे से दिखाई देनेवाला दृश्य

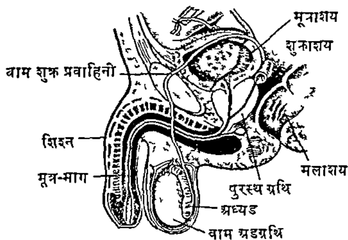


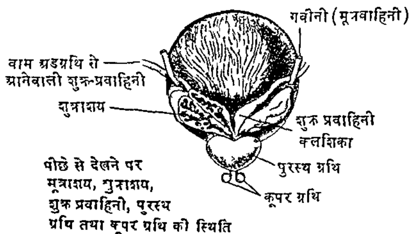
पाचक नाल तथा उदरीय अंतरांग



देह का पीछे की ओर से दृश्य, जिसमे आसपास की सरचनाओं की सापेक्षता मे वृक्क दर्शाए गए है

पुरुष जनन-तंत्र
श्रोणि प्रदेश के अन्य अंगों की सापेक्षता में

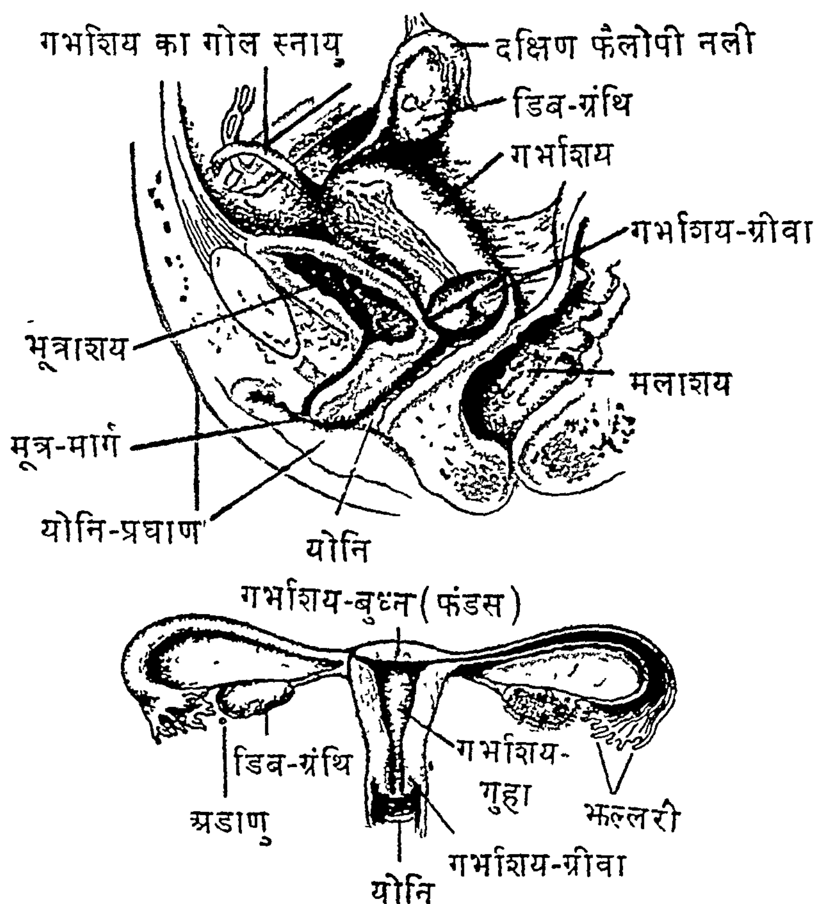


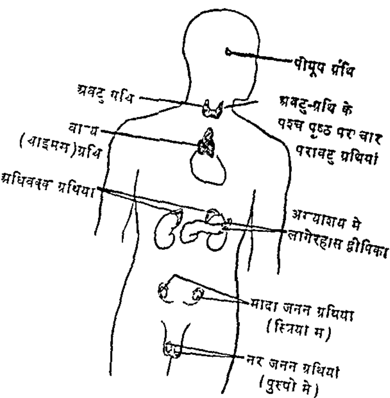


पीछे से देखने पर
मूत्राशय, शुक्राशय,
शुक्र प्रवाहिनी, पुरस्थ
ग्रंथि तथा कूपर ग्रंथि की स्थिति

स्त्रीजनन तंत्र

अन्य श्रोणि-अंगों की सापेक्षता में

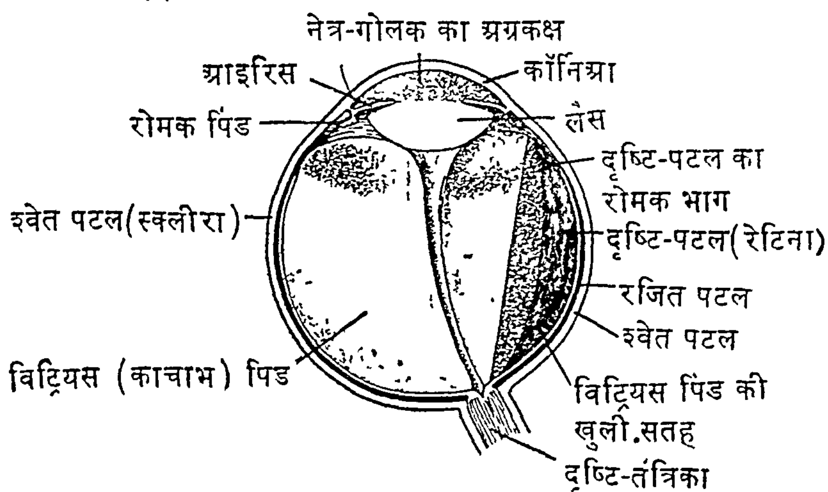


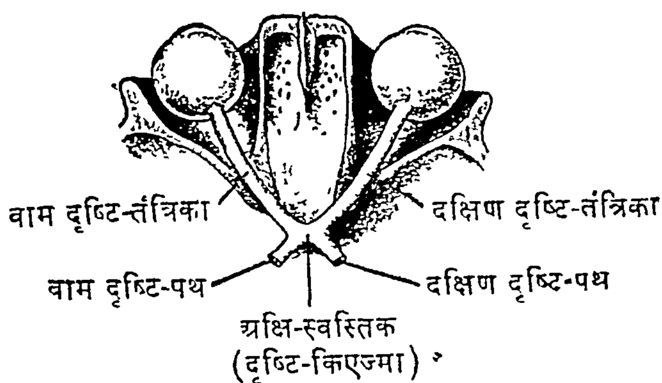


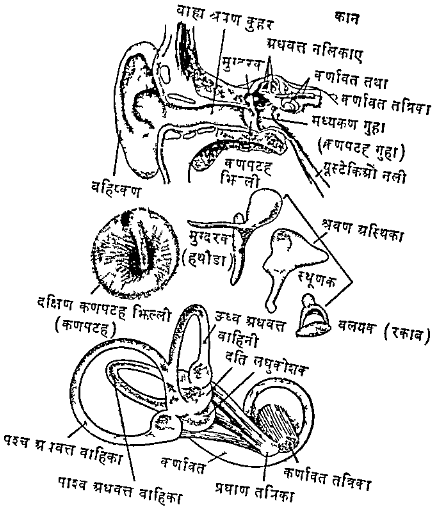
पीयूष ग्रंथि
अवटु ग्रंथि
अवटु-ग्रंथि के
पश्च पृष्ठ पर चार
परावटु ग्रंथियां
वा-य
(थाइमस)ग्रंथि
अधिवृक्क ग्रंथिया
अग्न्याशय मे
लांगेरहास द्वीपिका
मादा जनन ग्रंथिया
(स्त्रियां मे)
नर जनन ग्रंथियां
(पुरुषों मे)

अंत स्रावी ग्रंथियां

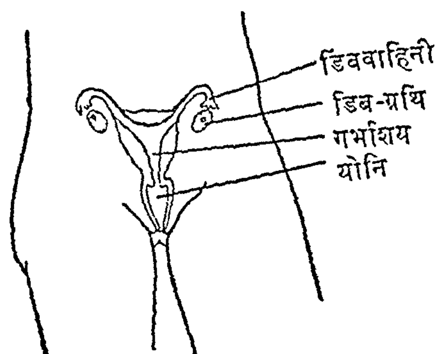
नेत्र

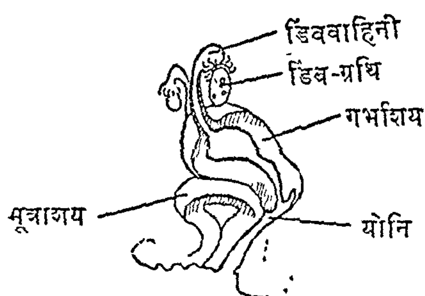

नेत्र-गोलक का अग्रकक्ष
आइरिस
कॉर्निआ
रोमक पिंड
लैंस
दृष्टि-पटल का रोमक भाग
श्वेत पटल(स्क्लीरा)
दृष्टि-पटल(रेटिना)
रंजित पटल
श्वेत पटल
विट्रियस (काचाभ) पिंड
विट्रियस पिंड की खुली सतह
दृष्टि-तंत्रिका


वाम दृष्टि-तंत्रिका
दक्षिण दृष्टि-तंत्रिका
वाम दृष्टि-पथ
दक्षिण दृष्टि-पथ
अक्षि-स्वस्तिक
(दृष्टि-किएज्मा)



कान
वाह्य श्रवण कुहर
अधवत्त नलिकाए
मुग्दरक
कर्णावत तथा
कर्णावत तन्त्रिका
मध्यकर्ण गुहा
(कर्णपटह गुहा)
कर्णपटह
झिल्ली
यूस्टेकिओ नली
वहिकर्ण
श्रवण अस्थिका
मुग्दरक
(हथौडा)
स्थूणक
दक्षिण कणपटह झिल्ली
(कणपटह)
ऊर्ध्व अधवत्त
वाहिनी
वलयक (रकाब)
दति लघुकोशक
पश्च अ रवत्त वाहिका
कर्णावत
कर्णावत तन्त्रिका
पाश्व अधवत्त वाहिका
प्रधाण तन्त्रिका



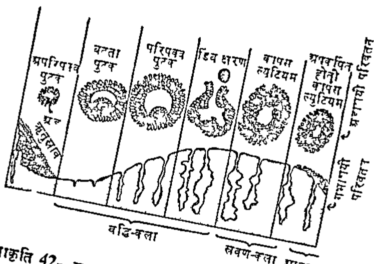


आकृति 41— स्त्रीजनन-तन्त्र

स्त्रीजनन-तन्त्र की सामान्य सक्रियताए—स्त्री की जनन-ग्रथिया—डिब-ग्रथिया—परिपक्व अड-कोशिकाए तथा स्त्रीलिंग-हारमोन उत्पन्न करती है। ये हारमोन स्त्री के देहीय लक्षणो तथा सहायक लिंगेन्द्रियो के संपोषण का कार्य करते है। जैसा कि हम देखेगे, अडाशयी हारमोन आर्तव-चक्र मे समाविष्ट परिवर्तनो के क्रम के नियमन मे एक महत्त्वपूर्ण भाग लेते है। आर्तव-स्राव, जिससे इस चक्र का आरभ माना जाता है, वस्तुत इस चक्र की समाप्ति का द्योतक है।

अंडाशयी परिवर्तन—जन्म से लेकर यौवनारभ तक डिबग्रथि मे अनेक परिपक्व अडे रहते है। हर अंडा अनेक लघुतर 'स्तरक कोशिकाओ' या 'पुटक कोशिकाओ' से घिरा रहता है। प्रथम आर्तव-चक्र के प्रारभ मे, तथा उसके बाद के प्रत्येक चक्र मे, कुछ पुटक परिपक्व होने लगते है। साधारणतया एक चक्र मे एक ही पुटक परिपक्व होता है, दूसरे अपकर्षित हो जाते है। पुटक की परिपक्वता मे इसका आकार तेजी से बढता है और इसके विवर मे तरल भर जाता है। इस अवस्था मे परिपक्व पुटक आकृति 42 मे दर्शाए-जैसा लगता है।

परिपक्व पुटक अब अडाशय की सतह के बाहर उभर रहा होता है। अपने परिवर्धन का प्रारभ होने के दस दिन बाद (या आर्तव-स्राव के दस दिन बाद पुटक फट जाता है और डिब या अडाणु देहीय गुहा मे नि स्रवित हो



आकृति 42—आतव चक्र के दौरान अडाशयी तथा गर्भाशयी परिवर्तन सपूण विवरण के लिए मूल पाठ देखें।

यह प्रक्रिया अडमोचन या डिंब क्षरण' कहलाती ह (डिंब क्षरण की अवधि व्यक्ति व्यक्ति मे और एक व्यक्ति म भी चक्र चक्र म एकदम भिन्न होती ह)। भजित पुटक की कोशिकाए अब रूपातरित होती हैं और कोशिकाओ की एक ठोस पीली राशि का निर्माण करती ह जिसे कापस ल्युटियम या पीत वस्तु कहते है।

यदि इस समय अड का ससेचन नही होता तो कापस ल्युटियम अगले 12 14 दिनो तक बढ़ती रहती ह लकिन फिर अपकर्षित हो जाती ह। यदि शुक्राणु कोशिकाए डिंब क्षरण की अवधि के आसपास योनि म प्रविष्ट हो जाती हैं तो व अपनी पूछ की कोडे जसी गति द्वारा गर्भाशय से होते हुए फलोपी नलियो म चली जाती है। ससेचन का सामान्यत यही स्थान ह। ससेचित हुआ अडा धीरे धीरे डिंब वाहिनी से गर्भाशय म आ जाता ह और अपने को गर्भाशय की दीवार म स्थापित कर लेता ह। एक बार ससेचन हो जाने के बाद कापस ल्युटियम बनी रहती ह और सगर्भावस्था की लगभग पूण अवधि भर बढ़ती रहती ह।

गर्भाशयी परिवतन—आतव चक्र क समय अडाशयी परिवतनो के साथ साथ गर्भाशय के अस्तर या गर्भाशय के अत स्तर म भी चक्रीय परिवतन होते हैं। पुटक की परिपक्वता की अवधि के दौरान गर्भाशय की कोशिकाओ के गुणन के कारण उसका अस्तर मोटा होता जाता ह। इस अवस्था को वृद्धि-कला कहते हैं। इसम गर्भाशय के अस्तर की श्लेष्मिक ग्रथियां भी बडी हो जाती हैं और इसम अधिक रुधिर वाहिकाए पैदा हो जाती हैं।

डिंब-क्षरण क बाद इन परिवतनो म तजी आ जाती ह। अस्तर और भी

मोटा हो जाता है, ग्रथिया तथा रुधिर-वाहिकाए और भी अधिक प्रचुरोद्भवित होती जाती है। इसके अलावा ग्रथिया अब एक श्यान (चिपचिपा) श्लैष्मिक स्राव करने लगती है। इस अवस्था को स्रवण-कला कहते है। यदि इस बीच मे ससेचन हो गया है, तो गर्भाशयी अस्तर सगर्भावस्था की पूरी अवधि मे इसी स्थिति मे बना रहता है। यदि ससेचन नही हुआ है, तो गर्भाशय के अत स्तर की सबसे ऊपर की तहे अपकर्षित हो जाती है और बहिर्गमित कर दी जाती है। इसमे कुछ रुधिर-स्राव होता है। इस अवस्था को आर्तवस्राव-कला कहते है। यह विघटन-प्रक्रिया 'रज स्राव', 'रजोधर्म', 'ऋतुस्राव', 'आर्तव' या 'मासिक धर्म' कहलाती है। कोशिकाए और रुधिर बाहर चले जाते है और सारी प्रक्रिया मे चार-पाच दिन लग जाते है। इस अवधि के अत मे गर्भाशयी अस्तर आरभिक दशा मे आ जाता है और इस चक्र को दुहरा सकता है।

योनि-परिवर्तन—कुछ निम्न स्तनधारियो (जैसे मूषक या चूहा) मे आर्तव-चक्र के समय योनि के अन्तर मे कोशिक परिवर्तन होते है। कुछ सतही कोशिकाओ का लेप बनाकर और सूक्ष्मदर्शी के नीचे उसकी परीक्षा करने से यह बताना सभव हो जाता है कि जतु चक्र के किस दौर मे है। स्त्री की योनि भी परिवर्तन प्रदर्शित करती है, लेकिन अभी तक ऐसा कोई विश्वसनीय तरीका नही मिला है जिससे कि इस चक्र की कला का निर्धारण किया जा सके।

हमे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आर्तव-चक्र की विभिन्न कलाओ की अवधिया—वृद्धि-कला के दस दिन, स्रवण-कला के चौदह दिन, आर्तव-स्राव-कला के चार दिन,—बहुत सारी स्त्रियो मे इस चक्र के प्रेक्षणो से प्राप्त औसत ही है। इसका यह अर्थ नही कि हर स्त्री के चक्र इन्ही अनुपातो मे होते है। या उसका चक्र अट्ठाईस दिन मे ही पूरा होता है। वास्तव मे व्यक्ति-व्यक्ति मे और एक ही स्त्री के क्रमिक चक्रो मे भी बहुत अधिक वैभिन्न्य होता है।

डिब-ग्रथियो के निष्कासन के प्रभाव—अडाशय-अपनयन या डिबग्रथि-उच्छेदन, अर्थात् अडाशय को अलग कर देने से पुरुष के अडोच्छेदन-जैसे ही प्रभाव पडते है। यदि डिबग्रथि-उच्छेदन लैगिक परिपक्वता प्राप्त करने के पहले किया जाता है, तो इसके फलस्वरूप गौण लिग-निर्मितिया परिपक्व नही हो पाती है और गौण लैगिक लक्षण (उच्चतारत्व की पतली आवाज, केशो तथा वसानिक्षेप का स्त्रियोचित वितरण) पुरुष-लक्षणो मे बदलने लगते है।

यौवनारभ के बाद डिबग्रथि-निष्कासन से आर्तव-चक्र बन्द हो जाता है, गौण लिग-निर्मितियो का अपकर्ष हो जाता है, और बसीयता मे वृद्धि हो जाती है। कभी भी डिबग्रथि-उच्छेदन करने से बध्यता या अनुर्वरता तो हो ही जाती है।

अंडाशयी हारमोन—डिबग्रथि-उच्छेदन के अत स्रावी प्रभावो को अडाशय-सत्त्वो के इजेक्शन द्वारा निराकरणित या उलटा किया जा सकता है। इस प्रकार के सत्त्वो को देकर डिबग्रथि-उच्छेदित स्त्री मे लैगिक चक्र को पुन स्थापित किया जा सकता है।

इस दृष्टि से डिंबग्रंथियों को भी एक अंत स्रावी अंग ही होना चाहिए। इस विचार की पुष्टि अंडाशयी सत्वों में से दो हारमोनों के पृथक्करण से हुई। ये हारमोन मणिभीकृत और संश्लेषित तक कर लिए गए हैं।

पुटक हारमोन—डिंबग्रंथि के बड़े पुटक द्वारा स्रवित हारमोन को 'ऐस्ट्राडियोल' नाम दिया गया है। डिंबग्रंथि उच्छेदित स्त्री को दिया जाने पर यह हारमोन गर्भाशय के अस्तर की वृद्धि रुधिर संवहनीकरण तथा ग्रंथि निर्माण प्रेरित कर सकता है। इसके न देने पर ऋतुस्राव हो जाता है। पुटक हारमोन रुधिर द्वारा गर्भाशय में पहुंचता है और वहां यह अपने प्रभावों का संपादन करता है।

रासायनिक संरचना में ऐस्ट्राडियोल से मिलते जुलते कई अन्य रासायनिक यौगिक, एस्ट्राजनिक सक्रियता से युक्त पाए गए हैं। लेकिन ये एस्ट्राडियोल-जैसे प्रभावी नहीं हैं।

ल्युटियल हारमोन—कापस ल्युटियम द्वारा स्रवित हारमोन प्रोजेस्टेरोन गर्भाशयी अस्तर की स्राव क्रिया तथा सगर्भ गर्भाशय के संपोषण का कार्य करता है। जिस डिंबग्रंथि उच्छेदित स्त्री को केवल ऐस्ट्रोजन दिया गया है उसमें लैंगिक चक्र की वृद्धि-कला तो प्रकट हो जाएगी किन्तु वह स्रवण-कला तब तक प्रदर्शित नहीं करेगी कि जब तक उसे एस्ट्रोजन के बाद प्रोजेस्टेरोन नहीं दिया जाता। तथापि ऐस्ट्रोजन पहले ही दिया जाना चाहिए क्योंकि यह गर्भाशयी अस्तर को प्रोजेस्टेरोन के लिए सम्भवतः अनिमवन्ति कर देता है। प्रोजेस्टेरोन का देना बंद कर देने से आर्तव-स्राव एस्ट्रोजन उपचार रोकने की अपेक्षा ज्यादा तेजी से होने लगता है। बहुत सम्भव है कि स्रवण-कला के अन्त में प्रोजेस्टेरोन स्तर के गिर जाने के कारण ही सामान्यतः आर्तव-कला का आरम्भ होता है।

पीयूषिका डिंबग्रंथि अंतःसम्बन्ध—पीयूषिका की अग्र पालि के जनन ग्रंथिप्रेरक हारमोनों का डिंबग्रंथि और उसके हारमोनों पर निश्चित नियंत्रण है। अग्र पालि के निष्कासन के फलस्वरूप डिंबग्रंथि और गौण लैंगिक निर्मितियों का अपक्षय होता है और कामेच्छा जाती रहती है। जननग्रंथि प्रेरक हारमोनों का देना इन परिवर्तनों को रोक या उलट सकता है।

पुरुषों में शुक्राणु जनन को बढ़ानेवाले हारमोन के समान जो हारमोन है वह 'पुटकोत्तेजक हारमोन' या एफ० एस० एच० कहलाता है और जो हारमोन पुरुष में टेस्टोस्टिरोन स्राव को उद्दीपित करनेवाले हारमोन के समान है वह स्त्री में ल्युटिनीकारी हारमोन या एल० एच० कहलाता है। ऐसे मादा जंतु में पीयूषिका की अग्र पालि निकाल दी गई है पुटकोत्तेजक हारमोन का इंजेक्शन उसकी डिंब ग्रंथियों के अपक्षय को रोकता है और ऐस्ट्राडियोल के स्राव तथा पुटकों की वृद्धि को बढ़ाता है। ल्युटिनीकारी हारमोन का इंजेक्शन डिंब क्षरण करनेवाला माना जाता है और यह कापस ल्युटियम द्वारा प्रोजेस्टरोन के स्राव को उत्तेजित करता है।

इसके विपरीत एस्ट्रोडियोल और प्रोजेस्टेरोन पीयूषिका द्वारा जनन ग्रंथि

प्रेरक हारमोनो का स्राव अवरुद्ध कर सकते है। ऐस्ट्रोडिओल इजेक्शन से पुटका-त्तेजक हारमोन का, और प्रोजेस्टेरोन के इजेक्शन से ल्युटिनीकारी हारमोन का स्राव विशेषकर अवरुद्ध होता लगता है।

सगर्भावस्था—सगर्भावस्था या गर्भिणीता के पूर्वार्ध मे कार्पस ल्युटियम आवश्यक है। यह गर्भाशयी अस्तर को उसकी स्रवण-कला मे बनाए रखती है और गर्भाशय की दीवार मे ससेचित अड को नीडित करने के लिए आवश्यक है। यह आर्तव-स्राव भी रोकती है। यदि इस समय कार्पस ल्युटियम निष्कासित कर दी जाये, तो गर्भस्राव या गर्भपात हो जाता है—गर्भाशयी अस्तर उचट जाता है और भ्रूण गर्भाशय से प्रस्रवित हो जाता है। सगर्भावस्था के प्रथमार्ध के बाद कार्पस ल्युटियम आवश्यक नही है, वस्तुत सगर्भावस्था के अन्तिम मासो मे इसका अपकर्ष हो जाता है।

यह सुझाया गया है कि सगर्भावस्था के उत्तरार्ध मे गर्भनाल ऐस्ट्रोजेन तथा प्रोजेस्टेरोन उत्पन्न करती है। (गर्भनाल गर्भाशय और भ्रूणीय ऊतक के सयोग से उत्पन्न निर्मिति है, जिसके द्वारा भ्रूण का पोषण होता है)। यह सम्भव है कि गर्भनाल सगर्भावस्था के उत्तरार्ध मे इन हारमोनो को स्रवित करती हो और इस प्रकार सगर्भावस्था के सपोषण मे योग देती हो। (यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि सगर्भावस्था के प्रारम्भ मे भ्रूण को घेरनेवाली एक झिल्ली एक जननग्रथि-प्रेरक हारमोन का स्राव करती है, जो पीयूषिका से स्रवित हारमोन की अनुपूर्ति करता है। भ्रूण से आया हारमोन मादा के मूत्र मे देखा जा सकता है और सगर्भावस्था-परीक्षा का आधार प्रस्तुत करता है—प्रारम्भिक सगर्भावस्था की स्त्री का मूत्र अक्षत-योनि खरगोश को दिया जाने पर जननग्रथि-प्रेरक हार-मोन की उपस्थिति के कारण परीक्षान्तर्गत जन्तु मे अडाशयी परिवर्तन उत्पन्न कर देगा।

दुग्ध-स्रवण—यौवनारम्भ के समय स्तनो की वृद्धि रुधिर मे ऐस्ट्राडिओल की उन्मुक्ति के कारण होती है। इसके बाद आर्तव-पूर्व अवधियो मे, तथा विशेष-रूप से सगर्भावस्था के समय, उनका वर्धित विकास प्रोजेस्टेरोन की सहायक क्रिया के कारण होता है। दुग्ध का वास्तविक स्राव अडाशयी हारमोनो द्वारा प्रोत्साहित किए जाने के बजाय अवरुद्ध किया जाता है।

प्रसव के बाद पीयूषिका की अग्र पालि एक दुग्धजनक हारमोन स्रवित करती है, जो तब दुग्ध-ग्रन्थियो द्वारा दुग्ध की उत्पत्ति को उत्तेजित करता है।

रजोनिवृत्ति तथा आर्तव-विकार—42 और 52 वर्ष की अवस्था के बीच किसी समय स्त्रीलिंग-चक्र समाप्त हो जाता है। डिबग्रन्थियो का अपक्षय आरम्भ हो जाता है और इसके बाद गर्भाशय, योनि तथा स्तनो आदि मे अपकर्षी परिवर्तन होने लगते है। इसके बाद अनुर्वरता आरम्भ हो जाती है। आमतौर पर हारमोन-सतुलन मे परिवर्तन के बाह्य चिह्न दृष्टिगोचर होते है—त्वचा का लाल व गरम हो जाना, पसीना आना और अन्य मनोवैज्ञानिक लक्षण। कुछ

स्त्रियों में जीवन परिवर्तन की यह अवधि बड़ी कठिन होती है। अंडाशयी हारमोन देकर इन परिवर्तनों की गति को अधिक धीमा तथा क्रमिक करने के प्रयास कुछ मामलों में सफल हुए हैं लेकिन कई असफलताओं की भी सूचनाएं मिली हैं।

अपेक्षाकृत कम आयु की स्त्रियों में ऋतुस्रावीय विकारों की चिकित्सा में भी लगभग इतनी ही सफलता मिली है। अल्प पीड़ायुक्त अत्यधिक या अनुपस्थित आर्तव स्राव कोई असाधारण बात नहीं है। उपचार में सम्भवत इसलिए कठिनाई होती है कि हारमोनों के देने से हारमोन स्तरों में वे चक्रीय परिवर्तन आरंभ नहीं होते जो सामान्यत होते हैं।

स्त्रीलिंग चक्र में घटना क्रम—यौवनारंभ के आगमन के समय पीयूषिका का पुटकोत्तेजक हारमोन अंडाशयी पुटकों की वृद्धि तथा एस्टाडिओल के स्राव को उद्दीपित करता है। अपनी बारी में ऐस्ट्राडिओल गौण लैंगिक निर्मितियों तथा लक्षणों के विकास को बढ़ावा देता है। यह गर्भाशयी अस्तर की वृद्धि कला भी उत्पन्न करता है। प्रत्येक आर्तव चक्र में रुधिर में ऐस्ट्राडिओल सान्द्रण के काफी ऊंचे स्तर पर आ जाने पर पुटकोत्तेजक हारमोन अवरुद्ध हो जाता है और ल्यूटिनीकारी हारमोन स्रवित करने के लिए पीयूषिका उद्दीपित कर दी जाती है। यह प्रक्रिया डिंब क्षरण के आरम्भ कापस ल्युटियम की वृद्धि तथा प्रोजेस्टेरोन स्राव को जन्म देती है। प्रतिसंवेदित गर्भाशयात स्तर को प्रोजेस्टेरोन श्लष्मा स्रवित करनेवाले ऊतक के रूप में परिवर्तित कर देता है।

जब प्रोजस्टेरोन का स्तर एक विशेष स्तर पर पहुंच जाता है, तो ल्युटिनीकारी हारमोन का स्राव रुक जाता है। यदि कोई अंडा संसेचित नहीं हुआ है तो कापस ल्युटियम अपकर्षित हो जाता है और ऐस्ट्राडिओल और प्रोजेस्टेरान के सान्द्रण तेजी से गिर जाते हैं। इससे ऋतुस्राव उत्पन्न हो जाता है। यदि कोई अंडा संसेचित हो जाता है तो कापस ल्युटियम सगर्भावस्था के अधिकांश समय तक रहती है और सामान्य आर्तव चक्रों को रोक देती है। इसमें कभी कभी अपवाद भी होता रहता है। सगर्भावस्था के बाद की अवस्थाओं में कापस ल्युटियम का अपकर्ष आरम्भ हो जाने के बाद गर्भनाल ऐस्ट्रोजेन और प्रोजस्टेरान स्रवित करता है। इस बीच में ऐस्ट्राजन और प्रोजस्टरान दुग्ध ग्रंथियों के विकास को उद्दीपित करते रहते हैं।

सगर्भावस्था अपनी पूर्ण अवधि पर आ जाती है, तो एस्ट्रोजन और प्रोजेस्टेरान के स्तर तेजी से गिरते हैं और प्रसूति आरम्भ हो जाती है। प्रसव के बाद, पीयूषिका का दुग्धजनक हारमोन दुग्ध उत्पादन को उद्दीपित करता है।

यह भी सम्भव है कि रजोनिवृत्ति एस्ट्रोजन और प्रोजेस्टेरान के स्तर में एक और तीव्र अवपात के कारण होती है।

अध्याय 12

आहार-पुष्टि

पोषको के हर महत्त्वपूर्ण समूह को उसका उचित स्थान और अनुपात प्रदान करना अच्छे आहार की रचना का एक सतोपजनक आधार है। हम पोषको के छ महत्त्वपूर्ण वर्गो को मान्यता देते है—शर्करावर्गीय या कार्बोहाइड्रेट, वसाए या चर्बिया, प्रोटीन, जल, खनिज और विटामिन। ध्यान मे रखने की बात यह भी है कि आहार कितनी कैलोरी ऊर्जा प्रदान करेगा।

शर्करावर्गीय या कार्बोहाइड्रेट—माड या स्टार्च तथा शर्कराए कार्बोहाइड्रेटो के अच्छे उदाहरण है। हमारे आहार का अधिकाश इन्ही का होता है और ऐसा होना चाहिए भी। कार्बोहाइड्रेट वसाओ या प्रोटीनो की अपेक्षा ज्यादा आसानी और जल्दी से पच जाते है और ये ऊर्जा के हमारे मुख्य स्रोत है। भार के समय सबसे पहले देह की उपलब्ध कार्बोहाइड्रेट राशि (जो कदाचित् ही अधिक होती है) ही काम मे आती है और कम हो जाती है। यद्यपि स्वास्थ्य की दृष्टि से विचार करते समय हमारे सामने पहले दूसरी बाते ही आती है, तथापि इस बात की उपेक्षा नही करनी चाहिए कि कार्बोहाइड्रेट-प्रचुर भोज्य पदार्थ सामान्यतः प्रोटीन या वसा-प्रचुर भोज्य पदार्थो से सस्ते होते है। इसलिए अन्य पोषको की अपेक्षा अधिक कार्बोहाइड्रेट खाना कई दृष्टियो से अच्छा है।

अनाज (मक्का, गेहू, चावल आदि) और उनसे प्राप्त वस्तुए (रोटी आदि) तथा आलू-जैसे शाक और केला-जैसे फल भी मड के अच्छे स्रोत है। शर्कराए विशेषकर फलो, बेरियो, चुकदर तथा कुछ अन्य शाको मे, स्वय इक्षुशर्करा (गन्ने की चीनी) तथा मिठाइयो मे प्राप्त होती है।

वसाए—कार्बोहाइड्रेटो की अपेक्षा वसाए ऊर्जा की उत्तमतर स्रोत है (समान भार की वसा कार्बोहाइड्रेट से दो गुनी ऊर्जा उपलब्ध करती है), लेकिन अन्य खाद्य पदार्थो के मुकाबले ये अधिक धीरे और मुश्किल से पचती है। भोजन मे वसा की अत्यधिकता अन्य खाद्य पदार्थो पर आलेपित होकर उनके पाचन को धीमा कर सकती है। इसके अलावा वसा जठरीय चरता तथा स्राव को तो विशिष्ट रूप से अवरुद्ध कर देती है।

लेकिन ऊर्जा के गौण स्रोतो के रूप मे वसाए अत्यावश्यक है और भावी उपयोग के लिए देह के कई प्रदेशो मे सग्रहीत की जा सकती है। किसी हद तक वसाए या सबधित पदार्थ कोशिक्य तथा दैहिक ढाचे के अगो के रूप मे भी आवश्यक है। कुछेक विटामिनो (वसा-विलेय समूह) की वाहक होने के नाते वसाए महत्त्वपूर्ण है।

डेरी-उत्पाद (मक्खन, दूध आदि) वसा-प्रचुर होते है। वसा की कुछ मात्रा

शाका तथा जातव खाद्यो (मास पोल्ट्री या कुक्कुट मछली चर्वी आदि) स प्राप्त हो सकती है। गिरीदार फल या काष्ठफल भी वसा के अच्छे स्रोत है।

प्रोटीन—इधन पदार्थो के रूप म सामान्यत आवश्यक न होन पर भी प्रोटीन—उपचित या आक्सीकृत किय जाने पर—कार्बोहाइड्रटो जितनी ही ऊर्जा विमुक्त करते हैं। जीवद्र य (प्रोटाप्लाज्म) का निर्माण करनवाले द्रव्य के नात ऊतको की वृद्धि तथा मरम्मत के लिए ये आधारभूत महत्त्व के है।

इस दृष्टि स खाद्यो म मौजूद सभी प्रोटीन देह के लिए समान मूल्य और समान विशपता के नही हाते। प्रोटीनो म मूल्य का अ तर उन ऐमीनो अम्लो पर निभर करता है जिनस मिलकर व बनत है। यद्यपि ऐमीनो अम्लो की सख्या केवल बीस क ही लगभग है किन्तु उनसे अनगिनत प्रकार के प्रोटीन बन सक्ते है। कुछ प्रोटीनो के निर्माण म सभी ज्ञात एमीनो अम्ल सम्मिलित है तो कुछ म सब नही भी है किन्तु समान प्रकार के ही ऐमीनो अम्लो स बने दो प्रोटीन भी अपन मे समाविष्ट हर एमीनो अम्ल की मात्रा और एमीनो अम्ल समूहो के वि यास के कारण एक दूसरे स बहुत बहुत भि न हो सक्त हैं।

पोषण की दृष्टि स भोजन म किसी प्रोटीन का मूल्य इससे निर्धारित किया जाता है कि उसम विभि न ऐमीनो अम्लो की सख्या कितनी है और विशेषकर कौन स एमीनो अम्ल उसम है। प्रयोगो स ज्ञात हुआ है कि ऊतक की वृद्धि तथा मरम्मत के लिए भोजन म नौ या दस ऐमीनो अम्लो का होना आवश्यक है। य तात्त्विक एमीनो अम्ल कहलाते हैं जो देह म सश्लपित नही हो सक्ते। अ य सभी ऐमीनो अम्ल देह की कोशिकाओ द्वारा बनाये जा सक्त हैं।

आहारीय प्रयोजनो के लिए प्रोटीनो का वर्गीकरण उनके तात्त्विक ऐमीनो अम्ल के अश के अनुसार किया जाता है। जिन प्रोटीनो म तात्त्विक ऐमीनो अम्ल मौजूद होते है वे सपूर्ण प्रोटीन कहलाते है और जिनम वे नही होते वे अपूर्ण प्रोटीन कहलात है। इस वर्गीकरण को अपनी कसौटी मानते हुए वनानिक यह दिखा सके है कि दूध तथा अडे प्रोटीनो के सर्वोत्तम स्रोत है। इससे हम तुर त ही यह समझ लेना चाहिए कि आहार की दृष्टि य दोनो सबसे ज्यादा ठीक रहेगे क्योकि अडो का भोज्य द्र य इनके फूटन के समय तक भ्रूणो के पोषण का स्रोत रहता है और दूध का भोज्य द्र य स्तनधारियो के शिशुओ के ज म क बाद उनका तात्कालिक आहार है।

जिगर गोस्त तथा मछली जस अ य जातव प्रोटीन इसके बाद सबस मूल्य वान् प्रोटीन है और इनके बाद वनस्पति प्रोटीन आत हैं। यद्यपि वनस्पति प्रोटीनो का उल्लख अन्त म किया गया है तथापि शाका को प्रोटीनो का कोइ सामा य स्रोत नही समझना चाहिए। शाकाहारी भोजन द्वारा भी यथष्ट प्रोटीन प्राप्त किय जा सक्त हैं लकिन तव तात्त्विक एमीनो अम्लो का आवश्यक मात्रा प्रदान करन क लिए इन प्रोटीनो की अधिक मात्रा और प्रकारो म खाया जाना चाहिए।

ऊतक निमानाओ क रूप म मूल्यवान् होन के अलावा प्रोटीन इसलिए भी

महत्त्वपूर्ण है कि अनेक प्रकिण्व तथा हारमोन सपूर्णत या अशत. इन्ही से बने है।

जल—देहीय अर्थतन्त्र मे जल के महत्त्व पर जोर देना अनावश्यक है। यह केवल इसी दृष्टि से देह का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रासायनिक सरचक नही है कि देह मे इसकी कितनी मात्रा उपस्थित है, वरन् यह उन सक्रियताओ की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है, जिनमे कि यह भाग लेता है और जो इसके कारण होती है।

अन्य आहार-सचरको का अतर्ग्रहण न बना रहने पर भी तरल-अन्तर्ग्रहण बनाये रखना चाहिए, क्योकि देह भोजन के अभाव को झेलने की अपेक्षा निर्जलीकरण को बहुत कम झेल सकती है।

खनिज—अच्छे स्वास्थ्य के लिए कई खनिज उपयोगी तथा आवश्यक है। उनमे से अधिकाश बहुत कम मात्राओ मे ही आवश्यक है और औसत दैनिक आहार से प्रचुरता मे मिल जाते है। लेकिन उनमे से कुछ की ओर अधिक ध्यान दिया जाना जरूरी है।

जैसा कि हम जानते है, सोडियम, पोटासियम तथा कैल्सियम सामान्यरूप से देहीय कोशिकाओ के लिए उपयुक्त पर्यावरण बनाये रखने के लिए उचित अनुपातो मे आवश्यक है और पेशियो तथा तन्त्रिकाओ की उत्तेजनशीलता बनाये रखने के लिए विशेप रूप से महत्त्वपूर्ण है।

'क्लोरीन' वह खनिज है जिसका रुधिर तथा देहीय तरलो के लिए आवश्यक लवण बनाने के लिए सोडियम, पोटासियम तथा कैल्सियम के साथ सर्वाधिक सयोग कराया जाता है। यह जठरीय रस मे के हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का भी एक सरचक है।

'कैल्सियम' के कुछ अपने विशेष कार्य है, जो इसे और भी महत्त्वपूर्ण बना देते है। यह हड्डी का आवश्यक तत्त्व है। और इस तरह उसकी वृद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह रुधिर के आतचन के लिए, रैनिन द्वारा दूध के आतचन के लिए और हृदय की धडकन के लिए भी आवश्यक है। चूकि अधिकतर भोजनो मे यह थोडी मात्रा मे ही होता है, इसलिए आहार मे इसकी न्यूनतम दैनिक मात्रा लेने का ध्यान रखना चाहिए। बढते हुए बच्चो के लिए यह विशेप रूप से आवश्यक है, लेकिन यह हम सभी के लिए ध्यान देने की बात है। दूध कैल्सियम का सभवत सबसे अच्छा स्रोत है। पनीर तथा अनेक प्रकार के हरे शाक तथा सब्जिया इसके अन्य अच्छे स्रोत है।

'लोहा' एक और बहुत महत्त्वपूर्ण खनिज है, जिसकी ओर हमारा विशेप ध्यान जाना चाहिए। लोहे की उचित मात्रा न होने पर हीमोग्लोबिन तथा कई प्रकिण्व नही बन पायेगे। जिगर, शुक्ति या कस्तूरा, हरी सब्जिया, गुर्दे, अडे, आलू और मास लोहे के अच्छे स्रोत है।

'फास्फोरस' हड्डी का महत्त्वपूर्ण सरचक है। उपापचयन के कई पहलुओ के लिए फास्फेट आवश्यक है। गेहू, दूध, मास, फलिया तथा गिरीदार फलो-जैसे खाद्य फास्फोरस-प्रचुर है।

'गंधक' कुछ ऐमीनो अम्लों तथा प्रकिण्वों का महत्त्वपूर्ण संरचक है। यह प्राय प्रोटीनों द्वारा अन्तर्ग्रहीत होता है, जिसका यह एक अंग है। आयोडीन अवटु हारमोन की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है। जिन प्रदेशों की मिट्टी और जल में आयोडीन की पर्याप्त मात्रा होती है वहां यह सामान्य आहार में ही यथेष्ट मात्रा में मिल जायगा। अन्यथा आयोडीकृत नमक का उपयोग करना चाहिए। तांबा की हीमोग्लोबिन के निर्माण में बहुत ही थोड़ी मात्रा में आवश्यकता होती है। इसकी आहारीय उपलब्धि लगभग सदा ही पर्याप्त रहती है। मैग्नीशियम मैंगनीज और मालीब्डीनम तथा कोबाल्ट भी आहार में होने चाहिए, लेकिन नाममात्र ही।

विटामिन—सन् 1890 से हम विटामिनों के नाम से विख्यात सहायक आहार पदार्थों के बारे में ज्ञान संचित करते रहे हैं। एक से आरंभ करके हम अब कई विटामिनों से परिचित हो चुके हैं। आहार में लंबी अवधि तक विटामिनों की अनुपस्थिति या अत्यधिक कमी त्रुटिजन्य रोग उत्पन्न कर सकती है। 'बेरी बेरी', 'स्कर्वी' और 'पलाग्रा' जैसे इनमें से कई रोगों के बारे में मनुष्य को विटामिनों की खोज के पहले ही पता था।

कई दृष्टांतों में हम विटामिनों के क्रिया प्रक्रमों का ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। कम से कम कुछ विटामिन देह के भीतर तात्विक प्रकिण्व-तन्त्रों के भागों की तरह कार्य करते प्रतीत होते हैं। विटामिनों की रासायनिक संरचना तथा क्रियाकलाप के बारे में हम काफी कुछ जान चुके हैं और उनमें से कई का मणिभीकृत तथा संश्लेषित भी कर चुके हैं, जिससे वे अब शुद्ध पदार्थों के रूप में उपलब्ध हैं।

यह तथ्य कि विटामिनों की अत्यंत अल्प मात्राओं में ही आवश्यकता पड़ती है, संभवतः इस बात का आभासात्मक प्रमाण है कि वे देह में उत्प्रेरकों का काम करते हैं। अधिकांश विटामिन खाद्यों में खासी प्रचुरता में वर्तमान हैं और संतुलित आहार से उनकी पर्याप्त मात्रा की प्रदाय सुनिश्चित हो जाती है। (यह सच है कि अच्छी खुराक में भी कभी विटामिनों की न्यूनता हो सकती है)। आहार में आज सबसे बड़ा आवश्यकता इस बात को ध्यान में रखने की है कि प्रत्येक व्यक्ति को पर्याप्त और संतुलित भोजन मिले। यदि—आर्थिक कारणों या शिक्षा की कमी के कारण अच्छा भोजन नहीं मिलता, तो त्रुटिजन्य रोग पैदा हो जाते हैं।

वसा विलेय विटामिन

विटामिन 'ए'—पीली सब्जियां (गाजर शकरकंद, आदि) कुछ हरी सब्जियां, मक्खन, पनीर तथा क्रीम विटामिन 'ए' के बढ़िया स्रोत हैं। इस विटामिन का अभाव रतौंधी संक्रमणों के प्रति अत्यधिक वर्धित ग्रहणशीलता वजन न बढ़ना, उपकला सतहों के मोटा हो जाने से अश्रु तथा त्वचा ग्रंथियों के स्रोतों का सूख जाना तथा, संभवतः, तंत्रिका तन्त्र में अपकर्षी परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है।

दृष्टिपटल की शलाकाओ का दृष्टि-नीललोहित प्रकाश द्वारा विरजित होकर दृष्टिपीत नामक एक अन्य पदार्थ मे परिवर्तित हो जाता है। विटामिन 'ए' दृष्टि-पीत का एक अभिन्न अग है। इस विटामिन की न्यूनता दृष्टि-नीललोहित के पुर्नानियोजन मे, और फलत. धीमे प्रकाश मे देखने की क्षमता मे, बाधक होगी। विटामिन 'ए' के अभाव से उत्पन्न सक्रमण अधिकतर आंखो तक ही सीमित रहते है, और यदि उपचार न किया गया, तो अन्धता उत्पन्न कर सकते है।

विटामिन 'डी'—विटामिन 'डी' की अनुपस्थिति या अत्यधिक न्यूनता से सूखा रोग तथा दत-क्षय हो जाता है। विटामिन 'डी' हड्डी के उचित कैल्सीकरण के लिए आवश्यक है। इसकी अनुपस्थिति मे हड्डिया नरम, कमजोर और विरूपित हो जाती है। उदाहरणार्थ, सूखा रोग मे हड्डिया देह का भार समुचित रूप से वहन करने मे असमर्थ हो जाती है और मुडने लगती है।

अधिकतर अन्य विटामिनो के विपरीत विटामिन 'डी' का वितरण बहुत व्यापक नही है। इसके सबसे अच्छे स्रोत मछली के जिगर के तेल विशेष रूप से हेलिब्रिट मछली और कॉड मछली के जिगर के तेल, कुछ मछलिया, मास तथा अडे है। तथापि यह विटामिन त्वचा मे एक वसा-जैसे द्रव्य की परावैंगनी किरणों द्वारा किरणीयन से निर्मित होता है। इसलिए देह का सूर्य की किरणो को अपावरण करने से विटामिन 'डी' का निर्माण और आवश्यकता पडने पर उपयोग मे लाने के लिए सचय सभव हो जाता है। शीतकाल मे, जब कुछ जगहो पर धूप अपेक्षाकृत कम होती है, तब शिशुओ और बढते हुए बच्चो के आहार की विटामिन 'डी' के किसी अच्छे स्रोत द्वारा अनुपूर्त्ति करना विशेपकर महत्त्वपूर्ण है।

विटामिन 'ई'—विटामिन 'ई' 'अनुर्वरता-विरोधी' विटामिन है। इसकी अनुपस्थिति चूहो मे अनुर्वरता उत्पन्न कर देती है और कुछ अन्य स्तनधारियो मे इसका देना प्रसवशक्ति को बढाता प्रतीत होता है। इस विटामिन की न्यूनता के कारण पुरुपो मे कोई दोष उत्पन्न होता है—इस बात का कोई निर्णायक प्रमाण नही मिला है और न ही यह मानविक अनुर्वरता को ठीक करने मे प्रभावशाली पाया गया है। यह उचित पेशीय कार्य के लिए आवश्यक हो सकता है। यह हरे शाको (सलाद, मटर इत्यादि) तथा गेहू के अकुर-तैल मे खासकर पाया जाता है।

विटामिन 'के'—विटामिन 'के' की अनुपस्थिति रुधिर के आतचन-काल को लवा कर देती है। इसकी अनुपस्थिति मे रुधिर का स्राव भी आसानी से होने लगता है। यकृत् द्वारा पूर्वथ्रविन के निर्माण के समय विटामिन 'के' आवश्यक है। पूर्वथ्रविन रुधिर के आतचन के लिए एक आवश्यक पदार्थ है। नवजात शिशुओ मे विटामिन 'के' का सान्द्रण नीचा होता है। नवजात शिशुओ मे रुधिर-स्राव के कई मामलो की व्याख्या इसी तथ्य से की जा सकी है। आजकल आमतौर से माताओ को सगर्भावस्था के उत्तरार्ध मे विटामिन 'के' के इजेक्शन दिए जाते है, ताकि गर्भ मे इसका यथेप्ट ऊचा सान्द्रण सुनिश्चित किया जा सके।

'रुधिर स्राव प्रतिकारक' या आतंचन विटामिन विटामिन 'के' विशेषकर हरे शाकों की पत्तियों में पाया जाता है।

जल विलेय विटामिन

विटामिन 'बी'—ऐसे कई यौगिक पृथक किए गए हैं जिनमें यद्यपि निकट रासायनिक संबंध नहीं है पर यह सामान्यतः है कि वे खाद्यों में काफी व्यापकता से वितरित हैं (लेकिन बड़ी मात्राओं में नहीं) और वे विभिन्न जीवों में प्रकिण्व तंत्रों के महत्त्वपूर्ण सदस्यों की तरह कार्य करते हैं। बी वर्ग के सभी विटामिन तो मनुष्य के लिए आहारीय दृष्टि से आवश्यक सिद्ध नहीं हुए हैं लेकिन उनमें से यदि सब नहीं तो संभवतः अधिकांश मानव उपापचयन में महत्त्वपूर्ण हैं।

थायामिन या विटामिन बी$_1$ की अनुपस्थिति से बेरी बेरी रोग हो जाता है। थायामिन की अत्यधिक न्यूनता से परिसराह तन्त्रिकाओं का प्रगामी पक्षाघात पेशीय असमन्वय के द्वीय तन्त्रिका-तन्त्र के भागों का अपक्षय हृदय निष्क्रियता तथा जलशोथ आदि पैदा हो सकते हैं। यदि उपचार न किया जाये तो स्थिति घातक हो जाती है। पूर्वी देशों में जहां पालिशदार चावल ही लोगों का मुख्य खाद्य है ये रोग प्रायः होते हैं (थायामिन चावल की पालिश में तो होती है पर स्वयं चावल के दाने में नहीं होती)। थायामिन न्यूनता के साथ-साथ भूख जाती रहने और पाचन के खराब होने की शिकायतें भी हो जाती हैं जिनसे वृद्धि रुक सकती है। थायामिन की सामान्य न्यूनता से अधीरता और चिड़चिड़ापन पैदा हो सकता है। चर्बीहीन मांस मटर फलियां अनाज और खमीर इस विटामिन के सर्वोत्तम स्रोत हैं।

नियासिन या निकोटिनिक अम्ल की अत्यधिक न्यूनता पेलाग्रा रोग उत्पन्न करती है। इसके लक्षण हैं—त्वचा विकार पाचन में गड़बड़ी तन्त्रिका-ऊतक का अपक्षय तथा मानसिक विपथन। इससे उन्माद या मृत्यु तक हो सकता है। नियासिन जिगर चर्बीहीन मांस, दूध, खमीर, अंडे और हरे शाकों में प्रचुर होता है। पेलाग्रा रोग यूरोप का गरीब जनता और अमरीका के दक्षिणी भागों में जहां भोजन में उपयुक्त खाद्यों की कमी रहती है बहुत आम है।

रिबोफ्लेविन या विटामिन 'बी$_2$' जिगर अंडे पत्तेवाले शाकों खमीर, फलों और दूध में विशेषकर पाया जाता है। इसकी कमी त्वचा, आंखों और श्लेष्मिक झिल्लियों में विकार उत्पन्न कर सकती है।

इन विटामिनों के अतिरिक्त और आगे की खोज से समग्र 'बी' विटामिन में पैंटोथेनिक अम्ल पिरिडाक्सिन और अभी हाल में आविष्कृत फोलिक अम्ल और विटामिन बी$_{12}$' आदि अन्य तत्वों का पता चला है। इनके अधिकांश कार्यों के बारे में सरलता से समझ में आनेवाले ढंग से बताना कठिन है तथापि यह बतलाया जा सकता है कि फोलिक अम्ल और 'बी$_{12}$' अनेक प्रकार की रक्तक्षीणता के उपचार में बड़े महत्त्वपूर्ण हैं।

यह सभव है कि सतुलित भोजन मे हमारे लिए ये सभी विटामिन यथेष्ट मात्रा मे होते हो, लेकिन इस बात की पुष्टि इन विटामिनो के विशिष्ट कार्यो पर अधिक प्रयोग करने और आहारीय आवश्यकताओ के और अधिक अध्ययन से ही की जा सकती है।

विटामिन 'सी'—स्कर्वी विटामिन 'सी' या एस्कोर्विक अम्ल की कमी से उत्पन्न त्रुटिजन्य रोग है। पहले यह लबी समुद्र-यात्राओ के दौरान या इसी प्रकार की उन परिस्थितियो मे पैदा होता था, जिनमे लोगो को ताजे फल और शाक नही मिलते थे। विटामिन 'सी' विशेपकर ताजी सब्जियो (अधिकाशतया हरी सब्जियो मे,) नीबू-जाति के फलो, जैसे नारगी, अगूर, नीबू और टमाटर मे खासकर पाया जाता है।

स्कर्वी रोग के लक्षण श्लैष्मिक झिल्लियो, अवस्त्वक ऊतको और पेशियो (मसूढे विशेप तौर के प्रभावित होते है) मे रुधिर-स्राव तथा हड्डियो और जोडो मे पीडा, कमजोरी और क्षीणता है। विटामिन 'सी' केशिकाओ की भित्तियो को सामान्य अवस्था मे कायम रखने के लिए आवश्यक है। इसकी अनुपस्थिति मे वे भगुर हो जाती है और आसानी मे फट जाती है।

सतुलित आहार—आपके दैनिक भोजन से पर्याप्त ऊष्माक या कैलोरी प्राप्त होना बहुत महत्त्वपूर्ण है। आपको अपनी जीवनचर्या के अनुसार शक्ति देने-वाला यथेष्ट भोजन करना चाहिए। इन सबध मे यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि प्रोटीनो को शक्ति उत्पन्न करनेवाले खाद्य पदार्थो की तरह इस्तेमाल करके बरबाद न किया जाये। कार्बोहाइड्रेट और चर्बिया ईधन के रूप मे अधिक प्रयुक्त हो जाती हैं और यदि भोजन मे वे उचित मात्रा मे उपस्थित है, तो प्रोटीन अपने विशेप कार्य के लिए बच जाते हैं। तीनो मुख्य आहारो के अनुपातो को निर्धारित करना बहुत कठिन है, क्योकि उनकी मात्रा हर व्यक्ति की विशेप परिस्थितियो के अनुसार भिन्न-भिन्न होनी चाहिए। साधारण कार्य करनेवाले आदमी के औसत आहार की 60 प्रतिशत कैलोरी कार्बोहाइड्रेटो से प्राप्त होनी चाहिए, 25 प्रतिशत वसा से और 15 प्रतिशत प्रोटीन से। इस अनुपात से ईधन और निर्माण दोनो की ही आवश्यकता पूरी हो जानी चाहिए।

यदि निम्नलिखित आहार-वर्गो के प्रतिनिधि आपके दैनिक भोजन मे शामिल रहे, तो आपको संतुलित आहार मिलना सुनिश्चित हो जायेगा दूध, जल या किसी और रूप मे तरल पदार्थ, अडे, हरी सब्जिया, मछली, पनीर, फलिया, आलू, सपूर्ण अनाज की बनी वस्तुए, फल (विशेपकर नीबू जाति के), मक्खन तथा अन्य वसाए।

इस प्रकार के आहार का उपयोग देह को आवश्यक खनिज, विटामिन तथा पर्याप्त कैलोरी ऊर्जा प्रदान करेगा और अदल-बदल की भी गुजाइश रहेगी। इन वर्गो मे न आनेवाली अन्य वस्तुए भी शामिल की जा सकती है। **लेकिन वे** वैकल्पिक भोज्य पदार्थो की तरह, न कि किसी मूलभूत वर्ग की **कीमत पर**—

सम्मिलित की जानी चाहिए।

आहारा म अन्तर—ससार म इतने प्रकार के भोजन हैं कि हर व्यक्ति के लिए सन्तुलित भोजन नियोजित किया जा सकता है, यहा तक कि अजीब पसद वाल व्यक्तियो के लिए भी।

कभी कभी स्वाद पर ही ध्यान देना ठीक नहीं होता। उदाहरण के लिए, यह बिलकुल स्पष्ट बात है कि बौद्धिक काय करनेवालो की अपेक्षा शारीरिक श्रम करनेवाला को अधिक कलोरियो की आवश्यकता पडती है। श्रम करनेवालो को अधिक प्रोटीनो की भी आवश्यकता पडगी क्योकि अधिक जोर क कारण ऊतका का अधिक विनाश भी होगा और उनके बदल जाने की जरूरत होगी।

गभवती स्त्रिया को अतिरिक्त कल्सियम और लोहे की आवश्यकता पडती है शिशुओ के आहार के विटामिन डी अश की ओर विशष ध्यान दिया जाना चाहिए।

बहुतेरी अवस्थाओ के लिए एक 'सबसे अच्छा' आहार होता है और विभिन्न रोगा के लिए अलग अलग पथ्य सुझाए जाते हैं। इस तरह के सुझाव देने का काम चिकित्सक के ऊपर छोड देना चाहिए और उनका स्व निर्धारण नहीं करना चाहिए। वजन कम करनेवाले भोजना के बारे म यह बात विशष रूप से सत्य है। रामबाण तरीका या अधपेट खाने का आसरा लिये बिना और कुछ सार भूत भोजनो का त्याग किये बिना भी वजन कम करने के कई अच्छे तरीके हैं। किसी भी हालत म बीमारी का खतरा मोल लने क बजाय समझदारी स काम लेना और किसी विश्वसनीय डाक्टर की राय लेना कहीं ज्यादा अच्छा है।

अध्याय 13

उपापचयन तथा वृद्धि

ब्रह्माड की समस्त ऊर्जा अचर रहती है। न तो किसी क्षण इसमे कोई वृद्धि होती है और न इसमे से कुछ कमी ही की जाती है। क्या फिर भी आपको यह आश्चर्य नही होता कि 'सक्रियता' कैसे चलती रहती है? यदि आप ऊर्जा के बारे मे 'काम करने की क्षमता' के अर्थो मे सोचे, तो आप देखेगे कि इस स्थिति से जरा भी गत्यवरोध नही आना चाहिए। उपस्थित ऊर्जा कई अलग-अलग तरीको से कार्य कर सकती है और क्योकि यह नष्ट नही कि जा सकती, इसलिए यह सदैव अधिक कार्य का एक सभाव्य स्रोत बनी रहती है, यद्यपि काम की प्रकृति भिन्न हो सकती है। ऊर्जा सतत एक रूप से दूसरे रूप मे रुपातरित होती रहती है—रासायनिक से यान्त्रिक, यान्त्रिक से वैद्युत और इसी प्रकार से अन्य रूपो मे भी। और ये सारे स्वरूप प्राग्भावी ऊर्जा से ही आने चाहिए।

ये ऊर्जा-सम्बन्ध सजीव तथा निर्जीव—सभी वस्तुओं पर लागू होते है। उदाहरण के लिए, हम जानते है कि हमारी ऊर्जा का स्रोत हमारे द्वारा खाया जानेवाला भोजन है, जो अपनी बारी मे अपनी ऊर्जा प्रत्यक्षत या परोक्षत सूर्य मे प्राप्त करता है। उचित रासायनिक क्रिया इस खाद्य-ऊर्जा को ऐसे स्वरूपो मे परिवर्तित कर देती है जिससे कि वह हमारी देह की कोशिकाओ को उपलब्ध हो जाती है।

उपापचयन और देहीय ऊर्जा

हर कोशिका एक 'प्रयोगशाला' है, जो भोजन को उससे लघुतर तथा सरल-तर पदार्थो मे खडित करके ऊर्जा मुक्त कराने के लिए आवश्यक 'साज-सामान' से लैस रहती है। इस प्रकार उन्मुक्त रासायनिक उर्जा उन सभी अन्य स्वरूपो मे रूपातरित हो जाती है कि जिनमे यह अपने को अपनी सजीव क्रियाशीलताओ मे अभिव्यक्त करती है और सजीव द्रव्य के जटिल जीव-द्रव्य (प्रोटोप्लाज्म) की उत्पत्ति मे भी उपयुक्त हो जाती है। इस प्रकार चयापचयन या उपापचयन रासाय-निक अभिक्रियाओ का समष्टिक है, जो खडित होती और उर्जा उन्मुक्त करती है और जो गठित होती और ऊर्जा को सचित करती है। प्रथमोक्त को 'अपचय' और अतोक्त को 'चय का उपचय' कहते है।

ऊर्जा का निम्नतम स्वरूप ऊष्मा है। ऊर्जा के अन्य सभी स्वरूप ऊष्मा मे रुपातरित किए जा सकते है, किन्तु ऊष्मा—जहा तक हमे मालूम है—का अन्य स्वरूपो मे पुन. रुपातरण नही किया जा सकता। हम ऊष्मा का उपयोग कर सकते हैं, किन्तु इसे अन्य किसी चीज मे नही बदल सकते।

पहले पहल अठारहवीं सदी के अन्त में इस बात का पहली बार ज्ञान हुआ कि देह द्वारा दी जानेवाली ऊष्मा देह के भीतर ऑक्सीजन की उपस्थिति में पदार्थों के दहन का परिणाम है। यह देखा गया है कि एक जलती मोमबत्ती और जन्तु देह में आधारभूत अनुक्रियाएं समान ही हैं। प्रत्येक कार्बन यौगिकों के प्रज्वलन में ऑक्सीजन का उपयोग करती है जिसके फलस्वरूप कार्बन डाई ऑक्साइड पानी तथा ऊष्मा की उन्मुक्ति होती है।

उन्नीसवीं सदी के दौरान वनानिकों ने इसका मात्रात्मक प्रमाण एकत्र किया कि जन्तु देह किसी-न किसी प्रकार उतनी ही ऊर्जा उन्मुक्त करती है जितनी कि वह भोजन के रूप में ग्रहण करती है।

न्यूनतम चयापचय गति

सम्पूर्ण ऊष्मा उत्पादन को सम्पूर्ण उपापचयन या सम्पूर्ण चयापचयन का सूचक मान लिया जाता है। एक ही व्यक्ति में अलग अलग समयों पर शीघ्रता पूर्वक और सरलतापूर्वक न मापी जा सकनेवाली परिस्थितियों के कारण इसमें इतना भेद हो सकता है कि इससे हम उसके उपापचयन की अवस्था का कोई स्पष्ट आभास नहीं मिल पाता। इस कारण व्यक्ति की न्यूनतम चयापचय गति (न्यूनतम उपापचय गति) या न्यू० च० ग० की परीक्षा करना आवश्यक है।

न्यूनतम चयापचय गति किसी व्यक्ति का ऐसी मानक परिस्थितियों में जो उसकी सक्रियता न्यूनतम कर देती है ऊष्मा उत्पादन है। माप का सामान्य ढंग एक निश्चित अवधि के भीतर ऑक्सीजन का उपयोग है। व्यक्ति की प्रातःकाल जबकि उसने रात के भोजन के बाद कुछ नहीं खाया है और पिछले चौबीस घंटों में कोई कठिन श्रम नहीं किया है और परीक्षा से पहले कमरे में सुविधाजनक ताप में आधा घंटा विश्राम कर चुका है परीक्षा की जाती है। इस प्रकार यथा सम्भव पूर्ण शरीरीय तथा मानसिक विश्राम और पाचन प्रशान्ति प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। अब देह द्वारा उत्पन्न तनिक भी ऊर्जा कोशिकाओं की न्यूनतम उपापचय प्रक्रियाओं और अंगों की जीवन के लिए आवश्यक क्रियाओं के कारण ही होगा।

एक भारी भरकम व्यक्ति से हम अधिक ऊष्मा उत्पन्न करने की अपेक्षा करेंगे और छोटे हलके आदमी से कम। वास्तव में ऐसा ही होता है। लेकिन जब हम प्रति इकाई भार के हिसाब से ऊष्मा उत्पादन का आकलन करते हैं तो हम पता चलता है कि भारी व्यक्ति हलके व्यक्ति की अपेक्षा कम ऊष्मा उत्पन्न करता है। तथापि देह की सतह में प्रति इकाई क्षेत्रफल के हिसाब से आकलन करने पर हम जो संख्या प्राप्त होती है वह सभी व्यक्तियों के लिए आश्चर्यजनक रूप में अचर है।

चयापचय गति पर प्रभाव डालनेवाले कारक

न्यूनतम चयापचय गति या न्यू० च० ग०—न्यूनतम चयापचय गति पर

अनेको कारको का प्रभाव पडता है। आयु के साथ-साथ यह उत्तरोत्तर कम होती जाती है। पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो मे यह कुछ कम होती है। कुछ पूर्वी देशो के निवासियो की गति पश्चिमवासियो से कम होती है। लेकिन जातीय भिन्नताए अलग-अलग होती है। उदाहरण के लिए, गोरी जातियो की अपेक्षा एस्किमो जाति की चयापचय-गति ऊची होती है। कठिन शारीरिक श्रम करनेवाले व्यक्तियो की चयापचय-गति आराम का जीवन व्यतीत करनेवालो की अपेक्षा प्राय: ऊची होती है। सगर्भा स्त्रियो मे गर्भ-स्थिति के छ -या-सात माह के बाद इसमे वृद्धि देखी जाती है। इस समय गर्भ का भार माता के भार मे काफी वृद्धि कर देता है और न्यूनतम चयापचय-गति मे माता तथा गर्भ दोनो की गतियो का योग होता है।

कुछ असामान्य या रोगमूलक अवस्थाओ मे न्यूनतम चयापचय-गति कम या अधिक हो जाती है। हीनावटुता या अनशन इसे कम कर देते है। अत्यवटुता और बुखार इसे बढा देते है। सामान्य ताप मे प्रत्येक अश की वृद्धि से न्यूनतम चया-पचय गति 5 से 7 प्रतिशत तक बढ जाती है।

सपूर्ण ऊष्मा-उत्पादन—हमारी ऐसी कोई भी गति, जिसमे थोडा भी पेशीय प्रयास सन्निहित होता है, सम्पूर्ण ऊष्मा-उत्पादन को बढा देती है। साधा-रण श्रम मे यह न्यूनतम-चयापचय-गति को 25 से 60 प्रतिशत तक ऊपर ले जा सकती है। अत्यधिक श्रम से न्यूनतम स्तर मे 1500 प्रतिशत तक की वृद्धि हो सकती है।

यह एक आश्चर्य की बात है कि मानसिक क्रिया (न्यूनतम चयापचय-गति का लगभग 10 प्रतिशत मस्तिष्क के कारण है) मे लगभग कोई अतिरिक्त ऊष्मा-उत्पादन सन्निहित नही होता। यह कहा जाता है कि 'एक घटे के अत्यधिक मानसिक श्रम के लिए आवश्यक अतिरिक्त कैलोरियो की पूर्ति आधी नमकीन मूगफली खाकर की जा सकती है।'

निर्विघ्न निद्रा मे किसी भी अन्य समय की अपेक्षा कम ऊष्मा उत्पन्न होती है। इस स्थिति मे ही वास्तविक 'न्यूनतम चयापचय' होता है, क्योकि इस समय पेशिया अधिकतम शिथिलन की अवस्था मे होती है। तथापि हम निद्रा के दौरान ऊष्मा-उत्पादन का एक मानक सूचक के रूप मे उपयोग नही कर सकते, क्योकि निद्रा की गहराई और उसके साथ पेशीय शिथिलन मे काफी विभेद आता है और उसे इस प्रकार न्यूनतम चयापचय की भाति नियन्त्रित नही किया जा सकता।

पर्यावरण-ताप सम्पूर्ण ऊष्मा-उत्पादन को प्रभावित कर सकता है। जब आसपास का ताप काफी नीचे गिर जाता है, तो हम कापने लगते है। कपन मे सन्निहित अनैच्छिक पेशीय कुचन देह के सम्पूर्ण ऊष्मा-उत्पादन को बढा देगा। यदि हवा का ताप देह के ताप से उष्णतर है, तो ऊष्मा-उत्पादन बदल भी सकता है और नही भी।

खाद्यो की विशिष्ट-गतिज क्रिया सम्पूर्ण ऊष्मा-उत्पादन को बढ़ा देती है।

जब खाद्य खाये जाते हैं, तो यह देखा जाता है कि ऊष्मा उत्पादन इतना बढ जाता है जितना कि उनके ऊष्मा मूल्य के आधार पर नही हो सकता। यह बात कार्बोहाइड्रेट और वसा की अपेक्षा प्रोटीन के लिए अधिक सत्य है। भोजन के ग्रहण के बाद 12 स 18 घटे तक यह प्रभाव चलता रहता है। यह विश्वास किया जाता है कि खाद्य पदाथ के उपापचयी विघटन म उत्पन्न कुछ उत्पाद कोशिकाओ के उपापचयन को प्रत्यक्षत उद्दीपित कर देते हैं और इसम कुछ अतिरिक्त ऊष्मा म निहित रहती है।

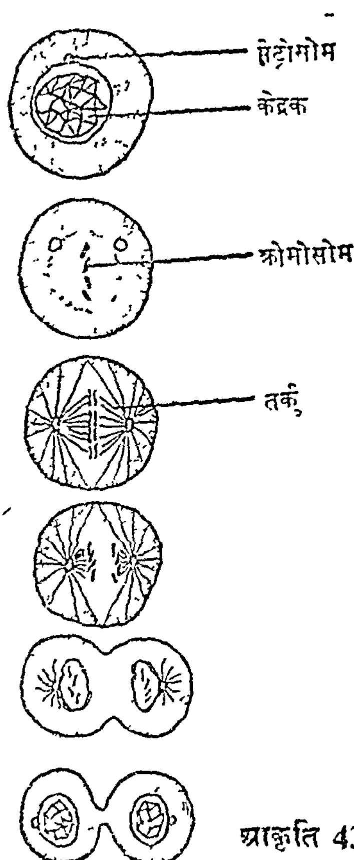
देहीय कोशिकाओ की वृद्धि और प्रजनन

वृद्धि सामान्य उपापचयन का एक स्वाभाविक परिणाम है और लिंग कोशिका को छोड़कर हरएक कोशिका—चाहे वह अस्थि-कोशिका हो या ग्रन्थि-कोशिका या अन्य कोई भी कोशिका जो अपने आप वृद्धि कर सकती है और अपनी पुनरुत्पत्ति कर सकती है—प्रत्येक परिस्थिति मे जिस प्रक्रिया से ऐसा करती है वह लगभग एक सी ही है। जब तक वह उचित पोषक तत्त्व प्राप्त करता रहती है और अन्य कारक इसे एक सामान्यत काय करनेवाली इकाई क रूप म बनाए रखते हैं कोशिका पोषक तत्त्वो को ग्रहण करती रहती ह और उन्हे अपने जीवद्रव्य म परिवर्तित करती रहती ह। यह प्रक्रिया इसका बडा होना सम्भव कर देती ह।

वृद्धि तब तक चलती रहती है कि जब तक एक विशेष नातिक आकार नही प्राप्त हो जाता। कोशिका की वृद्धि ठीक किस कारक से रुक जाती ह यह निश्चित रूप से ज्ञात नही ह। इसकी एक सभव व्याख्या यह हो सकती ह—वृद्धि म कोशिका का आयतन उसके सतही क्षत्रफल की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ता ह। चूकि पोषको मलो तथा गसो का विसरण कोशिका की सतह पर कोशिका झिल्ली से होकर होता ह इसलिए हो सकता ह कि इतना पर्याप्त सतही क्षेत्र न रहे कि जिसस कोशिका जीवद्रव्य क सबसे भीतरी बिन्दुओ तक और उनके बाहर द्रव्यो का समुचित विसरण हो सके।

कारण चाह कुछ भी हो लगता ह कि कोशिका के जीवन की यही वह अवस्था ह कि जब वह विभाजित होती ह और जीव द्रव्य का आयतन वही रहने के बावजूद दोनो अनुजात कोशिकाओ का सतही क्षेत्रफल मूल कोशिका स अधिक हो रहता ह। कोशिकाओ के पुनर्जनन का लाभ यह ह कि एक अग ऊतक आदि को जो काम करना होता ह वह कई इकाइयो म बट जाता ह।

देहीय कोशिकाए जिस प्रक्रिया द्वारा विभाजित होती ह उसे समसूत्रण या समविभाजन कहते हैं। समसूत्रण म घटनाओ का एक चित्ताकर्षक क्रम सन्निहित होता ह (आकृति 43)। नाभिक झिल्ली या केन्द्रकावरण विलुप्त हो जाता ह और नाभिक' या केंद्रक एक अपेक्षाकृत ठोस गोलक म गुणसूत्रो या



आकृति 43—
देहीय कोशिका
का समसूत्रण

'क्रोमोसोम' नामक कई लघुतर पिंडो मे परिवर्तित हो जाता है। क्रोमोसोम कोशिका के मध्य मे चले जाते है और वहा उनमे से प्रत्येक का दो एकदम समान भागो मे लम्ब विभाजन हो जाता है।

इसी बीच 'सेंट्रोसोम' नामक एक निर्मिति दो समान भागो मे विभक्त हो चुकी होती है। ये दोनो भाग कोशिका के विपरीत ध्रुवो की ओर चले जाते है। अब प्रत्येक भाग से 'रेखाएं' विकिरित होती दिखाई देती है, जिससे एक तारे-जैसी व्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक सेंट्रोसोम से ये 'रेखाए' कोशिका के मध्य की ओर आती है और उनके बीच एक तकुआ या 'तर्कु' बन जाता है।

नूतन क्रोमोसोमो मे से प्रत्येक इन 'रेखाओ' पर होकर ध्रुवो की ओर जाता है। ये क्रोमोसोम ध्रुव पर समूहबद्ध हो जाते है और अब प्रत्येक ध्रुव पर उतने ही क्रोमोसोम होते है, जितने कि आरम्भ मे केंद्रक मे थे। प्रत्येक क्रोमोसोम-समूह के आसपास एक केंद्रकावरण बनने लगता है, तर्कु की 'रेखाए' लुप्त हो

जाती है और कोशिका के विपुवद्वृत्त पर कोशिका सार' या कोशिका द्रव्य' दबकर दो भागों में विभक्त होने लगता है। अंत में कोशिका द्रव्य अपना विभाजन पूर्ण कर लेता है क्रोमोसोम फिर एक सहत संहति का निर्माण करते है और एक कोशिका से दो नई कोशिकाए उत्पन्न हो चुकी होती हैं।

लेकिन इन केंद्रकीय घटनाओं की सार्थकता क्या है? हर जात का कोशिकाओं में क्रोमोसोमों की एक लाक्षणिक संख्या होती है। (मनुष्य की कोशिका में 48 क्रोमोसोम होते हैं)। हर क्रोमोसोम जीन नामक कई सूक्ष्म पिंडों का बना होता है। क्रोमोसोमों का विखंडन यह सुनिश्चित कर देता है कि हर भावी अनुजात कोशिका को मूल-कोशिका जैसे और जितने ही जीन—और इसलिए उसे जैसी ही लाक्षणिकताएं—प्राप्त होंगी।

यह स्पष्ट मालूम देता है कि कोशिका के विभाजन को केंद्रक नियंत्रित करता है। इससे भी बड़ी बात यह है कि यह कोशिका के जीवन के लिए ही आवश्यक है। केंद्रक से पृथक किया गया कोशिका द्रव्य खंड विभाजित तो क्या होगा जीवित ही नहीं रहेगा।

लिंग-कोशिकाओं का परिपाक

पूर्णत परिपक्व लिंग-कोशिकाए कई बार विभाजित होती हैं। अधिकांश विभाजन देह-कोशिकाओं के विभाजन की ही तरह होते हैं किन्तु उनमें से एक विभाजन विशिष्टत भिन्न है।

अपरिपक्व शुक्राणु कोशिकाएं कुछ बार समसूत्रण द्वारा विभाजित होने के बाद अर्धसूत्रण' या 'ह्रास विभजन नामक प्रक्रिया से गुजरती हैं। यह प्रक्रिया समसूत्रण की तरह ही प्रारम्भ होती है लेकिन इसमें क्रोमोसोम कोशिका के विपुवद्वृत पर रेखाबद्ध होने के बाद विखंडित होकर दो में नहीं बंट जाते। इसके विपरीत उनकी आधी संख्या कोशिका के एक ध्रुव पर चली जाती है और आधी दूसरे ध्रुव पर। जब कोशिकाएं विभाजित होती हैं तो उनमें से प्रत्येक परिणामी कोशिका में क्रोमोसोमों की सामान्य से आधी ही संख्या होती है। इनमें से प्रत्येक कोशिका अब समसूत्रण द्वारा एक बार और विभाजित होती है और इस प्रकार सामान्य क्रोमोसोमों वाली एक मूल कोशिका में अंत में कम क्रोमोसोमवाली चार कोशिकाएं उत्पन्न होती हैं। इन चारों में से प्रत्येक की आकृति में परिवर्तन होता है वह सिर बन जाता है मैंट्रोसोम ग्रीवा और कोशिका द्रव्य परिपक्व शुक्राणु का पुच्छ।

अंड-कोशिकाएं उसी प्रकार परिपक्वता प्राप्त करने लगती हैं जैसे कि शुक्राणु-कोशिकाएं। ह्रास विभाजन या अर्धसूत्रण के समय आधे आधे क्रोमोसोम प्रत्येक ध्रुव पर चले जाते हैं। लेकिन जब अपरिपक्व अंड विभाजित होता है तो कोशिका द्रव्य का समान विभाजन नहीं होता। आधे क्रोमोसोमवाली एक छोटी कोशिका उत्पन्न होती है और वह अपविकृत कर दी जाती है। आधे क्रोमो

सोमवाली वडी कोशिका फिर विभाजित होती है, लेकिन इस वार समसूत्रण द्वारा। फिर एक छोटी और एक वडी कोशिका उत्पन्न होती है। छोटी कोशिका का अपकर्प हो जाता है, जिससे केवल बड़ी परिपक्व अड-कोशिका ही बची रह जाती है।

जब ससेचन होता है, तो शुक्राणु अड की ओर जाता है और उसे भेदकर अन्दर प्रविष्ट हो जाता है। भीतर केवल शिर और ग्रीवा ही जाते है, पुच्छ बहिष्कृत कर दी जाती है। शुक्राणु का सिर केद्रक-द्रव्य का बना होता है और अन्त मे अड के केद्रक के साथ विलयित हो जाता है। अब हम समझ सकते है कि लिग-कोशिकाओ के परिपक्व होने मे ह्रास-विभजन का आशय क्या है। शुक्राणु और अड-कोशिकाओ मे जात के केवल आधे ही क्रोमोसोम-लक्षण होते है। दोनो का सयोग और उनके केद्रको का विलयन क्रोमोसोमो की सामान्य सख्या पूरी कर देता है। यदि ह्रास-विभजन न होता, तो ससेचित अंड मे सामान्य मात्रा से दोगुने क्रोमोसोम होते।

ऊतक की मरम्मत और पुनरुत्पादन

ऊतक की मरम्मत और पुनरुत्पादन की प्रक्रियाएं कोशिकाओ की वृद्धि की ही मिसाले है। साधारणतया हम मरम्मत को क्षत ऊतक का साधारण पुनर्नवीकरण ही समझते है और पुनरुत्पादन को किसी जीव के किसी अधिक वडे भाग का पुनर्नवीकरण। वास्तव मे दोनो ही प्रक्रियाओ मे बड़ी समानता है और वे प्रभावित क्षेत्र के आकार की अपेक्षा उसकी रचना करनेवाली कोशिकाओ के लक्षण पर अधिक निर्भर करती है।

ऊतक जितना ही कम विशेपीकृत होता है, उसकी मरम्मत करने और आघात से ठीक होने की शक्ति उतनी ही अधिक होती है। वहुत-से अपृष्ठवशियो मे, जिनकी कोशिकाए मनुष्य की अपेक्षा कम विशेपीकृत होती है, अगो और ऊतक के आश्चर्यजनक पुनरुत्पादन की क्षमता होती है। कुछ कृमि आधे मे काट देने पर दो नये कृमियो मे परिणत हो सकते हैं। लॉब्स्टर का कटा हुआ पजा फिर से उत्पन्न हो जाता है। कुछ कशेरुकदडी भी ऐसी शक्तियां प्रदर्शित करते है। कंचैला साप, जो वास्तव मे पादहीन छिपकली ही है, की वहुत ही भगुर पूछ होती है, जो आसानी से टूट जाती है। जब यह टूट जाती है तो कुछ ही समय मे एक दूसरी पूछ उग आती है।

कोई जीव जितना ही जटिल होता है, उसके अंग तथा ऊतक उतने ही अधिक विशेपीकृत होते है और वे उतनी ही कम सरलता से वदले जा सकते है। मनुष्य मे कुछ ऊतक इतने विशेपीकृत होते है कि वे क्षत हो जाने पर अपना पुनरुत्पादन नही कर सकते। तंत्रिका-कोशिकाए इसी प्रकार की है। यदि किसी न्यूरॉन की कोशिका-काय नष्ट हो जाती है, तो वह न्यूरॉन हमेशा-हमेशा के लिए खत्म हो जाता है—उसे नही वदला जा सकेगा। कोशिका के प्रवर्ध पुनरुत्पादन कर सकते है, लेकिन कोशिका-काय नहीं कर सकती। परिपक्व लाल रुधिर-कोशिकाओ के

बार म, जो पुनरुत्पादन नहीं कर सकती, यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या वे वास्तव म जीवित हैं। उनम चूंकि केन्द्रक नहीं होते अत उनके लिए पुनरुत्पादन करना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

अधिकांश संयोजी और आवरक ऊतक कम विशिष्ट प्रकार के होते हैं और सफलतापूर्वक पुनरुत्पादन कर सकते हैं। वास्तव म वे उन नष्ट ऊतकों का स्थान ले लेते हैं जो अधिक विशेषीकृत होते हैं। घाव भरनेवाला ऊतक संयोजी ऊतक होता है। ग्रथीय ऊतक भी सरलतापूर्वक पुनरुत्पादन कर लेता है जिसके कारण ग्रत स्रावी ग्रथियों की प्रतिक्रिया के मामलों म बड़ी परेशानी म डालने वाली समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं।

असामान्य ऊतक — कभी कभी देह के भागों म ऐसे ऊतक प्रकट हो जाते हैं जो किसी भी प्रकार उपयोगी नहीं होते। ऐसी असामान्य वृद्धियां ट्यूमर या अर्बुद कहलाती हैं और ये देह के किसी भी भाग म प्रकट हो सकती हैं। कुछ अर्बुद अपेक्षाकृत हानिरहित होते हैं और अहानिकर या निर्दोष अर्बुद कहलाते हैं। दूसरे जिंदगी के लिए खतरनाक होते हैं और दुर्दम्य अर्बुद कहलाते हैं। अहानिकर अर्बुद प्राय ऊतक के एक कोष म बद रहते हैं जो उनको सभी ऊतकों म प्रसार रोकता है। दुर्दम्य अर्बुद विभिन्न प्रकार के कैंसर जिनके उदाहरण हैं ऊतकीय कोष म बद नहीं होते। उनकी कोशिकाएं ऊतकों म प्रविष्ट होने का यत्न करती हैं और देह के विभिन्न भागों को जा सकती हैं।

अर्बुद कोशिकाओं की उत्पत्ति का प्रश्न अभी तक अनिर्णीत है। एक अधिक सम्भव परिकल्पना यह है कि वे ऐसी भ्रूणीय कोशिकाएं हैं जो कभी परिपक्वता नहीं प्राप्त कर सकी हैं या विशिष्ट नहीं हो सकी हैं और वयस्क देह के निर्माण म जिनका उपयोग नहीं हुआ है। किसी उत्तेजनशील उद्दीपक द्वारा (यह उद्दी

तथा खोपडी की छत का निर्माण इसी तरीके से होता है। शरीर की अधिकाश अस्थियां पहले उपास्थि मे प्रतिरूपित होती है, जो वाद मे अस्थि द्वारा प्रति-स्थापित कर दी जाती है। यह वह अनिवार्य तरीका है कि जिससे लम्वी अस्थियो और उनके साथ-साथ शरीर की वृद्धि होती है।

वाह या टाग की हड्डी-जैसी लम्वी हड्डियो मे पहले काड के मध्य मे उपास्थि कैल्सीकृत होती है। अस्थि के वाहर की ओर एक अस्थि-विरचक झिल्ली उगने लगती है और अस्थि-विरचक कोशिकाए काड के आस-पास कैल्सियम-निक्षेप करने लगती है। इस वीच अस्थि का भीतरी भाग अभी भी कैल्सीकृत उपास्थि का ही वना होता है। इसी समय भीतरी भाग पर अस्थि-विनाशक कोशिकाए आक्रमण करती है और उपास्थि तथा कैल्सियम-निक्षेप को भेदती चली जाती है। उनके पीछे-पीछे अस्थि-विरचक कोशिकाए आती है और अस्थि-विनाशक कोशिकाओ द्वारा निर्मित कोटरो मे वास्तविक अस्थि निक्षेपित कर देती है। यह प्रक्रिया काड के ऊपर से नीचे तक और अस्थि के सिरो मे भी होती है। तथापि अस्थि की वृद्धि होती रहती है, क्योकि काड की अस्थि हर सिरे की अस्थि से उपास्थि की एक पट्टिका द्वारा पृथक् रहती है। इसके वाद वृद्धि अस्थि के सिरो के इन वृद्धि-प्रदेशो मे नये अस्थि-ऊतक के सम्मिलन द्वारा एक-दूसरे से दूर धकेले जाने से होती है। लम्वी हड्डियो की वृद्धि अन्तत तव रुक जाती है जव उपास्थि-पट्टिकाए कैल्सीकृत हो जाती है।

कोमल ऊतको की वृद्धि भी ऊतको मे कोशिकाओ की सख्या के गुणन द्वारा होती है। यह जान लेना चाहिए कि ऊतको मे दो विरोधी प्रक्रियाए हर समय एक साथ होती रहती है। एक ओर तो कोशिकाए अविरल रूप से पुनरुत्पादन करती रहती है (तन्त्रिका-तंत्र-जैसे स्थानो को छोडकर) और ऊतक का आकार वढाती रहती है, दूसरी ओर कोशिकाए अविरल रूप से मृत या नष्ट होती रहती है और ऊतक से निष्कासित की जाती है। वच्चो मे सक्रिय वृद्धि के दौरान वृद्धि विनाश को अतिसतुलित कर लेती है। वृद्धि के रुक जाने के वाद, और हमारे जीवन के अधिकाश भाग मे, वृद्धि और विनाश लगभग समान गति से चलते रहते है। वृद्धावस्था मे यह सतुलन दूसरी दिशा मे चला जाता है और विनाश अधिक तेजी से होने लगता है। वृद्ध व्यक्तियो मे ऊचाई तथा कुछ ऊतको और अगो मे सिकुड़ने की प्रवृत्ति इसी कारण होती है।

ऊतको की यह चलिष्णुता हड्डियो-जैसे स्थायी लगनेवाले ऊतको पर भी लागू होती है। अस्थि-विरचक और अस्थि-विनाशक कोशिकाए लगातार कार्य करती रहती है और एक 'ठोस' हड्डी अपने जीवन-काल मे कई वार वनती और ध्वस्त होती है।

वृद्धि का नियत्रण—वृद्धि का नियन्त्रण करनेवाले कारको के वारे मे बहुत मोटी जानकारी ही है। जिन घनिष्ठ प्रक्रमो द्वारा कोई अग-विशेष किसी विशेष आकार तक सीमित रहता है, वे सव अनसुलझे रहस्य ही है।

स्वस्थ वृद्धि, प्रत्यक्षत तथा परोक्षत, दोनो ही प्रकार नियमित होती है। ऑक्सीजन और उचित आहारो का अन्तर्ग्रहण एक प्राथमिक कारक है। किन्तु यदि आवश्यक द्रव्यो के पाचन अवशोषण और वितरण की प्रक्रियाएं उचित प्रकार और मात्रा मे द्रव्य कोशिकाओं तक पहुचाने म सहयोग न करें तो यह अन्तर्ग्रहण बेकार होगा।

हारमोन नियन्त्रण देह की वृद्धि के नियमन म एक और महत्त्वपूर्ण कारक है। हम देख चुके है कि पीयूष ग्रन्थि की अग्रपालि एक वृद्धिकारक हारमोन स्रवित करती है जो समस्त ऊतकों की वृद्धि को नियमित करता है। इस हारमोन की सामान्य मात्राएं न केवल हड्डियो की वृद्धि म ही परिवर्तन लाती हैं बल्कि विभिन्न अन्तरांगो की वृद्धि म भी। हम जानते है कि अवटु हारमोन वृद्धि पर प्रभाव डालता है। इसका प्रभाव सम्भवत परोक्ष है जो कोशिकाओं म ऑक्सीकर अभिक्रियाओ के इसके नियमन पर आधारित है।

पहले यह सोचा जाता था कि पीयूषिका वृद्धिकारी हारमोन शायद अवटु प्रेरक हारमोन हो और इस प्रकार अवटु हारमोन का स्राव करवाकर वह वृद्धि को प्रभावित करता होगा। लेकिन यह सम्भव नही मालूम देता, क्योकि पीयूषिका दोषजन्य बौने व्यक्ति को थाइरोग्लाब्युलिन के देने स उसकी वृद्धि वर्धित नही होती।

लिंग हारमोन भी प्रकटतया वृद्धि पर प्रभाव डाल सकते हैं। अण्डोच्छेदित या खस्सी किया पशु प्राय अधिक बड़ा हो जाता है। हारमोन तन्त्र म यह नियमन कहा लागू होता है यह ज्ञात नही है।

हड्डी की वृद्धि मे ये सभी हारमोन तथा परावटु हारमोन और विटामिन डी सम्मिलित होते हैं। इन तमाम कारको के सम्मिलित होने के कारण इनके अन्त सबधो का जटिल होना अवश्यम्भावी है। जब हम यह ज्ञात होता है कि हारमोनो को कोशिका के उपापचयन द्वारा ही कार्य करना पडता है और इस विषय का अध्ययन अभी अपनी प्रारम्भावस्था म ही है, तो यह जटिलता और अधिक ही हो जाती है।

अध्याय 14

दैहिक ताप

अधिकाश जतुओ की सक्रियता की सीमा तथा गति उनके पर्यावरण के ताप द्वारा ही निर्धारित होती है। जिन जतुओ का दैहिक ताप पर्यावरण-ताप के साथ घटता-बढता है, वे 'असमतापी' जतु कहलाते है। यदि पर्यावरण ताप ठंडा होता है, तो उनकी सक्रियता कम हो जाती है, और यदि वह गरम होता है, तो उनकी सक्रियता तीव्रतर हो जाती है—चाहे वे इसे 'पसन्द' करे या न करे, होता उनके साथ यही है।

केवल पक्षियो तथा स्तनधारियो—'समतापी' जंतुओ मे ही अपनी देह के ताप को नियत्रित करनेवाली युक्तिया होती है। मनुष्य अपना ताप एक स्थिर स्तर (लगभग 98 6° फा०) पर बनाये रखता है—मौसमविदो के लेखे बाहर का ताप चाहे 'शून्य से नीचे' हो या 'छाह मे 100°'। दैहिक ताप की इस स्थिरता के कारण मनुष्य ताप के मामले मे अपने पर्यावरण से स्वतन्त्र है। उसकी कोशिकाए अपने स्वाभाविक ओज से अपना कार्य करती रह सकती है, क्योकि देह के बाहर चाहे कुछ ताप हो, उनका ताप स्थिर रहता है। कुछ विरल परिस्थितियो मे ही यह स्थिरता 'समतापी' जीवो के लिए अलाभकर रहती है। यदि आतरिक ताप कोई 10° गिर जाये, या लगभग 15° चढ जाये तो कोशिकाए इस परिवर्तन को ज्यादा देर तक न झेल सकेगी। अधिकाश 'असमतापी' जतुओ के लिए इस परिवर्तन का अर्थ बस उनकी चयापचय-गति मे अतर आना ही होगा। लेकिन पक्षियो तथा स्तनधारियो मे इस प्रकार के परिवर्तन केवल तभी आ सकते है जब उनकी ताप-नियामक युक्तियो मे गभीर दोष आ जाते है, इस सभावित हानि की तुलना मे यह लगभग सतत लाभ कई गुना अधिक है।

अनेक अन्य शरीर-क्रियात्मक स्थिरताओ की ही भाति दैहिक ताप की स्थिरता भी विरोधी प्रक्रियाओ की अंत.क्रिया द्वारा कायम रहती है। देह मे ऊष्मा का निरंतर उत्पादन होता रहता है और इसका निरतर लोप होना ही चाहिए।

ऊष्मा-उत्पादन तथा ऊष्मा-विलोप

ऊष्मा-उत्पादन एक उपापचयनकारी इकाई का चिह्न है और इसका उद्गम अतत जीव की कोशिकाओ मे ही होना चाहिए।

कोशिका जब तक जीवित रहती है, उसके भीतर रासायनिक अभिक्रियाएं होती रहती है और ऊष्मा का उत्पादन इसका एक अवश्यभावी परिणाम है। कोशिका के उपापचयन पर प्रभाव डालने वाला हर कारक उसके ऊष्मा-उत्पादन पर भी अवश्य प्रभाव डालेगा।

ऊष्मा उत्पादन को नियंत्रित करने की जो एकमात्र युक्ति हमें उपलब्ध है, वह कंकाल पेशी की सक्रियता में परिवर्तन है। ऐसी कोई युक्ति नहीं है कि जो अन्य प्रकार की दैहिक कोशिकाओं की एक पर्याप्त संख्या में उपापचयन को इतना घटा या बढ़ा सकें कि जिससे देह-ताप पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ सके। लेकिन ककाल पेशियाँ निश्चित ऊष्मा का सबसे बड़ी स्रोत हैं और उनकी सक्रियता बदलती हुई ताप आवश्यकताओं के अनुरूप प्रतिवर्ती या ऐच्छिक नियंत्रण द्वारा शीघ्रता पूर्वक अनुकूलित की जा सकती हैं।

अंतिम विश्लेषण में यही निष्कर्ष निकलता है कि देह से ऊष्मा का लोप कई भौतिक प्रक्रियाओं का परिणाम है। ऊष्मा की एक थोड़ी-सी मात्रा हमारी सांस द्वारा अंतर्ग्रहीत वायु के गरमाने में नष्ट हो जाती है। इससे भी कम मात्रा में ऊष्मा मूत्र तथा मल के उत्सर्जन में नष्ट हो जाती है।

ऊष्मा का सर्वाधिक लोप त्वचा की सतह के जरिये होता है। त्वचा पर यह लोप चार विभिन्न प्रक्रियाओं— विकिरण, संनयन, संवहन और वाष्पन — द्वारा संभव हो सकता है।

विकिरण देह से किरणों या तरंगों द्वारा ऊर्जा का उत्सर्जन है। ऐसा कोई भी पिंड, जो अपने पर्यावरण की अपेक्षा अधिक उष्ण है ऊष्मा की तरंगों का उत्सर्जन करता है। (एक सामान्य—डाक्टरी नहीं—तापमापी बिजली के जलते बल्ब के पास रखिये और ताप में वृद्धि देखिये)। हमारे पर्यावरण का ताप दैहिक ताप से प्रायः कम होता है, इसलिए त्वचा से ऊष्मा-तरंगें आसपास के माध्यम के जरिये विकीर्ण होती हैं। लगभग 55 प्रतिशत ऊष्मा लोप विकिरण के कारण होता है।

'संनयन' द्रव्य की धाराओं द्वारा ऊष्मा के संचरण की प्रक्रिया है। उष्ण वायु ठंडी वायु से हलकी होती है और ऊपर उठने लगती है। इस प्रकार देह को घेरने वाली उष्ण वायु ऊपर उठती है और आसपास की ठंडी हवा उसका स्थान लेने के लिए आती है और धाराएं उत्पन्न हो जाती हैं। अपनी बारी में ठंडी हवा भी गरम हो जाती है और इस प्रकार यह प्रक्रिया बार बार होती रहती है। लगभग 15 प्रतिशत ऊष्मा विलोप संनयन धाराओं द्वारा होता है। आप एक जलते हुए बिजली के बल्ब से उत्पन्न संनयन धाराओं द्वारा सिगरेट के धुएं को ऊपर ले जाया जाना देख सकते हैं। त्वचा से संनयन वायु की गति द्वारा बहुत प्रभावित होता है, पवन ऊष्मा विलोप को त्वरित कर देती है।

'संवहन' ऊष्मा स्थानांतरण की वह प्रक्रिया है जिसमें भिन्न भिन्न ताप की दो वस्तुएं एक दूसरे के संपर्क में होती हैं। साधारणतया संवहन का ऊष्मा विलोप में बहुत ही कम महत्त्व है, क्योंकि वायु ऊष्मा की एक बहुत ही खराब संवाहक है। जब देह किसी ठंडी वस्तु के संपर्क में आती है, जैसे बर्फ का टुकड़ा तो देह की ऊष्मा ठंडी वस्तु को चली जाती है।

'वाष्पन' ऊष्मा विलोप की वह प्रक्रिया है जिसके कारण हम यह बात कहने

को विवश हो जाते है कि 'गरमी कहा है, उमस है !' पानी द्रव-अवस्था से वाष्प-अवस्था मे परिवर्तित (वाष्पित) होते समय ऊष्मा का अवशोषण करता है। इस तरह त्वचा की सतह पर पानी का वाष्पन देह के ऊष्मा-विलोप मे सहायक होता है। त्वचा से केवल पसीना ही नही, वल्कि कोशिकाओ से निकलकर विसरण द्वारा त्वचा की सतह पर आनेवाला पानी भी वाष्पित होता है। यदि वायु जल-वाष्प से लगभग सतृप्त है (अर्थात् यदि आर्द्रता अधिक है), तो वाष्पन वहुत सीमित या असभव हो जाता है। चूकि अत्यधिक उच्च ताप पर वाष्पन ही वह एकमात्र प्रभावी ढग है कि जिससे देह ऊष्मा-विलोप कर सकती है, इसलिए वहुत गरम (120° फा ताप के) तथा आर्द्र वातावरण को कुछ मिनटो से अधिक नही सहा जा सकता है। यदि वातावरण शुष्क है, तो 200° फा से ऊपर का ताप भी दैहिक ताप की वृद्धि के विना सहा जा सकता है।

जल का वाष्पन त्वचा की तरह फेफड़ो मे भी होता है। कुत्ते-जैसे पशुओ मे, जिनके पजो की गद्दियो के अलावा और कही स्वेद-ग्रथिया नही होती, वाष्पन जीभ की सतह पर होता है। हाफना कुत्ते की वह युक्ति है जिसके द्वारा वह अत्यधिक गरमी होने पर ऊष्मा का क्षय करता है।

दैहिक ताप का नियमन

देह-ताप का नियमन करने वाली युक्तिया अधिकाशत तत्रिका-परिवर्त है, जिनका आरभ त्वचा के ताप-सग्राहको मे होता है। इन सग्राहको से तत्रिका-आवेग केंद्रीय तत्रिका-तत्र मे जाते है और अवश्चेतक मे स्थित तापनियामक केंद्रो को चले जाते है। इन केंद्रो से त्वचा की धमनिकाओ को, त्वचा की स्वेद-ग्रथियो को, ककालपेशियो को, त्वचा की चिकनी पेशियो को, या इनके सयोगो को आवेग प्रेरित किये जाते है। अधश्चेतक द्वारा प्रेरित ये परिवर्तन दैहिक तथा आंतरागीय क्षेत्रो मे तत्रिका-तत्र के उच्चतर स्तरो द्वारा उत्पन्न समन्वय के अच्छे उदाहरण है।

निम्न पर्यावरण-ताप की अनुक्रियाए—जव पर्यावरण-ताप त्वचा के ताप से काफी नीचे गिर जाता है, तो देह जितनी तेजी से ऊष्मा पैदा कर सकती है, उससे अधिक तेजी से गवाने लगती है। वाह्य ताप मे गिरावट आने से त्वचा मे स्थित शीत-सग्राहक उद्दीपित हो जाते है और अवश्चेतक मे ऊष्मावर्धक केंद्र को आवेग जाते है। इस केंद्र से त्वचा की धमनिकाओ की चिकनी पेशी को आवेग भेजे जाते हैं, जिससे वह कुचित हो जाती है। इसमे धमनिकाए कुचित हो जाती है और त्वचा मे से कम रुधिर का प्रवाह होने लगता है। इस प्रकार विकिरण और सवहन की प्रक्रियाओ की प्रभावशीलता कम हो जाती है, क्योकि अव इस क्षेत्र मे कम उष्ण रुधिर ऊष्मा गँवा रहा है। स्वेद-ग्रथियो को कम आवेग भेजे जा रहे हें, कम पसीने का स्राव हो रहा है और वाष्पन कम हो गया है (निम्न तापो पर यह सभवत किसी भी स्थिति मे अधिक प्रभावशाली नही होता)। यदि वाह्य ताप वहुत नीचा नही है तो ये युक्तिया ऊष्मा-विलोप को कम

करने एव स्थिर दैहिक ताप बनाए रखने के लिए पर्याप्त होगी।

यदि पर्यावरण-ताप इससे भी अधिक नीचा गिर जाता है तो ऊष्मा विलोप में कमी पर्याप्त नहीं होती और ऊष्मा उत्पादन की वृद्धि द्वारा इसकी अनुपूर्ति करना पड़ता। ऐसी स्थिति में ऊष्मा-वर्धक केंद्र कंकाल-पेशियों को आवेग भेजता है और उनकी सक्रियता बढ़ा देता है। वर्धित कुंचन का परिणाम पेशियों द्वारा ऊष्मा का अधिक उत्पादन होता है। यदि यह भी पर्याप्त नहीं होता तो पेशियों को और भी अधिक आवेग भेज जाते हैं और अधिक अनच्छिक कुंचन होते हैं—कापना और दांतो का किटकिटाना।

परो या घने रोएंदार जंतुओं में ये आवेग त्वचा की चिकनी पेशी को जाते हैं जो बालों या परों के हृषण (खड़े होने) का नियंत्रित करती है। इससे ये बाल या पर फूल जाते हैं और अपने बीच में हवा की एक तह बना लेते हैं जो ऊष्मा पृथक्कारी का काम करती है। हां यह एक सहायक युक्ति ही है और कंकाल पेशी के कुंचन इससे अधिक प्रभावी होते हैं। मनुष्य में यह युक्ति अभी तक विद्यमान है लेकिन यह बिल्कुल प्रभावहीन है क्योंकि देह पर बाल इतने घने नहीं होते कि जिनमें वायु की तह रुकी रह सके। हां इससे रोंगटे अवश्य खड़े हो जाते हैं।

प्रबल क्रियाशीलता द्वारा भारी कपड़े पहनकर, अधिक प्रोटीन प्रचुर आहार खाकर (विशिष्ट गतिज क्रिया बढ़ाने के लिए उपापचयन का अध्याय देखिए) या सीधे उष्णतर पर्यावरण में जाकर हम भी इन प्रक्रियाओं में ऐच्छिक सहायता दे सकते हैं।

उच्च पर्यावरण ताप की अनुक्रियाएं—जब पर्यावरण ताप त्वचा के ताप से ऊंचा हो जाता है तो घटनाएं विपरीत क्रम में घटती हैं। त्वचा के ताप संग्राहक उद्दीपित हो जाते हैं और अधश्चेतक में ऊष्मा अवनयन केंद्र को आवेग भेजते हैं। अब त्वक् धमनिकाओं की चिकनी पेशी को आवेग जाते हैं जो उनके कुंचन को अवरुद्ध कर देते हैं। धमनिकाएं विस्फारित (फैल) हो जाती हैं और त्वक् केशिकाओं में होकर अधिक रुधिर प्रवाहित होता है और विकिरण तथा संवहन द्वारा ऊष्मा का उत्सर्ग कर दिया जाता है। यदि ताप काफी ऊंचा है तो ये प्रक्रियाएं बेकार हो जाएंगी। अब स्वेद ग्रंथियों का उद्दीपन अधिक स्वेद स्राव तथा अधिक वाष्पन होगा।

यदि देह के बाहर काफी गरमी है तो ऊष्मा उत्पादन को कम करना होगा। कंकाल-पेशियों की क्रियाशीलता का प्रतिवर्ती अवनयन हो जाता है और कम ऊष्मा उत्पादन होती है। गरमियों में हम सामान्यतः स्वेच्छापूर्वक कम सक्रिय होते हैं और प्रोटीनों की मात्रा कम कर देते और 'हलके' आहार खाते हैं। देह को अधिकतम संभव खुला रखने से वाष्पन का सतही क्षेत्र बढ़ जाता है और इस प्रकार यह भी इसमें सहायक होता है।

यह जानना रुचिकर है कि ताप नियामक केंद्रों को उनके पास से प्रवाहित होनेवाले रुधिर के ताप से और तंत्रिकाओं द्वारा भी क्रियाशील किया जा सकता

है, रुधिर-ताप मे अवनयन ऊष्मावर्धक केद्र को क्रियाशील कर देता है और उसमे वृद्धि ऊष्मा-अवनयन केद्र को। इनके उद्दीपन से उत्पन्न लाक्षणिक प्रभाव तव भी प्रकट होगे कि जव वाह्य ताप ऐसी क्रियाओ की अपेक्षा न भी करे।

दैहिक ताप में गड़बड़

मुह मे मापने पर औसत सामान्य दैहिक ताप 98·6° फा० निकलता है। गुदा-ताप लगभग एक डिगरी अधिक होता है। कुछ व्यक्तियो का ताप इससे कुछ दशाश कम-या-अधिक होता हे। तथापि हम सभी मे ताप-वैभिन्न्य का एक दैनिक चक्र होता है। दिन के ताप का चरम तीसरे पहर के अत मे या सायंकाल के प्रारभ मे आता है और निम्नतम विदु सुवह के समय। उच्चतम तथा निम्नतम विदु मे एक डिगरी तक का भी अतर हो सकता है। जो लोग रात मे काम करते है, उनमे कुछ समय के वाद उच्च तथा निम्न विदुओ का क्रम उलट सकता है।

पेशीय प्रयास के दौरान दैहिक ताप ऊचा हो जाता है और यह क्रियाशीलता रुक जाने के वाद भी कुछ समय तक कायम रहता है। तथापि ऐसी अन्य असामान्य अवस्थाएं भी होती है, जिनमे दैहिक ताप अधिक लम्वी अवधियो के लिए चढ या गिर जाता है।

हीनावटुता तथा कुछेक पीयूपिका-विकारो मे (जिनमे अवटुप्रेरक हारमोन की न्यूनता से अवटु-ग्रथि-हारमोन का उत्पादन अवरुद्ध हो जाता है) दैहिक ताप अवसामान्य रहता है। दैहिक ताप मे गिरावट न्यूनित ऊष्मा-उत्पादन के कारण होती है—उत्पन्न ऊष्मा की अपेक्षा अधिक ऊष्मा की क्षति होती है। यह ऊतको की न्यूनित ऑक्सीकर शक्तियो के फलस्वरूप होता है। अत्यवटुता मे विपरीत कारणो से इसका उलटा होता है।

दैहिक ताप मे चढाव गिराव से कही अधिक आम है और इनका परिणाम अधिक गभीर होता है। आर्द्र गरम वातावरण मे वहुत देर रहने से लू लग सकती है या तापाघात हो सकता है। इस स्थिति मे ऊष्मा-लोप का नियमन करने वाली युक्तिया या तो वर्धित पर्यावरण-ताप का निराकरण नही कर पाती, या वैसा करने के प्रयास मे परिक्लात हो जाती है। इससे दैहिक ताप वढ जाता है और यदि कम न किया गया, तो यह केद्रीय तत्रिका-तत्र को हुई अपूरणीय हानि के कारण मृत्यु तक ला सकता है।

धूपाघात लू लगने का एक विशेप प्रकार है। इसमे ऊष्मा-विलोप को नियमित करनेवाली युक्तियो की अपर्याप्तता के अलावा सूर्य की विकिरण-ऊर्जा का अवशोपण होता है और सूर्य की किरणो से अरक्षित अगो के ताप मे देह के साधारण ताप की अपेक्षा स्थानीय वृद्धि हो जाती हे—विशेपकर मस्तिप्क अत्यधिक गरम हो जा सकता है।

तापाघात तथा धूपाघात से वचने का सवसे अच्छा उपाय हलका खाना, खूव पानी पीना, अधिकतम सभव निष्क्रिय रहना और देह से वाप्पन होने देने का

अधिकतम अवसर देना है। सिर तथा गर्दन का सूर्य की सीधी किरणों से बचाना वाछनीय है।

बुखार या ज्वर मे दैहिक ताप कुछ समय तक उच्चतर स्तर पर रहता है। बुखार मे ताप का बढना, किसी हद तक एक विषम घटना क्रम के कारण होता है। ज्वर आमतौर पर किसी सक्रमण या छूत की बीमारी के कारण होते है। सक्रामक जीवाणु एक विपाक्त द्रव्य उन्मुक्त करता है जो रुधिर मे घूमते हुए देह की ऊष्मा बधक युक्ति को उद्दीपित कर देता है। इससे त्वचा की रुधिर वाहिकाए कुचित हो जाती हैं (ज्वर की प्रारभिक अवस्था मे त्वचा का पीला हो जाना) और ऊष्मा विलोप न्यूनित हो जाता है। इसस दैहिक ताप बढ़ने लगता है और इसकी वृद्धि के साथ साथ वर्धित ताप कोशिकाओं के उपापचयन का तेज कर देता है और अधिक ऊष्मा पैदा होने लगती है। ज्वर की प्रारभिक अवस्थाओं मे रोगी सामान्यत जो ठड अनुभव करता है वह त्वचा की रुधिर वाहिकाओं के कुचन और त्वचा के ताप मे मनन गिरावट का ही परिणाम होती है। यह त्वचा के शीत सग्राहकों को उद्दीपित कर देता है।

जब ताप एक विशेष स्तर तक चढ जाता है तो ऊष्मा अवनयन केंद्र उद्दीपित हो जाता है। इसस त्वक रुधिर वाहिकाओं का प्रतिवर्ती विस्फारण हो जाता है रुधिर तेजी से त्वचा तक आने लगता है (जो अब लाल हो चुकी होती है) और रोगी अत्यधिक गरमी का अनुभव करता है। किंतु अब ऊष्मा विलोप भी आरभ हो सकता है और ऊष्मा उत्पादन तथा ऊष्मा विलोप की युक्तिया एक-दूसरे को फिर प्रतिसतुलित कर देती हैं। तथापि ताप तब तक ऊचा ही रहता है जब तक विपाक्त द्रव्य का रुधिर मे शांतिक सांद्रण बना रहता है। इसलिए यद्यपि ऊष्मा विलोप ऊष्मा उत्पादन को सतुलित कर देता है देह का तापस्थायी उच्चतर स्तर पर ही लगा रहता है। जब विपाक्त द्रव्य रुधिर से पृथक हो जाता है तो ज्वर शनै शनै या तेजी के साथ उतर जाता है और ताप सामान्य स्तर पर आ जाता है।

ज्वर कोई अदम्य व्याधि नहीं है। यह ठीक है कि यदि यह बहुत ऊचे ताप 108 110 तक चला जाय, तो यह प्राय घातक होता है। तथापि अधिकाश मामलों मे यह रोग के प्रतिरोध मे एक महत्वपूर्ण साधन प्रतीत होता है। यह सहायता किस प्रकार करता है, स्पष्टत ज्ञात नहीं है तथापि हम जानते हैं कि कृत्रिम रूप मे उत्प्रेरित ज्वरों का कुछेक रोगों के उपचार मे व्यावहारिक मूल्य है। ज्वर ध्यानवान गृहस्थ को चेतावनी देने का काम करता है और इस प्रकार रोगमूलक उत्पात के कारण की ओर ध्यान केंद्रित किया जा सकता है।

अध्याय 15

पेशी-गति तथा श्रम

आंतरिक गति

हमारे आतरागो की गतिया स्वायत्त तत्रिका-तत्र तथा रुधिर मे विद्यमान रासायनिक द्रव्यो द्वारा नियत्रित होती है। ये गतिया अपेक्षाकृत धीमी, पर सामान्यत सुसमन्वित होती है।

आतरागो की गतिया हमारे सारभूत आतरिक अगो की सक्रियताओ मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग लेती है। हृद्-पेशी के कुचन रुधिर को गति प्रदान करते है। पाचन क्षेत्र से सम्बधित या उसमे की चिकनी पेशी के कुचन भोजन को क्षेत्र मे आगे ले जाने और उसका यात्रिक खडन करने का काम करते है, जिससे पाचक प्रकिण्व अपना कार्य अधिक दक्षतापूर्वक कर पाते है।

मध्यच्छद के कुचन (यह याद रखना चाहिए कि मध्यच्छद ककाल-पेशी का बना है) वक्षीय गुहा का आयतन बढाने मे सर्वाधिक महत्त्व के है। रुधिर-वाहिकाओ की चिकनी पेशी के कुचन रुधिर-प्रवाह की गति तथा वितरण का नियमन करते है। मूत्र-वाहिनियो मे क्रमाकुचन तरगे मूत्र-प्रवाह की वृक्को से मूत्राशय को गति मे सहायक होती है। गर्भाशयी कुचन गर्भ को जन्मनाल मे से गुजारते है।

दिन-प्रतिदिन इनमे से अधिकाश गतियो की ओर हमारा ध्यान भी नही जाता। तथापि इनके बिना वे गतिया सभव न हो पाती कि जिनसे हम अधिक परिचित है।

बाह्य गति

कुछ 'बाह्य' पेशियो के कुचन हमारी कुछेक आतरिक प्रक्रियाओ के अधिक प्रत्यक्ष कारण है। उदाहरण के लिए, हाथ-पैरो की पेशियो के कुचन शिरायी रुधिर तथा लसीका के प्रवाह मे महत्त्वपूर्ण कारक है, पर्शुकातर पेशियो के कुचन (मध्यच्छद के कुचनो के साथ-साथ) वक्षीय गुहा के आयतन का नियमन करते है।

हमारी निगाह मे सामान्यत वे गतिया आती है, जो किसी जतु के सचलन या उसके अगो के निपुण प्रयोग मे सन्निहित होती है। घोघे की सायास गति, बाज की ऊची उडान, चीते का तेज झपट्टा, साप की द्रुत चोट, निपुण वायलिन-वादक का अगुलि-लाघव—ये जतु-जन्य विभिन्न तथा जटिल गतियो के कुछ उदाहरण-मात्र है।

ककाल-पेशी के कुचन बडे तेज होते है और कुछ गतिया तो इतनी तेज होती है कि आख की पकड़ मे भी नहीं आ सकती। हाथ की सफाई दिखाने **में इसी**

क्रिया का उपयोग किया जाता है। भ्रमर पक्षी का फूल पर मंडराते समय पंख चलाना तीव्र यथायथ गति का एक सुंदर उदाहरण है। बाह्य गतियां अधिकांश जंतुओं को भोजन तक पहुंचने में उसे पकड़ने तथा खाने में लड़ने या भागने में उनके श्रवण तथा दृष्टि बोधक अंगों को केंद्रित करने में सक्षम बनाती है। मनुष्य में ये गतियां क्योंकर संभव होती हैं?

मनुष्य में कंकाल पेशीय गतियां

हम पेशीय कुंचन के ऊर्जा आधार तथा तंत्रिका नियंत्रण पर चर्चा कर चुके हैं। लेकिन हमने यह नहीं देखा कि देह के अंगों की गतियां किस प्रकार क्रियान्वित होती हैं।

पेशियां कंकाल या त्वचा के भागों से कंडराओं द्वारा जुड़ी होती हैं। अधिकांश पेशियां दो भिन्न भिन्न हड्डियों से जुड़ी होती हैं। ऐसी स्थिति में पेशी का एक सिरा एक ऐसी हड्डी से जुड़ा होता है जो पेशी के कुंचित होते समय अचल रहता है। संयोजन का यह बिंदु पेशी की मूलिका है। चूंकि यह संयोजन दूसरे की अपेक्षा अधिक स्थिर होता है इसलिए कुंचित होते समय पेशी इसी बिंदु की ओर खिंचती है। दूसरा संयोजन चेष्टा बिंदु या निवेश कहलाता है। पेशी का कुंचन उस हड्डी को जिससे कि वह वहां संयोजित है मूलिका की ओर खींचता है।

आंख की बाह्य पेशियां (जो नेत्र-गोलक को चालित करती हैं) की मूलिकाएं नेत्र कोटर की हड्डी पर और उनके निवेश नेत्र गोलक पर मढ़े संयोजी ऊतक में होते हैं। प्रत्येक आंख में छः पेशियां होती हैं जिनमें से प्रत्येक नेत्र गोलक की एक पृथक गति उत्पन्न करती है। प्रत्येक आंख को ऊपर-नीचे लाया नाक की ओर और सिर की ओर लाया तथा घुमाया जा सकता है। चूंकि दोनों आंखें आमतौर पर समन्वित गति करती हैं इसलिए यह आशा की जानी चाहिए कि एक जटिल पर सूक्ष्म नियंत्रण विन्यास उनकी गतियों को नियमित करने के लिए आवश्यक होगा।

आनन पेशियां अपनी मूलिकाओं पर खोपड़ी के आनन की हड्डियों से और अपने निवेशों पर मुख की त्वचा से संयोजित होती हैं। कुछ पेशियों की मूलिकाएं तथा निवेश दोनों ही त्वचा पर होते हैं। ये पेशियां त्वचा के भागों को विभिन्न दिशाओं में खींच सकती हैं और इसलिए ये विभिन्न मुखाभिव्यक्तियों की निमित्त होती हैं।

देह की कुछ और पेशियों के निवेश भी त्वचा में होते हैं। ग्रीवा प्रदेश में कमर की त्वचा तक फैला पत्ती की तरह का एक तरह का पेशी की मिसाल है। कुत्ता की अपेक्षा यह पेशी तथा गाय जैसे जंतुओं में अधिक सुस्पष्ट है क्योंकि वहां यह पेशी है जिसके कारण उनकी खाल फड़कती है जैसा कि हमने प्रायः इन जंतुओं की पीठ पर किसी मक्खी के बैठ जाने पर होता देखा होगा।

संधियो (जोडो) की बनावट—जैसा कि अभी ऊपर बताया गया है, अधिकाश पेशिया दोनो सिरो पर हड्डियो से जुडी होती है। इस प्रकार वे जब कुचित होती है, तो हड्डी गति करती है। कोई हड्डी जो गतिया कर सकती है, वे इस बात पर निर्भर करती है कि वह दूसरी हड्डी से किस प्रकार की सन्धि या सन्धि-स्थल का निर्माण करती है। वे जिन हड्डियो की सतहो पर मथित होती है, उन पर चिकनी उपास्थि की एक परत मढी होती है। जब एक हड्डी दूसरी हड्डी के विपरीत दिशा मे गति करती है, तो यह चिकना अस्तर घर्षण को काफी कम कर देता है। दोनो हड्डियो के बीच अवकाश होता है, जिसे 'सधि-कोटर' कहते है, जिस पर एपिथीलियम कोशिकाओ की एक परत मढी होती है। ये कोशिकाए एक जलीय तरल स्रवित करती है, जो सधि के गतिशील भागो को स्नेहित करने का काम करता है। यदि ये कोशिकाए क्षोभित या प्रदाहित हो जाती है, तो इसके फलस्वरूप सामान्य से अधिक स्राव हो सकता है और तरल सधि-कोटर मे सचित हो सकता है (उदाहरण के लिए 'घुटने पर पानी' आ जाना)। कोटर से गुजरने-वाले सयोजी ऊतक के घने गुच्छे स्नायु है, जो हड्डी को हड्डी से जोडते है।

हड्डिया एक-दूसरी के साथ ककाल मे जिन सधि-स्थलो का निर्माण करती है, उनके तीन प्रकार है—'अचल सधिया', 'अशत चल सधिया' और 'अबाध चल सधिया'।

कुछ हड्डिया इतनी दृढतापूर्वक सगलित होती है कि कोई भी गति सभव नही होती। वे जिन रेखाओ पर एक-दूसरी से सम्बद्ध होती है, वे अब भी दृश्य रह सकती है और वे बहुत-कुछ ऐसी ही दीखती है, जैसी कि दो कपडो को आपस मे सी देने पर उनकी सिलाई नजर आती है और इसीलिए इन्हे 'सीवन' या 'सधिरेखा' कहा जाता है। इस प्रकार की सधिया खोपडी की हड्डियो मे और उन तीन सगलित अस्थियो मे मिलती है, जो श्रोणि की 'अनामी अस्थि' का निर्माण करती है। खोपडी की हड्डियो का सगलन कपाल-गुहा को कसकर बद कर देता है और मस्तिष्क की रक्षा करता है। श्रोणि-मेखला के ठोसपने से वह मजबूत आधार उत्पन्न होता है, जो इस प्रदेश मे देह के ऊपरी भाग के बोझ को सहारने के लिए आवश्यक है।

'अशत चल सधिया' विशेषकर रीढ की हड्डी के कशेरुको के बीच पाई जाती है। इस प्रकार की सधिया एक हड्डी को दूसरी की सतह पर से खिसकने तो देती है, किन्तु एक-दूसरी पर अबाध गति नही करने देती। धड की मुडने-तुडने की गतिया, विशेषकर तब जबकि धड को सीधा नही रखा जाता है, कशेरुको के एक-दूसरे पर खिसकने से सभव हो पाती है। यदि कशेरुक कदाचित् सगलित हो जाए तो हमे या तो हर समय अपने को तानकर रखना होगा या कशेरुको को तडकाने की जोखिम लेनी होगी। कलाई तथा एडी मे की छोटी-छोटी हड्डिया (मणि-बधिकाए तथा गुल्फिकाए) इसी प्रकार सधित होती है।

हड्डियों को गति करने की आपेक्षिक स्वतन्त्रता देनेवाली सधियां को तीन उपवर्गों में रखा जा सकता है। एक प्रकार वह है जो घूर्णन के केवल एक ही अक्ष पर गति होने देता है। दूसरा वह है जो घूर्णन के दो अक्षों पर गति होने देता है। तीसरा वर्ग गति की अधिकतम स्वतन्त्रता प्रदान करता है—वह घूर्णन के तीनों ही अक्षों पर गति होने देता है। सधियों के अध्ययन का सबसे अच्छा तरीका इन गतियों को खुद अपने पर ही आजमाना है।

एक घूर्णाक्षवाली सधियां—जिस सधि का केवल एक घूर्णाक्ष होता है वह कोर सधि कहलाती है। ऊरुस्थि तथा प्रजघिका की सधि—घुटने का जोड़ या जानु सधि—इसी प्रकार की है। यह पैर के निचले भाग के आकुंचन तथा वितान को सभव बनाती है। बाहु में प्रगडिका तथा अंत प्रकोष्ठिका का सधि स्थल भी इसी प्रकार का है और कुहनी पर बाहु के निचले भाग का आकुचन तथा वितान सभव बनाता है। हाथ तथा पैर की उगलियों की पहली तथा दूसरी और दूसरी तथा तीसरी अगुलास्थियो के बीच अन्य कोर सधियां हैं।

दो घूर्णाक्षवाली सधियां—दो अक्षों पर घूर्णन होने देनेवाली सधि की एक अच्छी मिसाल खोपड़ी की पश्चकपालास्थि और गर्दन के पहले कशेरुक शीर्षधर जिस पर खोपड़ी आधारित है का सधि-स्थल है। यह सधि सिर की छाती तथा पीठ की गति (एक अक्ष पर) के और दोनों कधों की ओर गति (दो अक्षों पर) को सभव बनाती है। हममें से कुछ लोग अपने पैर के पंजों को मोड़ सकते हैं और फैला भी सकते हैं। ऐसे लोगों की पहली अगुलास्थियों और प्रपदास्थियों या अनुगुल्फिकाओं की सधियां इसी श्रेणी में आती हैं अन्य लोग पंजों को केवल आकुचित ही कर सकते हैं और इसलिए इस प्रदेश में उनके केवल एक ही क्रिया शील कोर सधि होती है।

तीन घूर्णाक्षवाली सधियां—अनेक दिशाओं में गति होने देनेवाले सधि स्थल भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। कुछ सधिस्थल अन्यों की अपेक्षा क्रिया को अधिक सीमित करते हैं और इन्हें विवर्तिका सधि कहा जाता है। इस तरह की सधियों की एक मिसाल बाहु में प्रगडिका तथा बहि प्रकोष्ठिका की सधि है जो हाथ का हथेली से ऊपर की ओर या हथेली से नीचे की ओर की स्थिति में मोड़ा जाना सभव बनाती है। इसका एक और उदाहरण शीर्षधर तथा गर्दन के दूसरे कशेरुक अक्षास्थि की सधि है जो सिर की कीलकीय गति को सभव बनाता है।

क्रिया को सबसे कम बाधित करनेवाली सधियां असफलक तथा प्रगडिका की असं सधि या स्कंध सधि तथा श्रोणि मेखला व ऊरुस्थि की श्रोणि सधि या नितंब सधि हैं। ये उलूखल सन्धियां या कटुक उलूखल सधियां हैं और ये हाथों तथा पैरों की लगभग सभी दिशाओं में गति होने देती हैं।

अन्य सधियां भी गति की पर्याप्त स्वतन्त्रता देती हैं। प्रजघिका तथा

'गुल्फिकाओं' या 'प्रपदोपास्थियों', 'अंत प्रकोष्ठिका' तथा 'बहि प्रकोष्ठिका' व 'मणिबंधिका' और उंगलियों तथा अंगूठों की अंगुलास्थियों और करभास्थियों की संधियां ऊपर-नीचे, इधर-उधर और घूर्णक गतियां होने देती है।

यद्यपि हड्डियों की गतियां सन्धियां होने देती है, तथापि इस प्रकार की गति का चालक बल तो पेशियों के कुंचन से ही प्राप्त होता है। किसी भी एक गति के निष्पादन में अनेक पेशियां सन्निहित हो सकती है—कुछ कुंचित होती है, तो कुछ शिथिलित। सहकार्यकारी और विरोधी पेशियों की अंतर्क्रिया गति के उन सूक्ष्म क्रमों और बारीकियों की कारण है जो कि मनुष्य तथा अनेक उच्चतर जंतुओं की लाक्षणिकता है।

साधारण श्रम में क्या होता है ?

साधारण श्रम (घर का काम-काज, हल्की चाल से चलना-फिरना, आदि) के आरंभ में कंकाल-पेशियां पहले की अपेक्षा अधिक सक्रिय हो जाती है। घटनाओं के एक क्रम के फलस्वरूप रुधिर का प्रवाह बढ जाता है, जिससे सक्रिय पेशियों को ऑक्सीजन तथा ईंधन की अधिक प्रदाय होने लगती है। पेशी-सक्रियता के साथ-साथ पेशी-उपापचयन में भी वृद्धि होती है। वर्धित उपापचयन का अर्थ है अधिक ऊष्मा-उत्पादन और स्वयं पेशियों का बढा हुआ ताप। पेशियों के गरम हो जाने से उनके द्वारा किए जानेवाले कार्य की दक्षता बढ जाती है। दैहिक ताप यदि बढा भी, तो वह संभवत सक्रियता के प्रारंभ के समय बहुत ही थोडी अवधि के अलावा अधिक नही बढेगा। पेशियों से जानेवाला गरम हुआ रुधिर थोडी ही देर में अधश्चेतक में स्थित ऊष्मा-अवनयन केन्द्र पहुंच जायेगा। त्वक-वाहिकाओं का प्रतिवर्ती विस्फारण विकिरण द्वारा अधिक ऊष्मा-विलोप होने देगा, और इस प्रकार वर्धित ऊष्मा-उत्पादन को संतुलित कर देगा।

वर्धित पेशी-उपापचयन का अर्थ ग्लूकोज़ के वर्धित ऑक्सीकरण के फलस्वरूप कार्बन डाई-ऑक्साइड का अधिक उत्पादन भी होगा। पेशियों की छोटी रुधिर-वाहिकाओं में कार्बन डाई-ऑक्साइड की अधिक मात्रा विसरित होगी और एक बार वहां पहुंचने के साथ वह इन वाहिकाओं की भित्तियों में चिकनी पेशी के तन्तुओं को सीधे शिथिलित करेगी। उनके तज्जनित विस्फारण से कंकाल-पेशियों से होकर अधिक रुधिर अधिक तेजी के साथ प्रवाहित होने लगेगा।

रुधिर में कार्बन डाई-ऑक्साइड की बढी हुई मात्रा केवल स्थानीय क्रिया ही नही करेगी, वरन् वह अपनी मात्रा के दौरान परिवहन तथा श्वसन-तन्त्रों से की गई अपेक्षाओं के प्रति उनकी सामान्य अनुक्रियाओं को समन्वित करने में भी सहायक होगी। मस्तिष्क की अंतस्था में से प्रवाहित होनेवाले रुधिर का वर्धित कार्बन डाई-ऑक्साइड सांद्रण वाहिका-संकोचक तथा प्रश्वास-केन्द्रों को प्रत्यक्षत उद्दीपित कर देता है। प्रश्वास-केन्द्र इसकी अनुक्रिया अपने द्वारा तालबद्धता में

निरावेशित आवेगों की आवृत्ति में वृद्धि द्वारा करता है। मध्यच्छद तथा पर्शुकांतर पेशियों को अंततः आवेशों की जो वर्धित संख्या पहुँचती है (क्रमशः मध्यच्छद तथा पर्शुकांतर तंत्रिकाओं द्वारा), वह सामान्य से अधिक तीव्र कुंचन उत्पन्न करती है। इस प्रकार श्वसन ज्यादा गहन हो जाता है। हृदय को रुधिर की वापसी में वृद्धि करने में अन्य कारक भी सहयोग दे रहे हैं—हृत्स्पंद दर, हृद् निपज तथा रुधिर स्राव।

इसी बीच श्वसन की गहनता में वृद्धि श्वसन गति को बढ़ाने का यत्न करती है। हर प्रश्वास के समय फुफ्फुस भित्तियों का अधिक खिंचाव भित्ति में स्थित संग्राहकों को अधिकाधिक उद्दीपित करता है। वेगस-तंत्रिका के अभिवाही तंतुओं पर होकर उच्छ्वास केन्द्र को अधिक आवेग जाते हैं जो सामान्य श्वसन की अपेक्षा प्रश्वास-केन्द्र को अधिक तेजी के साथ अवरुद्ध कर देता है। प्रश्वसन के छोटे हो जाने से श्वसन चक्र त्वरित हो जाता है।

तीव्रतर तथा गहनतर श्वसन फेफड़ों को ज्यादा अच्छी तरह से संवातित करता है। इस प्रकार उच्छ्वसित वायु में अधिक कार्बन डाई ऑक्साइड निष्कासित होती है जिससे रुधिर में इसका सांद्रण अत्यधिक नहीं हो पाता। (कार्बन डाई ऑक्साइड की अत्यधिकता रुधिर की अम्लता को बढ़ाकर खतरनाक बना सकती है)। रुधिर में पहले की अपेक्षा अधिक ऑक्सीजन नहीं होगी क्योंकि सामान्य श्वसन के दौरान ही रुधिर इससे लगभग संतृप्त होता है लेकिन चूंकि रुधिर-परिवहन त्वरित हो जाता है इसलिए श्रम के आरम्भ होने के पहले की अपेक्षा अब प्रति मिनट अधिक ऑक्सीजन रुधिर में प्रवेश करती है।

जिन युक्तियों का हमने अभी उल्लेख किया है वे कार्यरत पेशियों को रुधिर का अधिक तेजी और ज्यादा मात्रा के साथ प्राप्त होना सुनिश्चित कर देती हैं। तीव्रतर परिवहन के कारण पेशियों को प्रति मिनट अधिक ऑक्सीजन मिलती है और अधिक कार्बन डाई ऑक्साइड निष्कासित होता है। प्रश्न यह है कि ग्लूकोज पूर्ति का क्या होता है?

सक्रिय पेशियाँ श्रम के बढ़ जाने से पहले की अपेक्षा अधिक ग्लूकोज का और अधिक तेजी के साथ ऑक्सीकरण करती हैं। इससे रुधिर का शर्करा सान्द्रण कम होने लगता है। चूंकि रुधिर में की शर्करा यकृत में के ग्लाइकोजन के साथ साम्यावस्था में होती है इसलिए रुधिर के शर्करा सांद्रण में गिरावट के फलस्वरूप यकृत का ग्लाइकोजन ग्लूकोज में परिणत होता है जो रुधिर में विमुक्त हो जाता है। लेकिन जब रुधिर में अतिरिक्त ग्लूकोज पहुँचता है रुधिर से यकृत में और अधिक ग्लूकोज चला जाता है। इस प्रकार पेशियों को [illegible] की पूर्ति करने के लिए एक संतुलित युक्ति मौजूद है।

साधारण श्रम में ऑक्सीजन-पूर्ति उपभोग में आने वाली ऑक्सीजन के बराबर बन सकती है और फलस्वरूप ऑक्सीजन-ऋण नहीं होता। भारी अत्यधिक

प्रभाव मात्र यह होगे कि उपलभ्य कार्वोहाइड्रेट का ह्रास होगा तथा सक्रियता के दौरान विखडित कोशिकाओ के पुर्ननिर्माण मे उपयोग के लिए अधिक प्रोटीनो की आवश्यकता होगी ।

सख्त श्रम मे क्या होता है ?

हमारे सख्त श्रम के लिए तैयार होने के साथ-साथ आमतौर पर हमारा मानसिक और भावात्मक 'गरमाना' होता है। पूर्व अनुभवो से उत्पन्न स्मृतिया तथा भावनाए—विशेपकर यदि श्रम मे किसी-न-किसी प्रकार की होड या प्रतियोगिता सन्निहित हो, तो—तत्रिका-तत्र को उद्वेलित करके उसकी 'गति' को तेज कर देती हैं। यह देह को उससे शीघ्र ही की जानेवाली अपेक्षाओ के लिए प्रस्तुत कर देता है। आत्मनिष्ठ भावनाएं स्वायत्त प्रभाव उत्प्रेरित कर सकती है—विशेपकर अनुकर्पा विभाग द्वारा व्यवहित ऐसे समय मे तीव्रतर श्वसन और आखो के तारो का विस्फरण कोई असामान्य वाते नही हैं। देह तथा दिमाग का इस प्रकार समन्वित होना अक्रियता से सक्रियता की अवस्था के सक्रमण को अधिक क्रमिक और इस प्रकार का वनाने मे सहायक होता है कि जिसमे हमारी क्षमताओ पर अचानक जोर पड़ने की सभावना कम होती है।

साधारण श्रम मे होनेवाले जिन परिवर्तनो का ऊपर वर्णन किया गया है, वे सख्त श्रम मे भी होते हैं। आप सोचते होगे कि परिवर्तन और भी अधिक होते होगे, किन्तु जहा अतर होता भी है, वहा वह प्रकार की अपेक्षा अश का अधिक होता है। हृद्-गति तीव्रतर, रुधिर-दाव उच्चतर, श्वसन तीव्रतर तथा गहनतर और रुधिर-परिवहन-काल साधारण श्रम की अपेक्षा अधिक तेज़ हो जाता है।

सख्त श्रम मे ऊष्मा-उत्पादन भी कही अधिक वढ जाता है। तथापि इस स्थिति मे दैहिक ताप अपने साधारण स्तर पर नही वना रहता। ऊष्मा-उत्पादन इतना अधिक हो जाता है कि अत्यधिक स्वेद-स्राव होने के वावजूद ऊष्मा-विलोप युक्तिया उसे प्रतिमतुलित नही कर पाती। दैहिक ताप वढ जाता है और फिर श्रम की अवधि-भर और उसके वाद भी कुछ समय तक एक नए, उच्चतर स्तर पर स्थित रहता है।

अधिवृक्क-प्रातस्था से ऐड्रिनलिन मुक्त होकर श्वसन तथा परिवहन-परिवर्तनो मे सहायता दे सकती है। यह जठरीय ग्लाइकोजन से ग्लूकोज़ की उन्मुक्ति मे भी सहायक होगी और ककाल-पेशियो की थकान को विलवित करेगी।

अत्यधिक श्रम की स्थिति को कायम रखने मे सर्वाधिक सीमाकारी कारक ऑक्सीजन-पूर्ति है। प्लीहा चाहे उद्दीपित होकर कुचित होने और रुधिर मे लाल रुधिर-कोशिकाओ को उन्मुक्त करने लगती हे (जिनसे रुधिर की ऑक्सीजन-धारिता वढ जाती है), पर ऑक्सीजन का अतर्ग्रहण पेशियो के तकाजे की पूर्ति नही कर पाता। पर्याप्त ऑक्सीजन के विना थकान आने लगती है। कोई व्यक्ति ऑक्सीजन की कितनी कमी वरदाश्त कर सकता है, इसकी एक सीमा होती है,

और जब यह सीमा आ जाती है तो श्रम रुक जाना चाहिए।

श्रम के पूरा हो जाने के बाद भी श्वसन साधारण अवस्था की अपेक्षा तब तक तीव्रतर तथा गहनतर रहता है कि जब तक कमी पूरी नहीं हो जाती।

प्रशिक्षण के प्रभाव

आप अपने अनुभव और प्रेक्षण से जानते हैं कि आमतौर पर प्रशिक्षित व्यक्ति अपने विशिष्ट कार्य को अप्रशिक्षित व्यक्ति की अपेक्षा अधिक दक्षतापूर्वक कर सकता है। प्रशिक्षण का दक्षता पर क्योंकर प्रभाव पड़ता है?

पेशीय कार्य के लिए प्रशिक्षण की अवधि में व्यक्ति अपनी पेशियों के आकार को बढ़ा लेता है। ऐसा पृथक् पृथक् तन्तुओं की संख्या में वृद्धि के बजाय पृथक् पृथक् तन्तुओं के आकार में वृद्धि द्वारा होता है। बड़ी पेशियाँ अधिक काम कर सकती हैं।

शारीरिक प्रशिक्षण के अनेक लाभ परिवहन तथा श्वसन तन्त्रों में आये परिवर्तनों के कारण होते हैं। प्रशिक्षित व्यक्ति का हृदय अप्रशिक्षित व्यक्ति के हृदय की अपेक्षा अधिक बलपूर्वक स्पंदित हो सकता है और वह साधारणतः उतनी ही सक्रियता के लिए धीमी गति से स्पंदन करता है। हृद् निपात का बचाव का यह उसकी वर्धित गति पर निर्भर करने की अपेक्षा अधिक दक्ष तरीका है। श्वसन प्रभाव बहुत कुछ इसी प्रकार के होते हैं—प्रशिक्षित व्यक्ति अप्रशिक्षित व्यक्ति की अपेक्षा अधिक गहराई से और कम तेजी से साँस लेता है। इसके फलस्वरूप श्वासधारिता में जो वृद्धि होती है उससे फेफड़ों का कहीं अधिक और ज्यादा लाभकर संवहन हो जाता है।

परिवहन तथा श्वसन तन्त्रों की अधिक दक्षता के कारण आक्सीजन सक्रिय पेशियों को अधिक तेजी से ले जाई जा सकती है और उनसे मलों को अधिक तेजी से निष्कासित किया जा सकता है। इसका यह मतलब है कि प्रशिक्षित व्यक्ति बिना थके अधिक समय तथा अधिक देर तक काम कर सकता है। वह अप्रशिक्षित व्यक्ति की अपेक्षा श्रान्ति-श्रम के प्रभावों से भी अधिक शीघ्रतापूर्वक सँभल सकेगा।

वर्धित दक्षता का अधिकांश कार्य के समन्वय तथा निश्चितता में उस वृद्धि का कारण है कि जो प्रशिक्षण के कारण विकसित होती है। ये प्रभाव केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र पर निर्भर करते हैं। इन क्रियाओं की पुनरावृत्ति उनकी प्रकृति को अधिकाधिक प्रतिवर्ती बना देती है (यहाँ आशय औपाधिक या अनुकूलित प्रतिवर्तों से है) और स्वयं इससे उनका समन्वय सुधर जाता है। अप्रशिक्षित व्यक्ति प्रशिक्षित व्यक्ति की अपेक्षा अधिक शारीरिक तथा मानसिक थकान अनुभव करेगा। उत्तम कार्य से आत्म विश्वास में जो वृद्धि होती है और उसके साथ-साथ जो समन्वय बनता है उसका परिणाम निरायास और दक्ष सक्रियता होगा।

यद्यपि हम सभी को प्रशिक्षित खिलाड़ियों की क्षमताओं का अनुकरण

करने की इच्छा नही होती, तथापि यह जानकर कि यह अधिकाशत प्रशिक्षण का ही परिणाम है, हम सभवत अपने द्वारा किए जानेवाले कम भारी कामो के करने के लिए अपनी दक्षता को बढा सकते है। मध्यम और सतत व्ययाम से हम केवल अच्छा ही अनुभव नही करते, वरन् यह हमारी देह को इस योग्य बनाने मे भी सहायक हो सकता है कि वह अपने मे की जानेवाली अपेक्षाओ के लिए समुचित सिद्ध हो सके।

अध्याय 16

थकान, आराम और नीद

थकान (श्रान्ति) और आराम (विश्रान्ति) की घटनाए अत सबधित ह और य बडी रुचिकर तथा महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन काल स मनुष्य इनपर विचार करता रहा है तिसपर भी कुछ प्रश्न आज भी पहलिया ही बने हुए है। इस बात को हम किसी हद तक समझ सकते है कि कोई अग या तत्र क्योकर विशष थक जाता है। किंतु देह के भागो के सभलने के लिए आवश्यक सभी पोषको या पूर्ति कर दिए जाने क बाद भी हम विश्राम की आवश्यकता क्या पडती है ? हम कुछ दिन स अधिक बिना सोये क्यो नही रह सकते ? कुछ व्यक्तियो को अन्यो की अपेक्षा अधिक निद्रा की क्या आवश्यकता होती है ? नीद किस कारण आती है ? इनम स कुछ प्रश्नो के हमारे पास केवल अस्पष्ट उत्तर ही ह जबकि कुछ क कम स कम आंशिक उत्तर हमारे पास है।

थकान

जीवधारी जग का लगभग हर भाग ही अपनी सक्रियता क लबा कर लिए जान पर श्रात हो जाएगा। श्रान्ति क आन म कितना समय लगगा यह बात इस पर निर्भर करगी कि उसम सन्निहित ऊतको की विशष ला (आ)णिकताए क्या है रुधिर द्वारा उन्ह आक्सीजन तथा अन्य पोषको की कितनी पूर्ति हो रही है उनक उपापचयन स उत्पन्न मलो का कितनी तेजी क साथ निष्कासित किया जा रहा है उनक पास इधन द्रव्यो की कितनी उपलब्धि है और उनक पर्यावरण की क्या अवस्था है। दूसर शब्दो म सक्रियता का जारी रखना और श्रान्ति म निश्चय स्वय अपनी ओर समूच शरीर की क्रियात्मक योग्यता पर निर्भर करत है।

श्रान्ति का ऊतको क लिए और हमारे लिए एक बडा निश्चित मूल्य है। यह हम सक्रियता को उस हद तक जारी रखन स रोकती है कि ऊतक का अत्यधिक विघटन हो जाए क्योकि हो सकता है कि इस ऊतक की प्रतिस्थापना न हो पाय। इसलिए हम दखत है कि अधिक मूल्यवान ऊतक या तो बार-बार की सक्रियता स जल्दी श्रान्त हो जात है या फिर उनम इस प्रकार क अतर्निहित यत्र क्रियाशील होत है कि जो अनक प्रकार की परिस्थितियो म होनवाली श्रान्ति को रोकत है।

साथ रखन उच्च उपापचयन गतिवाल ऊतक सबस जल्दी श्रान्त होत है। इस प्रकार जब केन्द्रीय तत्रिका तत्र म अत्यधिक काम लिया जाता है तो वह बहुत जल्दी श्रान्त हो जाता है। तत्रिका तत्र तथा स्वायत्त तत्रिका तत्र क दूरस्थ भाग दक्ष (?) हो भी है तो ... ार।

वलात पेशी की श्राति के वारे मे हमे सवसे ज्यादा जानकारी है। यहा यह निश्चित रूप से उपापचयी अवशिष्ट द्रव्यो के सचय के कारण होती जान पडती है। इनके अत्यधिक उच्च साद्रण से पेशी की उत्तेजनशीलता तथा आकुचनक्षमता अवनत हो जाती है और यह दोनो को ही खत्म कर सकता है।

वर्धित अपशिष्ट द्रव्य-साद्रण से आकुचनशील सक्रियता क्योकर अवनत या समाप्त हो जाती है, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका अभी उत्तर नही दिया जा सका है। हम इतना जानते ही नही कि कोई अच्छा कारण दे सके। ज्ञान की इसी अपूर्णता के कारण हम अन्य अगो तथा ऊतको मे श्राति की समझ नही ग्रहण कर पाते।

जव ऊतक श्रात होते है, तो हम साधारणत यह सोचते है कि वे अधिक उपयोग के कारण परिक्लात हो गए हे। उदाहरण के लिए, किसी ग्रथि को लवी अवधि तक सक्रियता के लिए उद्दीपित करके उसके स्रवण को वद करवाया जा सकता है। या सीमातीत कार्य करने पर लाल अस्थि-मज्जा लाल रुधिर-कोशिकाओ का उत्पादन करना वद कर सकती हे। इन जैसे मामलो मे परिक्लाति का कारण अशतः तो यह है कि उस ऊतक द्वारा उत्पन्न किये जानेवाले विशिष्ट पदार्थ के विस्तरण के लिए पूर्ति न्यूनित हो जाती है या पूरी तरह से नि शेप हो जाती है। अन्य उपापचयी प्रभाग भी इस परिस्थिति को उत्पन्न करने मे सहायक हो सकते है और सभवत है भी।

सख्त परिश्रम के वाद थकावट की भावना किस कारण उत्पन्न होती है, यह एक और अनसुलझी समस्या है। दैहिक अवस्थाओ मे परिवर्तन का तत्रिका-तत्र पर प्रभाव नि सदेह एक महत्त्वपूर्ण कारक है। भावात्मक तथा मानसिक प्रक्रियाए इन अवस्थाओ पर निश्चित रूप से अच्छा या बुरा प्रभाव डाल सकती है।

विश्राम तथा नींद

जव हम थके होते है, तो हमे सोने की, या कम से कम आराम करने की इच्छा होती है। विश्राम तथा निद्रा मे एक निश्चित अतिजीवनोपयोगी मूल्य है। इनके विना हम वहुत दिन नही जी सकते। यह पाया गया है कि चौदह या अधिक दिनो की अनिद्रता के वाद जतु मर गए। इन जतुओ के मस्तिष्को की परीक्षा करने पर मस्तिष्क-प्रातस्या के न्यूरॉनो मे सिकुडने तथा अन्य परिवर्तन देखने मे आए।

घातक प्रभाव सहे विना मनुष्य कितने समय तक जागृत रह सकते है, यह ज्ञात नही। कुछ वैज्ञानिको ने अपने-आप पैदा की जागृतावस्था को पाच दिन तक जारी रखा है। उन्होने पाया कि पहले कुछ दिनो के वाद जागे रहना वहुत ही कठिन है। इसका अकेला सभव उपाय कुछ पेशियो को सक्रिय रखना है। जैसीकि हमे प्रत्याशा होगी, वढती पेशी-तत्रिका-श्राति के प्रमाण मिले। स्वभाव मे तेजी आ गई और परीक्षागत व्यक्ति जरा-जरा-सी वातो पर नाराज होने और चिडचिडाने लगे। अन्यथा कोई हानिकर प्रभाव देखने मे नहीं आए।

विश्राम की अल्प अवधियाँ निश्चित रूप से थ्रात ऊतकों को पुन सभलने देती है। लेकिन यह क्या आवश्यक है कि हम इतना सोते हैं जितना कि हममें से अधिकाश को जरूरी लगता है ? यदि यह मात्र खोए हुए बल को पुन प्राप्त करने के लिए और जागरण की अवस्था में होनेवाली विघटन प्रक्रियाओं के प्रभाव से मुक्त होने के लिए ही है तो हम यह आशा करेंगे कि हम नींद से बहुत ही ताजगी लेकर उठेंगे और अधिकतम क्षमता के साथ काम कर पाएंगे। लेकिन प्रयोगों से यह पता चला है कि कुशल कार्यों का अधिकतम निष्पादन सोकर उठने के तुरत बाद नहीं होता प्रत्युत बाद में (रात में सोने और सुबह काफी जल्दी उठनेवाले व्यक्ति में तीसरे पहर) होता है।

एक और चक्करानेवाला पहलू यह है कि निद्रा अनिवार्यत केवल थ्राति के बाद ही नहीं आती। हम तब भी सो सकते है कि जब तनिक भी थ्रात नहीं होते। क्या ऐसी निद्रा का भी कोई मूल्य है ? निद्रा प्रक्रियाएं जिन समस्याओं को सामने लाती हैं उनकी बेहतर समझ पाने की कोशिश करने के लिए हम निद्रा के दौरान होनेवाली कुछ चीजों की, और उनकी व्याख्या के लिए प्रस्तुत कुछ सिद्धातों की परीक्षा करना चाहिए।

निद्रा के दौरान होने वाले परिवर्तन—निद्रा के दौरान देह की अनेक सक्रियताएं अपने न्यूनतम स्तर पर आ जाती है। हृद-गति कम हो जाती है रुधिर दाब गिर जाता है और श्वसन धीमा तथा अधिक अनियमित हो जाता है। चयापचय गति किसी भी अन्य समय की अपेक्षा मदी हो जाती है विशेषकर इस लिए कि पेशी सक्रियता भी अपने न्यूनतम स्तर पर होती है। इसी के साथ दैहिक ताप में भी आमतौर पर कुछ गिरावट आती है और ताप नियामक प्रक्रमों का भी कुछ अवनयन हो जाता है।

संग्राहकों की प्रभाव सीमाएं ऊंची हो जाती हैं और सवेदना तथा अधिकाश प्रतिवर्तों को उत्पन्न करने के लिए तीव्रतर उद्दीपनों की आवश्यकता पड़ती है। कुछ अत सवेदी प्रतिवर्त—वस्तुत कहीं आसानी से उत्प्रेरित किए जा सकते हैं।

अश्रु तथा लाला स्राव कम हो जाते हैं लेकिन स्वेद स्राव में खासी वृद्धि हो जाती है। आमाशय रस के स्राव में विशेष अतर नहीं आता। आमाशयिक आकुचन तथा पाचन सामान्यरूप से चलते रहते है।

नींद की गहराई में खासा वभिन्य होता है आमतौर पर पहले घण्टे के अत पर नींद सबसे गहरी होती है। इसके बाद यह हलकी हो जाती है—पहले काफी तेजी के साथ और उसके बाद शन शन और जागने के समय तक इसी प्रकार हलकी होती जाती है। गहरी नींद में स्वप्न नहीं आते और सभी गतियां न्यूनतम स्तर पर ही रहती है। स्वप्न सबसे ज्यादा जागने के समय के पास ही आते हैं और यदि वे उत्तेजक हुए (दु स्वप्न आदि) तो वे निद्रा में होनेवाले परिवर्तनों के विपरीत परिवर्तन उत्पन्न कर सकते हैं—तीव्र हृद् गति उच्च रुधिर-स्राव त्वरित श्वसन जठरीय चरतों का अवरोधन आदि।

निद्रा के सिद्धात—प्राचीन यूनानियो के समय से मनुष्य ने निद्रा की प्रकृति के बारे मे सोचा-विचारा है। निद्रा के बारे मे प्रस्तुत कुछ सिद्धात एकदम अजीब है, तो कुछ अपूर्ण प्रमाणो पर आधारित है। कुछ सिद्धात देखने मे ठीक लगते है, लेकिन केवल एक ही सिद्धात ऐसा है जो अधिकतम सभव ज्ञात तथ्यो को एक ऐसी योजना मे व्यवस्थित करने का व्यापक प्रयास करता है जिसके भविष्य मे पुष्ट होने की आशा की जा सकती है।

एक सिद्धात के अनुसार निद्रा को वाहिका-सकोचक केंद्र की शाति के कारण आती बताया गया था, जिसके परिणामस्वरूप त्वक्-वाहिकाओ का वाहिका-विस्फारण हो जाता है। इससे मस्तिष्क पहुचनेवाले रुधिर का विशाखन हो जाता है और प्रमस्तिष्कीय रुधिर-प्रवाह मे कमी निद्रा उत्पन्न कर देती है। तथापि बाद मे यह दिखा दिया गया कि निद्रा मे मस्तिष्क का रुधिर-प्रवाह कम नही होता।

सिद्धातो के एक समूह का केंद्र बिंदु कुछ ऐसे रासायनिक द्रव्यो का उत्पादन था कि जो निद्रा उत्प्रेरित करते है। कुछ का विश्वास था कि निद्रा श्रातिजन्य उत्पादो के कारण आती है। दिन-भर की सक्रियता के दौरान इन द्रव्यो का सचय धीरे-धीरे रुधिर मे उनके सांद्रण को इस सीमा तक ले जाता है कि वे चेतना-लुप्त और निद्रा को उत्प्रेरित कर देते है। किंतु ऐसे सिद्धातो के प्रति गभीर आपत्तिया उठाई गई है—निद्रा श्राति के बिना भी आ सकती है या यह काफी श्राति हो जाने पर भी नही आ सकती है।

यह ज्ञात है कि मनुष्य के अधश्चेतक मे घाव या क्षतस्थल होने के फलस्वरूप रोगियो को प्राय अत्यधिक नीद आती है। अधश्चेतक के एक प्रदेश का उद्दीपन करके देखा गया और इस बात के दावे किए गए कि इस प्रक्रिया द्वारा प्रयोगगत जतुओ मे निद्रा उत्प्रेरित हुई। बाद के काम से पता चला कि यद्यपि अधश्चेतक मे निद्रा तथा जागरण से सबद्ध एक केंद्र है, पर यह कोई निद्रा-केंद्र नही है। मतलब यह कि इस केंद्र के उद्दीपन से निद्रा नही उत्पन्न होती। इस केंद्र के विनष्ट कर देने से लबी निद्रा के रेले आने लगे। इसलिए इस केंद्र को एक जागरण-केंद्र कहना अधिक ठीक है। हम जल्दी ही इस केंद्र की सभाव्य सार्थकता देख लेगे।

रूसी कायिकीविद् पावलोफ ने औपाधिक (अनुकूलित) प्रतिवर्तो पर अपने कार्य के फलस्वरूप इस सिद्धात का निरूपण किया कि निद्रा एक निरोधी औपाधिक प्रतिवर्त्त का परिणाम है—पुनरावृत एकस्वर उद्दीपन एक निरोधी औपाधिक प्रतिवर्त उत्पन्न कर देता है और प्रमस्तिष्क-प्रातस्था के एक भाग की सक्रियता का निरोधन शेप प्रमस्तिष्क-प्रातस्था तथा शेप मस्तिष्क को फैलाकर चला जाता है। यद्यपि इस सिद्धात के पक्ष मे कई बाते है, लेकिन यह इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की व्याख्या नही करता कि निद्रा प्रमस्तिष्क-प्रातस्था की अनुपस्थिति मे भी आ सकती है और आती है। सच तो यह है कि अपनी प्रमस्तिष्क-प्रातस्था से हीनित कुत्ता लगभग दिन-भर सोया ही किएगा।

निश्चय ही प्रमस्तिष्क-प्रातस्था निद्रा के प्रश्न मे सन्निहित है, क्योकि निद्रा

म चतना क विलोप और स्वाभाविक प्रांतस्था सक्रियता का समावेश है। यह भी निश्चित हो सकता है कि अब तक भी संदिग्ध है। क्लाइटमन द्वारा प्रस्तावित सिद्धांत निद्रा की उत्पत्ति म सक्रिय तंत्र के स्थान पर जागरण म अन्य सबधो का विकास का वर्णन करता है।

क्लाइटमन क अनुसार निद्रा तब आरभ होती है कि जब प्रमस्तिष्क प्रांतस्था को पहुचनेवाले अभिवाही आवगो की संख्या बहुत कम हो जाती है। मिसाल क तौर पर हम जानते है कि अधेरे शात कमरे म लेटना निद्रा लान म बडा सहायक रहता है। इन परिस्थितियो म दृष्टि तथा श्रवण आवेग न्यूनतम हो जाएग। लकिन विशष रूप स महत्वपूर्ण पेशियो स आनवाल ऊर्ध्वगामी आवगो म कमी है। जब भी पेशियो म सक्रियता का जरा भी महत्त्वपूर्ण अश होता है उनसे प्रमस्तिष्क प्रांतस्था को सक्रिय आवगो का एक सतत प्रवाह जान लगता है। हम जब लेटते है या बठ भी जाते है तो पेशियो म काफी शिथिलन आ जाता है। और ऊर्ध्वगामी आवगो की संख्या कम हो जाती है। इस प्रकार के आवग के विशेष महत्त्व की ओर अधिक पुष्टि मनुष्य म वास्तविक जाग्रतावस्था पर किए प्रयोगो स हुई है। निद्रा की जो अकली चीज निश्चित रूप स पशवदा कर सकती थी वह थी पेशियो को सक्रिय रखना।

प्रांतस्था को परिवर्तनवाल सवगी आवेग उसे सक्रिय कर देते हैं। प्रांतस्था अपनी बारी म अधश्चतक म जागरण-केन्द्र को आवेग भजती है। जब तक इस केंद्र को प्रांतस्था आवग भेज जाते है जाग्रतावस्था बनी रहती है। यद्यपि जागरण केन्द्र की सक्रियता का पोषण सामान्यत प्रमस्तिष्क प्रांतस्था स आनेवाले आवेग करते है तथापि अन्य प्रदेशों स आनवाले अभिवाही आवेग भी कभी-कभी इस सक्रिय कर सकते है। य सभवत आवेग आवश्यकीय प्रकृति के ही होने चाहिए—भूख प्यास पीडा पेशाब करने की इच्छा आदि के प्रतीक।

क्लाइटमन सिद्धात का एक विकासवादी पक्ष भी है। उनका दावा है कि हो सकता है कि जाग्रतावस्था के बजाय निद्रा ही नैसर्गिक अवस्था हो। यदि हम मनुष्य से निम्नतर जतुओ क बारे म सोचें तो हम देखते हैं कि उनम स अधिकाश दिन म ज्यादातर सोते रहते हैं। लकिन वे एक लबी अवधि की नींद लेकर शेष दिन भर जागे नहीं रहते। इसके बजाय व दिन भर म बिखरी अनेक लघुतर अवधियो में निद्रा लेते है। खरगोश जसे जतु म जाग्रतावस्था की अवधियो भूख प्यास मलोत्सर्ग काम वृत्ति आदि-आदि मूलभूत आवश्यकताओ तथा इच्छाओ की तुष्टि को समर्पित होती है। प्रत्यक्षत खरगोश केवल अत्यधिक तुरत सवेदनो या आवेगो द्वारा ही जाग्रत रहता है। इस ढग स उत्प्रेरित इस प्रकार की जाग्रतावस्था को क्लाइटमन आवश्यकताजन्य जागरण कहते हैं।

कुछ उच्चतर स्तनधारियो म प्रमस्तिष्क प्रांतस्था जब कुछ अधिक सीमा तक परिवर्धित हो जाती है तो एक अन्य प्रकार—वरणात्मक जागरण—की जाग्रतावस्था आ जाती है। इस प्रकार के जतु अपने पर्यावरण म अधिक दिलचस्पी लेते

हैं और अपनी मूलभूत आवश्यकताओ की ही तुष्टि के अलावा अन्य प्रकार की गतिविधियो मे भी रत होते है। उदाहरण के लिए, वे अन्य चीज़ो के अलावा खेलना भी सीखते है। चूहे, कुत्ते तथा विल्ली ऐसे जतुओ के उदाहरण है यद्यपि वे भी दिन के दौरान कई वार सोते है, पर निद्रावस्था के साथ जाग्रतावस्था का अनुपात वढ जाता है।

इनसे भी उच्चतर जतुओ—वदर, वानर या वनमानुप और सवसे ऊपर, मनुष्य—मे वरणजन्य जागरण अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होता जाता है। मानसिक प्रक्रियाओ का विकास इन्हे मात्र इच्छाओ तथा आवश्यकताओ की ही तुष्टि करने की अपेक्षा कई और चीजें करने का अवसर देता है। मनुष्य मे इसकी चरम परिणति अधिकाश दिन जाग्रतावस्था मे विताने और निद्रा की एक मुख्य अवधि मे होती है।

मनुष्य मे दैनिक निद्रा स्पदलय उपाधियन या अनुकूलन के फलस्वरूप स्थापित होती है। वच्चो को—आयु वढने के साथ-साथ—रात मे सोना सिखाया जाता है। उन्हे एक निश्चित समय पर विस्तर मे लिटा दिया जाता है, कमरे को अधियारा और शात वना दिया जाता है। पुनरावृत्ति से शयन के सामान्य समय का आगमन निद्रालुता की भावना उत्प्रेरित कर देता है—एक औपाधिक प्रतिवर्त्त स्थापित हो जाना है।

इस विकासवादी दृष्टिकोण की सपुष्टि-स्वरूप हम देखते है कि प्रमस्तिष्क-प्रांतस्थाहीन कुत्ता निद्रा के मामले मे अधिक पूर्वग अवस्था को पहुच जाता है। यह लगभग दिन-भर सोता रहता है, उठता तभी है कि जव पेशाव करने की आवश्यकता होती है या भूख लगती है, आदि। मानय-शिशु भी (जिसकी मस्तिष्क-प्रातस्था जन्म के समय अच्छी तरह काम नही करती) दिन के अधिकाश भाग सोता ही रहता है और उसकी अनेक निद्रा-अवधिया होती है, जिनका दिन या रात से कोई सवध नही होता। उपाधियन द्वारा शिशु को रात मे अधिकाधिक सोना सिखाया जाता है। दैनिक निद्रा-स्पदलय शनै -शनै. विकमित कर दी जाती है।

क्लाइटमैन का सिद्धात हमे निद्रा की अन्य परेशानी मे डालनेवाली समस्याओ का समाधान करने मे सहायता देसकता है। जैसाकि हम जानते है, ऊव या आक्लाति अथवा उकताहट या एकस्वरता की स्थितिया निद्रा को सरलतापूर्वक उत्प्रेरित करती है। ऐमा इसलिए होता है कि प्रमस्तिष्क-प्रातस्था मे आनेवाले आवेग लगभग समान कोटि और तीव्रता के ही होते हैं। प्रातस्था की सक्रियता उसके आगता आवेशो के सव्यूहन के ग्रहण करने पर निर्भर करती है। समान उद्दीपनों के मदकारी प्रभाव के कारण हम अपने पर्यावरण के प्रति उदासीन हो जाते है और फलत जागरण-केंद्र को कम आवेग भेजे जाते हैं। हम सो जाते हैं।

इसका एक विपरीत दृष्टात—दिन-भर के सख्त काम के वाद हमारी पेशियां एकदम श्रात हो चुकी हो सकती हैं, पर किसी न किसी कारण, हमारी प्रातस्थाए



अध्याय 17

रोग से संरक्षण

जव हम यह सुनते है कि कितने सारे तरीको से हमारी देहो की 'मशीनरी' मे कुछ खरावी आ सकती है, तो हमे शायद इस वात पर अचरज होता है कि इतने सारे लोग स्वस्थ कैसे है। आप पूछ सकते है, "मनुष्य-जैसी सूक्ष्मतापूर्वक वनी मशीन क्योकर—यदि घातक नही, तो वार-वार के विघटन को झेल पाती है ?" यह सही है कि देह मे अनेक सूक्ष्म (नाजुक) भाग है और यह भी सही है कि आमतौर पर सामान्य क्रिया और दुष्क्रिया मे वाल-भर ही फर्क रहता है। साथ ही हमे यह भी अनुभव करना चाहिए कि देह मे विघटन का प्रतिरोध करने या रोगवाही जीवो के आक्रमण का प्रतिकार करने की अद्भुत क्षमताए है। इस दूसरी प्रक्रिया मे ही हम विशेष रुचि लेगे।

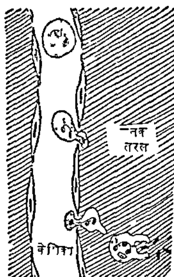
रक्षा की पहली पंक्ति

सक्रामक जीव देह मे प्रवेश करना अपेक्षाकृत कठिन पाता है। देह की अधिकाश सतह पर त्वचा का वडा अभेद्य सरक्षक उपरोध है। इसका वाह्याश उपकला या एपिथीलियम का वना है, जिसकी वाहरी सतहो मे केवल मृत कोशिकाए ही होती है। जैसे-जैसे कोशिकाए मृत होती जाती है, अपने नीचे की जीवित कोशिकाओ के गुणन द्वारा वे निरन्तर ऊपर की ओर धकेली जाती रहती है और सवसे ऊपर वाली मृत कोशिकाए झड जाती है। ये मृत कोशिकाए एक खासे शल्की ऊतक का निर्माण करती है, जो—वशर्ते कि वह किसी जगह टूटा हुआ ही न हो—जीवाणुओ को वडे प्रभावी ढग से अलग रखता है।

यदि ये जीव मुख या नासा-गुहाओ मे प्रवेश करते है, तो अधःस्थ (नीचे के) ऊतको मे पहुचने के लिए उन्हे इन गुहाओ पर अस्तर की तरह चढी श्लेष्मल झिल्लियो को भेदना होगा। इन जीवो मे से अधिकाश उन श्लैष्मिक स्रावो मे फस जाते है कि जो इन झिल्लियो की सतह पर फैले होते है। यदि वे ग्रसनी मे चले जाएं और फिर श्वास-नली मे पहुच जाए, तो न केवल झिल्लिया तथा श्लेष्मा ही रास्ता रोकेगे, वरन् लहराते रोमाभ भी, जो उन्हे फिर वाहर की ओर धकेल देने का यत्न करते है। या, यदि जीवाणु ग्रास-नली और पाचन-क्षेत्र के उदरीय भागो मे प्रवेश करते है, तो वे अत्यधिक अम्लीय जठर अन्तर्वस्तु मे जा गिरते है। अधिकाश जीवाणुओ के लिए यह अम्ल घातक विप है। यदि वे अम्ल से भी वच निकले, तो उनमे से वहुत कम ही पाचक क्षेत्र मे और आगे की श्लैष्मिक झिल्ली को पार कर पाते है। जो जीवाणु पाचक क्षेत्र के निम्नतर प्रदेशो मे पहुच भी जाते है, वे विप्ठाओ के साथ निप्कासित कर दिए जाते है।

आ तरिक रक्षा युक्तियां

जब बाह्य रक्षा-युक्तिया भग हो जाती है और जीवाणु अथ स्थ उनका पर आक्रमण कर देते हैं तो जीवित रहने और बचने के लिए उन्ह अन्य रक्षा पाता को पराभूत करना होगा।



आकृति 44 — एक न्यूटोफिल ऊतकीय अवकाश म ग्स रही है और जीवाण का अतग्रहण कर रही है।

जब जीवाणु त्वचा के नीचे पहुचने म सफल हो जाते है तो रुधिर प्रवाह म प्रवेश कर सकने के पहल उन्ह अन्य ऊतकों स होकर जाना होगा। आमतौर पर व इतन आग नहीं जा पात क्योंकि ऐसी प्रक्रियाए क्रियाशील कर दी जाती हैं कि जो सक्रमण या सदूषण का स्थानीकृत करन का यत्न करती हैं। मानो अदृश्य डोरियों स खिचकर न्यूट्रोफिल या उदासीन रजी (तथा कुछ बहुलकेंद्रक श्वताणु या मानोसाइट भी) बडी शीघ्रता के साथ सक्रान्त क्षेत्र की ओर आकृष्ट हो जात हैं। केशिका भित्तियों की कोशिकाओं क बीच निपीडन करती हुई व श्वेत रुधिर कणिकाए ऊतकीय अवकाशा म घुस जाती हैं और जीवाणुओं का भक्षण या अन्तग्रहण करना आरम्भ कर देती है।

इन कोशिकाओं को अपन प्रयासों म सक्रान्त प्रदेश म सूजन या प्रदाह की

उत्पत्ति से सहायता मिलती है। सक्रात क्षेत्र मे केशिकाए विस्फारित हो जाती है। विस्फारण जीवाणुओ द्वारा विमुक्त विपाक्त द्रव्यो के कारण, या जीवाणु-विषो द्वारा मारी गई ऊतक-कोशिकाओ द्वारा विमुक्त वाहिका-विस्फारक क्रियावाले रासायनिक द्रव्यो की विमुक्ति के कारण होता है। केशिका-विस्फारण के कारण प्लाज्मा की सामान्य से अधिक मात्रा निस्पदित होकर (छनकर) ऊतकीय अवकाशो मे चली जाती है। तरल थक्कित हो जाता है और जमे हुए द्रव्य का एक वलय आक्रान्त प्रदेश को घेर लेता है। कुछ समय के बाद क्षेत्र के आसपास सयोजी ऊतक उग जाता है और वह इस प्रकार पूर्णत भित्ति-बद्द हो जाता है। जब तक यह नही होता, सक्रमण के फैलने का खतरा सदा विद्यमान रहता है।

प्रदाहित क्षेत्र के भीतर न्यूट्रोफिलो और जीवाणुओ के बीच एक वास्तविक मरणातक सग्राम चल रहा होता है। दोनो ही पक्षो मे अनेक मारे जाते है। मृत जीवाणु, मृत श्वेताणु-विघटित ऊतक-कोशिकाए तथा तरल मिलकर 'पीप' या 'पूय' का निर्माण करते है। भित्ति-बन्द क्षेत्र तथा उसकी अन्तर्वस्तु को 'फोडा' या 'विद्रधि' कहते है। मुहासे तथा फोडे या फुडियाए इसी प्रकार के होते है। यदि रुधिर-कोशिकाए युद्ध मे जीत जाती है (और वे प्राय जीतती ही है), तो वे उपरिस्थ (ऊपर के) ऊतक मे से होकर बाहर की ओर रास्ता बना लेती है। यह अशत उनके रास्ते मे आनेवाली कोशिकाओ के अन्तर्ग्रहण द्वारा, और अशत. उनके द्वारा उत्पन्न एक पाचक प्रकिण्व द्वारा इन कोशिकाओ के पाचन द्वारा सपादित होता है। जब बहिर्भाग आ जाता है, तो पीप निकल जाता है।

लसीका-रक्षा-युक्तिया—यदि युद्ध के पहले दौर मे जीवाणु जीत जाते है, तो वे पतली भित्तियोवाली उन लसीकायनियो या लसीका-वाहिकाओ पर आक्रमण कर सकते है, जो देह के लगभग हर प्रदेश मे ही बडी सख्या मे मौजूद है। एक बार लसीकायनी मे पहुच जाने पर जीवाणु गतिमान लसीका के साथ वहनित होने लगते है।

आपको याद होगा कि लसीकायनियो के पथ पर अनेक 'लसीका-ग्रथिया' है। लसीका-ग्रथियो मे नालियो पर अस्तर-स्वरूप बड़ी ग्रथिया है, जो नालियो मे से गुजरनेवाले जीवाणुओ का अन्तर्ग्रहण कर लेती है। लसीका-ग्रथिया जीवाणुओ या बाह्य (विजातीय) कणो के लिए बडी प्रभावी 'छलनिया' है और वे अपने तक पहुचनेवाले जीवाणुओ की प्रभावकारी 'बोतलबदी' कर लेती है।

प्राय· ही उनका कार्य इतना भारी रहता है कि ग्रथिया जीवाणुओ के अतर्ग्रहण की प्रक्रिया मे स्वय सूज जाती है। इस प्रकार वे काफी सवेदनशील होती है। 'सूजी हुई गिल्टिया' जो प्रायः ही 'गले के आने' या 'गल-शोथ' की परिचायक होती है, वास्तव मे सूजी लसीका-ग्रन्थिया ही होती है।

'गलसुए' या 'टासिल' तथा 'ग्रथ्याभ' अथवा 'ऐडिनाइड' ग्रसनी-प्रदेश मे स्थित लसीकाभ ऊतक है। हममे से कई लोगो मे वे सक्रमण के विरुद्ध अपने सग्राम मे परास्त हो जाते है और हमे संरक्षित करने—जैसाकि सामान्यत· होना

बजाय वे स्वय अत्यधिक सशान्त तथा प्रभावित हो जाते हैं। तब उनकी जवाणुर अतवस्तु का देह के अन्य अधिक महत्वपूर्ण प्रश्नों को प्रसार रोकने के लिए स्वय इन्हें ही अलग करना पड़ता है।

रुधिर-सुरक्षा युक्तियां—यदि जीवाणुओं के प्रसार के विरुद्ध उपयुक्त रक्षा युक्तियां उन्हें समाप्त नहीं कर पाई हैं, तो रुधिर में उत्पन्न कुछ कारक भी होते हैं कि जो यह काम कर सकते हैं। यह ज्ञात है कि रुधिर में किसी भी 'विजातीय प्रोटीन', जो उस जतु का वशिष्ट्य नहीं है, के प्रवेश से एक ऐसे विपाक्त द्रव्य की उत्पत्ति हो जाती है कि जो उस प्रोटीन को नष्ट कर देता है। इस प्रकार प्रविष्ट प्रोटीन प्रतिजन या एंटीजन और उसे नष्ट करनेवाला द्रव्य प्रतिपिंड या 'रोग प्रतिकारक' कहलाता है। इस घटना का एक अत्यन्त उल्लेखनीय पक्ष यह है कि हर प्रतिपिंड प्रविष्ट प्रतिजन के लिए ही विशिष्ट होता है और वह अन्य किसी विजातीय प्रोटीन पर आक्रमण नहीं करेगा।

किन्हीं ऐसी कोशिकाओं या उनके प्रोटीन उत्पादनों का जो किसी विशेष जाति की विशेषता नहीं हैं, इस जाति के रुधिर में प्रवेश इस प्रतिजन प्रतिपिंड अनुक्रिया को आरम्भ करवा देता है। यह अस्तित्व में आता कैसे है यह बात स्पष्टत ज्ञात नहीं, लेकिन हमने इस घटना का अच्छा उपयोग किया है।

जब कोई विशेष जीवाणु या उनके विपाक्त उत्पाद रुधिर पर पहली बार आक्रमण करते हैं, तो हो सकता है कि उनका प्रतिपिंड इतनी शीघ्रता के साथ उत्पन्न न हो सके कि वह रोग के होने को रोक सके। लेकिन यदि व्यक्ति रोग से अच्छा हो जाता है तो यह इस बात का परिचायक है कि प्रतिपिंड ने अतत प्रतिजन को पराभूत कर दिया है और इससे भी बड़ी बात यह है कि उसी जीवाणु द्वारा दूसरे सक्रमण का फल रोग की पुनरावत्ति का न होना हो सकता है। प्रतिपिंड रुधिर में पहले सक्रमण के समय से ही वतमान रहा है और उस व्यक्ति के लिए कहा जाता है कि उसने निरापदता या प्रतिरक्षिता अर्जित कर ली है। इस प्रकार की प्रतिरक्षिता कुछ रोगों के लिए आयु पर्यंत हो सकती है। अन्य रोगों के लिए यह कई वर्ष की हो सकती है तो कुछ के लिए अत्यंत अल्पकालिक भी हो सकती है।

हां रोगोत्पादक जीवों से अनियंत्रित सपर्क द्वारा प्रतिरक्षिता का अर्जन न सतोषजनक है और न ही वांछनीय। किन्तु आधुनिक निरोधक काय चिकित्सा ऐसे तरीके विकसित कर रही है कि जिनसे हम अधिकाधिक रोगों की तीव्रता कम कर सकते हैं या उनकी पेशबंदी कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में कुछ रोगों के सबध में अब व्यक्ति को एक या अधिक वर्षों के लिए सुरक्षापूर्वक प्रतिरक्षिता प्रदान करना सभव हो गया है।

खोज इंगित करती है कि विभिन्न जतुओं में उसी प्रतिजन के निमित्त निर्मित प्रतिपिंड बहुत-कुछ समान होता है। इस कारण यह सभव रहा है कि प्रयोगगत जतुओं को रोगोत्पादक जीवाणुओं के तनूकृत सवर्धों के इंजेक्शन दे दिए जाएं और

उनमे उस रोग की मद अवस्था उत्पन्न कर दी जाए। विशेपकर यदि हम इजेक्शन की कुछ वार पुनरावृत्ति करे, तो जतु का रुधिर प्रयुक्त जीवाणु के लिए एक प्रतिपिंड विकसित कर लेता है। इस रुधिर से कुछ सीरम मनुष्य को इजेक्ट करके प्रतिपिंड को व्यक्ति के रुधिर मे स्थानातरित किया जा सकता है और वह उक्त रोग के लिए प्रतिरक्षित हो जाएगा। पेशी-तनाव या धनुस्तभ प्रतिजीव-विप प्रतिरक्षिता प्रदान करने के इस साधन का एक उदाहरण है। साधारणत' यह प्रतिजीव-विप केवल आपाती स्थितियो मे ही—जव कि किसी इस तरह की अचानक चोट, जो कि धनुस्तंभ (पेशी-तनाव)-सक्रमण पैदा कर सकती है, के कारण तुरत प्रतिरक्षिता उत्पन्न करना आवश्यक हो—दी जाती है।

आम तौर पर व्यक्ति को किसी 'टीके' की अल्प मात्रा का इजेक्शन देकर प्रतिरक्षित वनाया जाता है। टीका एक विलयन होता है जिसमे विशिष्ट रोगो के मारे हुए जीवाणु या मारे हुए विपाणु होते है। टीका प।पद से विजातीय जीवो के विरुद्ध विशिप्ट प्रतिपिंड उत्पन्न करवाता है। 'चेचक' या 'माता', 'डिप्थीरिया', 'आत्र-ज्वर' या 'मोतीझरा', 'कुकुर खासी' या 'काली खासी', 'पेशी-तनाव' या 'धनुस्तभ' और अव अभी हाल से पोलियो-सहित अनेक सक्रामक रोगो, और हैजा या 'विपूचिका' तथा 'पीतज्वर' जैसे रोगो से सरक्षण या उनके निवारण के लिए टीके उपलब्ध है।

रोगों का रासायनिक उपचार

कई वर्पो से अनेको वैज्ञानिको को ऐसे रासायनिक द्रव्यो की खोज की आशा है जिनका देह मे दिया जाना स्वय देह को हानि पहुचाए विना किसी प्रकार सक्रामक जीवो के प्रचुरोदभवन या तीव्र वृद्धि को रोक सके। अपनी विराट् हताहत-सख्या के कारण द्वितीय विश्व-युद्ध ने इस क्षेत्र मे विकास के लिए प्रवल प्रोत्साहन दिया। उस काल मे तथा तव से हुई विराट् खोज कई ऐसे रासायनिक द्रव्यो को सामने लाई है कि जो विभिन्न सक्रामक रोगो के शमन के लिए मुख द्वारा या इजेक्शन के जरिये दिए जा सकते है।

ऐसे द्रव्यो के एक वर्ग की मिसाल सल्फा-भेपज है। ये ऐसे रासायनिक यौगिक है जो कुछेक सक्रामक जीवो के चयापचय मे व्यतिकरण करते (वाधा डालते) है और इस प्रकार देह मे उनके गुणन की गति को कम करते या रोक देते है। यद्यपि इन भेषजो मे प्रथम सल्फानिलेमाइड थी, पर अन्य सल्फा-सजातो का अव अधिक व्यापक उपयोग किया जाता है—यथा सल्फाडायाजीन, सल्फामेराजीन, सल्फाथाइजोल, आदि।

प्रतिजैविक पदार्थ ऐसे जीवित जीवो द्वारा, जो अन्य जीवो को नष्ट कर सकते है, उत्पन्न द्रव्यो के समूह मे आते है। कुछेक फफूदिया तथा कवक या फजाई इनके मुख्य स्रोत रहे है। पहले प्रतिजैविक पदार्थ 'पेनिसिलिन' के वाद 'स्ट्रैप्टोमाइसिन' आई; तथा कई अन्य प्रतिजैविक पदार्थ भी विकसित किए जा चुके है,

यथा आरियोमाइसिन', क्लोरोमाइसिटिन, टरामाइसिन तथा ऐन्ट्रोमाइसिन। प्रत्येक के एक न एक संक्रामक जीव का सामना करने में कुछेक लाभ हैं।

आदर्शस्वरूप तो हम एक ऐसा द्रव्य पाना चाहेंगे कि जो मानव-देह में कोई भी दुष्प्रभाव उत्पन्न किए बिना विशेष रोगमूलक जीव का विशिष्टत सफाया कर दे। अभी तक इस आदर्श की संपूर्णरूप से सिद्धि नहीं हो पाई है। सल्फा भेषजें जहां तानिका शोथ उत्पन्न करनेवाले जीवाणुओं के खिलाफ अधिक विशिष्टता के साथ काम करती हैं और पेनिसिलिन पेशी-तनाव तथा डिप्थीरिया पैदा करनेवाले जीवाणुओं के विरुद्ध सामान्य रूप से इन द्रव्यों को अनेक रोगोत्पादक जीवों के विरुद्ध व्यापक प्रभाविता है। किसी विशेष सल्फा उत्पाद या प्रतिजैविक पदार्थ के चयन का निर्धारण उसकी समग्र शक्ति और देह पर हो सकनेवाले उसके पार्श्व प्रभावों के अभाव से किया जाता है। नवीनतर द्रव्य आम तौर पर अधिक शक्तिशाली और पार्श्व प्रभाव-हीन हैं।

रासायनिक चिकित्सा को समग्र रूप में उन संक्रामक रोगों के नियन्त्रण में आश्चर्यजनक सफलता मिली है जिनके लिए और कोई विशिष्ट उपचार नहीं है तथापि कुछ बातें ध्यान में रखी जानी चाहिए। कुछ सल्फा भेषज रुधिर क्षीणता उत्पन्न करती पाई गई हैं जिसके कारण उनका अत्यधिक उपयोग—संक्रमण को नियन्त्रित करने के अलावा—प्रतिकूल परिणाम उत्पन्न कर सकता है। प्रतिपिंडों की भारी मात्राएं आदाता (पानेवाले) की देह में फफूंदियों की उत्पत्ति करनेवाली पाई गई हैं। यह भी देखा गया है कि कुछेक संक्रामक जीव किसी विशेष रासायनिक द्रव्य के प्रतिरोधी प्रभेद विकसित कर लेते हैं और इस प्रकार अब वे उससे चिकित्सा करने पर पराभूत नहीं होते। इसलिए बुद्धिमानी की बात यही है कि ऐसे रसायनों का उपयोग वास्तविक आवश्यकता के समय ही किया जाए ताकि अधिकतम संभव प्रभावी तथा जटिलताहीन लाभ प्राप्त किया जा सके।

ऐलर्जी

हममें से कुछ लोग किसी अज्ञात कारणवशात् कुछेक पदार्थों या अपने पर्यावरण की किन्हीं स्थितियों के प्रति अति संवेदनशील होते हैं। किन्हीं खाद्यों के खाने से हममें से कुछ की खाल पर चित्ते निकल आते हैं तो कुछको किन्हीं पौधों के पराग या अन्य भागों से परागज ज्वर, लाल ज्वर, दमा या श्वास या ऐसे ही अन्य विकार हो जाते हैं तो कुछ ऐसे भी लोग हैं कि जो गरमी, सरदी, रोशनी या अन्य भौतिक कारकों के प्रति विशेष संवेदनशील हैं। इन सभी मामलों में प्रभावित व्यक्तियों को संबद्ध वस्तु या परिस्थिति के प्रति 'ऐलर्जिक' कहा जाता है।

एलर्जियां प्रतिजन प्रतिपिंड-अभिक्रियाएं तथा व्यक्तियों में असमान रुधिर का आधान—ये सब जो प्रभाव उत्पन्न करते हैं उनमें आपस में बड़ी समानताएं हैं। ये सब विजातीय द्रव्यों या परिस्थितियों के प्रति दैहिक प्रतिक्रियाओं के उदा

हरण है। तथापि, जहा प्रतिजन-प्रतिपिंड अभिक्रियाए तथा रुधिराधान की घटनाए सभी मनुष्यो के लिए एक-सी ही होती है, वहा विशिष्ट ऐलर्जिक प्रतिक्रियाए केवल कुछ व्यक्तियो मे ही होती है। उदाहरणार्थ, किसी विशेष खाद्य का एक प्रोटीन वहुसख्यक व्यक्तियो के लिए निरापद है। तिसपर भी वह कुछ व्यक्तियो के रुधिर मे पहले पचे जाने के पूर्व ही प्रवेश पा जाता है और इन व्यक्तियो मे ऐलर्जिक लक्षण उत्पन्न भी करता है।

सभवत अधिकाश ऐलर्जिया किसी विजातीय प्रोटीन के प्रति देह की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप होती है। किन्तु अन्य 'रासायनिक' द्रव्य भी इनके कारण हो सकते हे। तथापि धूल आदि जैसे 'भौतिक' कारको के प्रति सवेदनशीलता को यद्यपि ऐलर्जी ही माना जाता है, पर वह देह मे प्रतिक्रिया की अन्य युक्तियो के कारण हो सकती है।

इसका कुछ प्रमाण है कि देह की अनेक ऐलर्जिक प्रतिक्रियाए देह मे 'हिस्टामिन' या उस जैसे ही पदार्थ की उन्मुक्ति के परिणाम है। यह ज्ञात है कि हिस्टामिन छोटी रुधिर-वाहिकाओ को विस्फारित कर देती है और उन्हे अधिक पारगम्य वना देती है। ये बाते त्वचा-विस्फुटन तथा नाक वहने-जैसी घटनाओ के लिए उत्तरदायी हो सकती है। सैद्धातिक रूप से हिस्टामिन को अक्रिय कर देनेवाला कोई भी द्रव्य इन लक्षणो को रोक देगा (ऐलर्जी को नही, वरन् उसके लक्षणो को ठीक कर देगा)। कुछ व्यक्तियो को हिस्टामिन-रोधी नामक एक द्रव्य-समूह से ऐलर्जिक लक्षणो से राहत मिलती है। यह बात, कि सभी व्यक्तियो को इस प्रकार के उपचार से लाभ नही होता, इसकी परिचायक है कि हम अभी भी ऐलर्जी मे दैहिक प्रतिक्रियाओ के पूरे आधार को नही जानते।

यह प्रत्यक्ष है कि देह रोग की जितनी अधिक प्रतिरोधी होगी, विजातीय आक्राताओ के साथ उसकी लडाई उतनी ही ज्यादा सफल रहेगी। व्यक्ति से सहयोग के अभाव के कारण अपने पर थोपी कठिनाइयो के वावजूद कई रक्षा-युक्तिया अपना काम करेगी और करती है, पर उनमे से कुछ देह की सामान्य अवस्था के कारण इतनी कमजोर हो जाती है कि उनकी क्रिया अधिक से अधिक क्षीण ही रहती है। उदाहरण के लिए, जुकाम का स्वस्थ शरीर ही सवसे अच्छी तरह मुकावला करता है। वहुत कम सोना या गलत खाना जुकाम लगने और उसकी अवधि बढाने मे वहुत सहायक हो सकता है।

देह मे हमारी कोशिशो के वावजूद कभी-कभी खरावियां आ सकती है, महज इसलिए कि मानव-देह वडी ही जटिल विरचना है। लेकिन, जैसा कि हम अपने आसपास स्वस्थ व्यक्तियो की सख्या से अनुमान लगा सकते है, अपेक्षाकृत कही अधिक ही समान रूप से जटिल तथा सूक्ष्म सरक्षण-युक्तिया भी प्रस्तुत करती है।

इसमे कोई शक नही कि हम देह के आत्म-परिरक्षण अभियान मे सहायता दे सकते हैं। इस वात के ज्ञान ने कि यह अभियान अपने को—विशेषकर रोग का

सामना करने में—किस प्रकार अभिव्यक्त करता है, कायचिकित्सा को कई मामलों में यह जानने में सहायता दी है कि देह की रक्षा प्रक्रिया के अपर्याप्त हो जाने की स्थिति में क्या किया जाए। टीका लगाना देह को अपनी रक्षा आप करने में सहायता देने के कितने ही तरीकों में केवल एक है। इस ज्ञान से हमको अपने शरीर को अधिकतम प्रतिरोधी अवस्था में रखने में भी सहायता मिलनी चाहिए। मिसाल के तौर पर हम जानते हैं कि हम उचित विश्राम, उचित आहार तथा उचित व्यायाम करना चाहिए कि हम अपनी त्वचा में कटावों गलों जाने के मामलों, धूल, अपने को रोग के प्रति अनावश्यक रूप से अरक्षित करने तथा देह में कोई विकार होने की आगाही देनेवाली पीडाओं तथा वेदनाओं के प्रति असावधानी बरतनी चाहिए।

देह अधिकांश मामलों में अन्तर्निहित रूप से स्वस्थ होती है और स्वस्थ रहने के उसके अपने तरीके हैं। स्वस्थ रहन-सहन देह को अपने प्रयासों में सहायता देगा।

अध्याय 18

देह का स्वास्थ्य

किसी भी जीव की सामान्य कृत्यकारिणी उसके अगो मे से प्रत्येक के उस कार्य को करने का परिणाम है कि जिसके लिए वह उत्तरदायी है। और इससे भी वडी वात यह है कि हर अग को एक वडी इकाई—स्वय जीव—के एक अतर्हित भाग के रूप मे काम करना चाहिए। ससार मे मनुष्य के आगमन के पूर्व केवल उन्ही जातो तथा व्यष्टियो के ही जी सकने या अतिजीवन की अधिक सभावना थी, जो सामान्यत और ओजपूर्वक कार्य करते थे। ज़िदगी के 'कानून' इस मामले मे वडे ही निष्ठुर थे—दुर्वलो तथा अयोग्यो को अपने-आपको कायम रखने का अधिक अवसर न दिया जाता था।

इसलिए जो जतु आज वचे हुए है, वे ज्यादा टिकाऊ नस्ल के है, जिनका शरीर-गठन उनके समय की दुनिया मे अतिजीविता के सवसे उपयुक्त था। वहुत कम पशुओ को पकी-पूरी आयु जीने का मौका मिलता है। लेकिन जव तक वे जीते है, उनके शरीर पर्यावरण द्वारा की जानेवाली अधिकाश अपेक्षाओ की स्वस्थ अनुक्रिया करने योग्य रहते है।

मनुष्य इन मायनो म जतुओ मे अनोखा है कि उसमे अपने प्राकृतिक पर्यावरण को वदल देने की योग्यता है। किंतु इस योग्यता से उत्पन्न कितनी ही वातो ने सफलतापूर्वक और स्वास्थ्यपूर्वक जीने के रास्ते मे और वाधाए उपस्थित कर दी है। वहुतेरे लोग अनुपयुक्त निवासस्थलो मे ठुसे हुए है, अस्वास्थ्यकर परिस्थितियो मे रहते है, अनुचित पोपण पाते है, वहुत कम धूप पाते है, धूल तथा हानिकर गैसो मे सास लेते है, अत्यधिक तनाव और जल्दवाजी मे रहते है। कहने का आशय वापस 'प्रकृति की ओर' आदोलन का समर्थन करना नही है। हम पीछे नही जा सकते। न जाना ही चाहिए। शहर और कारखाने अव हमारे पर्यावरण के अग है—हमारे दीर्घकाल तक और अच्छी तरह जीने के सघर्ष के प्रतीक है। लेकिन धूल, रोग तथा कई अन्य कारक, जो हमारी देहो के अनुचित कार्य करने मे योग देते है, उनका रहना आवश्यक नही। चिकित्सा-विज्ञान ने जवरदस्त प्रगति की है। लेकिन अकेला चिकित्सा-विज्ञान ही स्वस्थ जन का निर्माण नही कर सकता। हमारे पास अनेक प्रकार की दुष्क्रियाओ तथा वीमारियो को उनके होने के पहले ही रोकने की शक्ति—ज्ञान और साधन—है। हम आशा करते है कि निकट भविष्य मे मनुष्य दूसरो को और स्वय अपने को उस सुख के अवसर प्रदान करेगे कि जो केवल स्वस्थ शरीरो से ही उत्पन्न हो सकता है।

देह द्वारा ऊर्जा का संरक्षण तथा वितरण

देह म सुरक्षा-कारको की संख्या आश्चर्यजनक रूप स बडी है। य कारक जीवन के ऊर्जा-व्यय म बडी बचत करते हैं और जीवन के परिरक्षण म वृद्धि करत है। उदाहरण के लिए हमारे दो वृक्क हैं पर हम एक स भी काम चला सकत हैं। फिर, सामान्य परिस्थितियो म सभी वृक्कीय इकाइया किसी एक ही समय उपयोग म नही आती होती। कुछ अभी सक्रिय होती हैं कुछ बाद म। वक्क नलिकाओ के उपयोग म एकातरण उनम से किसी की भी टूट फूट बचाता है क्यो कि यह किसी पर भी अत्यधिक जोर नही डालता।

हमारे अधिकाश अत स्रावी अगो की उनके द्वारा स्रवित किए जानवाले हारमोनो की सामान्य मात्रा के सपोषण के लिए जितना ग्रथीय ऊतक चाहिए उसस अधिक ही होता है। यदि किसी ग्रथि का कोई भाग अलग कर दिया जाए या नष्ट हो जाए, तो शेष ऊतक इसकी प्रतिक्रिया तीव्रतर गति से गुणन द्वारा करता है और कालातर म वह नष्ट ऊतक की पुन स्थापना कर लेगा।

वसा के पाचन क अतिरिक्त हमारे पास एकाधिक ऐसा प्रकिण्व है, जो अत ग्रहीत भोजन को ऐसे उत्पादो म विघटित कर सकता है कि जो देह द्वारा अव शोषित तथा प्रयुक्त किए जा सकत है। इस प्रकार यदि आमाशय की पेप्सी सक्रि यता क्षीण हो जाती है तो अग्न्याशयी तथा आत्रिक प्रकिण्व प्रोटीनो को पचा सकत है। सामान्यत सक्रिय प्रकिण्वो की प्रचुरता भी पाचक प्रकिण्वो का स्राव करनेवाली ग्रथि-कोशिकाओ म श्रम का अधिक विभाजन सुनिश्चित करती है।

इन को अनेक उदाहरण दिए जा सकत है पर दृष्टातस्वरूप सभवत यही काफी रहेंगे। अन्य सामान्य क्रियाए उपयोग्य ऊर्जा का सामयिक वितरण और पर्याप्त उत्पादन सुनिश्चित करती हैं। कोशिकाओ का उपापचय इस प्रकार नियत्रित और समन्वित होता है कि सामान्यरूप से ऊर्जा की उतनी ही मात्रा पैदा होती है जितनी कि देह का आवश्यक होती है। हा मात्रात्मक अर्थों म यह कहना अवश्य ठीक नही है क्योकि देह की दक्षता महिष्ठत केवल 25 प्रतिशत है। किंतु जितनी भी ऊर्जा प्रयुक्त हो सकती है उतनी आम तौर पर उपयोग म आ जाती है और अतिरिक्त ऊर्जा तनिक भी व्यर्थ नही होती। चूकि अतिरिक्त ऊर्जा (और अतत अधिकाश ऊर्जा प्रयुक्त हो जाती है) ऊष्मा म परिवर्तित हो जाती है, इस लिए वह देह के ताप के पोषण म प्रयुक्त हो जाती है। देह का उचित ताप अपनी बारी म उचित रासायनिक प्रतिक्रियाओ को होने देता है। केवल वही प्रदेश बहुत सक्रिय होते है जिनके किसी समय विशेषकर सक्रिय होन की आवश्यकता है अन्य प्रदेश मात्र पोषण प्रतिक्रियाओ को जारी रखत हैं।

ऊर्जा उत्पादक द्रव्यो को उन प्रदेशो म जहा उनकी आवश्यकता है पहुचान के लिए एक विस्तृत यत्र विन्यास है। हम देख चुके है कि सक्रिय प्रदेश स्वय अपने को अधिक रुधिर-पूर्ति करन का सवेग उपलब्ध करता है। इसके बाद

'मुख्यालय' इस बात की व्यवस्था करता है कि अन्य प्रदेश अपनी मागे कम कर दे।

कोशिकाओ की आवश्यकताओ मे हेर-फेर के अनुसार उपापचयी तात्त्विक अशो का निरतर आना-जाना लगा रहता है। ऊर्जा की जब और जहा आवश्यकता होती है, वह उत्पन्न होती है, कुछ भावी उपयोग के लिए सचित हो जाती है (खाद्य पदार्थ-सचय) और शेष दैहिक उष्मा तथा उपापचयन के पोषणार्थ उपयोग मे आ जाती है।

वल तथा निर्वलता

जिस हद तक कोई जात या जीव अपने पर्यावरण मे अति जीवित रह सकता है, वह मजबूत होता है। और अगर वह जीवित नही रह सकता, तो कमजोर होता है। यद्यपि कीटो को अधिकाशत निर्वल ही माना जा सकता है, लेकिन उनकी प्रजनन-गति इनकी अन्य अपर्याप्तताओ की क्षतिपूर्ति कर देती है। कुछ जतुओ मे घ्राण-सवेद वडा विकसित होता है, पर उनमे शत्रुओ से सफलतापूर्वक लडने की शक्ति नही होती, अन्य जतुओं मे वडा वल होता है, पर खतरे से वच जाने योग्य तेजी से भागने की सामर्थ्य नही होती। इसलिए जितने भी जतु अति-जीवित रह सके है, उनमे निर्वलता की कुछ मात्रा और वल की भी कुछ मात्रा विद्यमान प्रतीत होगी, जिसमे वल की मात्रा प्रवल है।

अपने अति समन्वित तत्रिका-तंत्र, अपने मस्तिष्क, अपने पर्यावरण को अपने अनुकूल करने के अर्थो मे सोचने की अपनी क्षमता के कारण मनुष्य मे वडा स्थितिज या सभाव्य वल है। और इस वड़े वल मे ही सभवतः उसकी सवसे वडी निर्वलता भी सन्निहित है।

विकासवादी अर्थो मे मनुष्य अपने अतीव विकसित मस्तिष्क से ही श्रेष्ठता का अनोखा दावा कर सकता है। अपने मस्तिष्क तथा हाथो से जल, थल और नभ को जीत लेने की उसकी योग्यता ही उसका अतिजीवन का हथियार है; तिस-पर भी मस्तिष्क तथा तंत्रिका-तत्र वहुत ही आसानी से क्षतिग्रस्त हो सकते है और नष्ट हो जाने पर अधिकतम विशेषज्ञता के इन अगो को नही वदला जा सकता।

इनके विना मनुष्य यदि जीवित रह भी सके, तो वह निम्न जतुओ से भी नीचे ही होगा, क्योकि उन्ही के, और विशेषकर अपनी प्रमस्तिष्क-प्रातस्था के जरिये ही मनुष्य इन अनेक सवेदनो को समन्वित तथा समाकलित कर पाता है, जिन्हे कि वह सतत प्राप्त करता रहता है।

वह इन सवेदनो को धारणाओ मे निरूपित करता है, जो यदि वे आवश्यक या आकाक्षित हुई, तो—समन्वित अनुक्रियाओ की ओर ले जाती है। हम देख चुके है कि सभी स्तरो की प्रतिवर्ती अनुक्रियाए अपने-अपने प्रयोजन के लिए कितनी सुअनुकूलित होती हैं और उत्तेजक और निरोधक आवेगो का सुसमन्वित संतुलन किस प्रकार पेशियो की अनुक्रियाओ को नियत्रित करता है। तंत्रिका-तत्र के विभिन्न स्तरो के तत्त्वो की अन्योन्य प्रतिक्रिया उन सूक्ष्म समजनों के लिए

उत्तरदायी है कि जो किसी भी अन्य जतु की अपेक्षा मनुष्य ही अधिक कर सकता है।

जसा कि आप स्वय समझ सकते है मस्तिष्क की क्षति महाभयानक होगी। किंतु शारीरिक क्षति से यह खोपडी द्वारा भली भाति सुरक्षित है, इसकी रुधिर पूर्ति विशेषरूपेण सरक्षित है और आवश्यकता के समय इस आवश्यक द्रव्य प्राथमिकता के साथ प्राप्त होते है। यह कमजोर और महत्त्वपूर्ण अग बिना सघष किए ही हम धोखा नहीं दे जाता।

जीव समूचे तौर पर

देह की सक्रियताओ की चर्चा करते समय हम इस तत्र या उस प्रक्रिया को चुनते गए हैं और उनमें से प्रत्येक को कम ज्यादा पृथक पृथक घटनाओं की तरह ही लेते रहे हैं। यह बेशक जरूरी था, क्योंकि किसी जटिल जीव का उसके भागो की सक्रियताओ के विवरण को समझे बिना समझ पाना लगभग असभव है। लेकिन इस विश्वास से बढ़कर कोई चीज सत्य से ज्यादा दूर न होगी कि जीव का कोई भी भाग या सक्रियता उसके शेष भाग या सक्रियता मे स्वतत्र है।

हम देखते है कि यदि हम देह के किसी भी एक तत्र के कार्यों की चर्चा आरभ करते हैं तो हम अनिवायत देह के अन्य सभी तत्रो को भी लाना ही पडता है। *प्रत्येक तत्र अन्य सभी तत्रों से घनिष्ठत सबधित और उनपर निभर है।* मनुष्य निरा अगो, तत्रो तथा सक्रियताओं का जोड ही नहीं है, वह एक अति एकीकृत व्यष्टि है, जिसका हर भाग या प्रक्रिया उसके जीवन और अस्तित्व के पोषण की दिशा मे क्रियाशील है।

जब वह अपने बाह्य या भीतरी पर्यावरण से कोई उद्दीपन प्राप्त करता है तो इसके फलस्वरूप मात्र कोई स्थानीकृत अनुक्रिया या तब्दीली ही नहीं होती। वह एक जीव के नाते अनुक्रिया करता है और उसके अनेकानेक भागो में बडी विविध प्रकार की बातें होती हैं। कभी-कभी जबकि उद्दीपन पर्याप्त तीक्ष्ण या अचानक होता है तो हम इन विविध प्रकारो की सचेतना हो पाती है। अन्य अवसरो पर हम इस बात का आभास नहीं होता कि हमारे अन्तर्देश' में बलो का कोई नव वितरण हो गया है।

व्यक्ति की शाश्वतता एक बडी सीमा तक उसके भीतर क्रियाशील अचेतन बलो पर निभर करती है। वे लगभग हर पग पर उसे यह करने में सक्षम, किंतु वह करने में नहीं उसके मानसिक दृष्टिकोणो को आग्रहपूर्ण बनाकर उसके मनोभावो को उत्पन्न करने में सहायता देकर और उन्हें प्रभावित करके उसकी नियति को नियत्रित करते हैं। मिसाल के तौर पर यदि उसका उपापचयन या पाचन या परिवहन सामान्य नहीं है, तो उसकी इच्छा शक्ति आकाक्षाए और विवेक क्षमताए कभी उन्मुक्त नहीं हो सकेंगी लेकिन व्यक्ति चाहे अस्तित्व और जीवन की परिपूर्णता के लिए अपनी आतरिक क्रियाओं तथा क्षमताओं पर चाहे कितना

ही निर्भर हो, अपनी वारी मे वे सक्रियता के उन उच्चतर स्तरो से वहुत प्रभावित होते है, जो क्रम-विकास के लवे दौर मे और स्वय उसके जीवन-काल मे उसपर अध्यारोपित कर दिए गए है। दूसरे शब्दो मे, एक के अभाव मे दूसरा उस जीव का निर्माण नही कर सकता, जिसे मनुष्य के रूप मे हम जानते है।

इस अर्थ मे 'मन' तथा 'देह' उसी वस्तु के दो पहलू है। एक का अस्तित्व दूसरे के विना नही हो सकता। देह का स्वास्थ्य मन का और मन का स्वास्थ्य देह का है। स्वस्थ सामान्य व्यक्ति के निर्माण मे प्रत्येक का अपना उचित स्थान है।



पारिभाषिक शब्द

अंग	Organ
अंडवाहिनी	Oviduct
अंडाशय	Ovary
अंडोच्छेदन	Castration
अंतःस्रावी	Endocrine
अंतर्लसीका	Endolymph
अंत्रयोजनी, मेसेंटरी	Mesentery
अक्षमता	Agnosia
अण्वीक्ष्य शारीर	Microscopic anatomy
अतिसार	Diarrhea
अधश्चेतक, हाइपोथैलेमस	Hypothalamus
अध्यारोपित	Superimposed
अनुप्रस्थ काट	Cross section
अनुमस्तिष्क	Cerebellum
अनुर्वर	Sterile
अपशिष्ट द्रव्य	Waste products
अभिवाही तन्त्रिका	Afferent nerve
अम्लोपचय	Acidosis
अलिंद	Auricle
अवस्थितत्व	Inertia
अस्थि-मज्जा	Bone marrow
आतंचन	Coagulation
ऑक्सीकरण	Oxidation
आपात	Incidence
आमाशय	Stomach
आवेग	Impulse
आहार-नाल	Alimentary canal
इओसिनोफिल	Eosinophil
उंडुक, एपेंडिक्स	Appendix
उच्छ्वसन	Expiration
उत्प्रेरक	Catalyst

उत्सर्जन-तंत्र	Excretery system
उदर	Abdomen
उपास्थि	Cartilage
ऊतक	Tissue
ऊतकी	Histology
ऊर्जा	Energy
ऊष्मा	Heat
ऊष्मीय नियंत्रण	Thermal control
कंकाल हड्डियों का ढांचा	Skeleton
कंडरा	Tendon
कपालीय गुहा	Cranial cavity
कर्णपटह	Eardrum
कशेरुकदंडी	Vertebrate
कशेरुका	Vertebra
काक्लिआ	Cochlea
कार्बोहाइड्रेट	Carbohydrates
कायिकी	Physiology
क्रिया	Action
केशिका	Capillary
कोशिका	Cell
कोशिका द्रव्य	Cytoplasm
क्षुद्रान्त्र छोटी आंत	Small instestine
क्षेत्र	Tract
क्षोभण	Irritation
गंडमाला	Goitre
ग्रंथि	Gland
ग्रंथीय वाहिनी	Glandular duct
गर्भाशय ग्रीवा	Cervix
ग्रसनी	Pharynx
ग्रसिका ग्रास नली	Esophagus
ग्रहणी	Duodenum
ग्रहीता	Receptor
घूर्णन	Rotation
चयापचय	Metabolism
चेतक थलेमस	Thalamus
जठर ग्रंथि	Gastric gland

जनद	Gonad
जनन-तंत्र	Reproduction system
जीव-रसायन	Biochemistry
जीव-विज्ञान	Biology.
ज्ञानेंद्रिया	Sense organs
झिल्ली	Membrane
तंत्र	System
तंत्रिका-तंत्र	Nervous system
तालबद्ध उपखंडन	Rhythmical segmentation
त्रिक, त्रिकास्थि	Sacrum
थाइरॉयड ग्रन्थि	Thyroid gland
दूरदृष्टिता, हाइपरोपिया	Hyperopia
धमनिका	Arteriole
धमनी	Artery
धमनी-काठिन्य	Arteriosclerosis
नाभिक	Nucleus
निकटदृष्टिता, मायोपिया	Myopia
निलय	Ventricle
न्यूरॉन	Neuron
परिपथ	Circuit
परिमीय दृष्टि	Peripheral
परिवहन-तंत्र	Circulatory system
परिवहनावरोध	Embolism
पर्शुकांतर	Intercostal
पिंडक, पालि	Lobe
पिट्यूइटरी ग्रन्थि	Pituitary gland
पित्त	Bile
पित्ताशय	Gall bladder
पुनरुत्पादन	Regeneration
पैराथाइरायड ग्रन्थि	Parathyroid gland
पौंस	Pons
प्रक्षेप	Projection
प्रतिवर्त क्रिया	Reflex action
प्रमस्तिष्क	Cerebral
प्रश्वसन	Inspiration
प्रांतस्था	Cortex

उत्सर्जन-तंत्र	Excretery system
उदर	Abdomen
उपास्थि	Cartilage
ऊतक	Tissue
ऊतकी	Histology
ऊर्जा	Energy
ऊष्मा	Heat
ऊष्मीय नियंत्रण	Thermal control
कंकाल हड्डियों का ढांचा	Skeleton
कंडरा	Tendon
कपालीय गुहा	Cranial cavity
कर्णपटह	Eardrum
कशेरुकदंडी	Vertebrate
कशेरुका	Vertebra
काक्लिया	Cochlea
कार्बोहाइड्रेट	Carbohydrates
कायिकी	Physiology
क्रिया	Action
केशिका	Capillary
कोशिका	Cell
कोशिका द्रव्य	Cytoplasm
क्षुद्रांत्र छोटी आंत	Small instestine
क्षेत्र	Tract
क्षोभण	Irritation
गंडमाला	Goitre
ग्रंथि	Gland
ग्रंथीय वाहिनी	Glandular duct
गर्भाशय ग्रीवा	Cervix
ग्रसनी	Pharynx
ग्रसिका ग्रास नली	Esophagus
ग्रहणी	Duodenum
ग्रहीता	Receptor
घूर्णन	Rotation
चयापचय	Metabolism
चेतक, थैलेमस	Thalamus
जठर ग्रंथि	Gastric gland

जनद	Gonad
जनन-तंत्र	Reproduction system
जीव-रसायन	Biochemistry
जीव-विज्ञान	Biology.
ज्ञानेंद्रिया	Sense organs
झिल्ली	Membrane
तंत्र	System
तंत्रिका-तंत्र	Nervous system
तालबद्ध उपखंडन	Rhythmical segmentation
त्रिक, त्रिकास्थि	Sacrum
थाइरॉयड ग्रन्थि	Thyroid gland
दूरदृष्टिता, हाइपरोपिया	Hyperopia
धमनिका	Arteriole
धमनी	Artery
धमनी-काठिन्य	Arteriosclerosis
नाभिक	Nucleus
निकटदृष्टिता, मायोपिया	Myopia
निलय	Ventricle
न्यूरॉन	Neuron
परिपथ	Circuit
परिमीय दृष्टि	Peripheral
परिवहन-तंत्र	Circulatory system
परिवहनावरोध	Embolism
पर्शुकांतर	Intercostal
पिंडक, पालि	Lobe
पिट्यूइटरी ग्रन्थि	Pituitary gland
पित्त	Bile
पित्ताशय	Gall bladder
पुनरुत्पादन	Regeneration
पैराथाइरायड ग्रन्थि	Parathyroid gland
पौंस	Pons
प्रक्षेप	Projection
प्रतिवर्त क्रिया	Reflex action
प्रमस्तिष्क	Cerebral
प्रश्वसन	Inspiration
प्रांतस्था	Cortex

प्रोटोप्लाज्म, जीव द्रव्य	Protoplasm
प्लाज्मा	Plasma
प्लीहा	Spleen
फुफ्फुस परिपथ	Pulmonary circuit
बाल पक्षाघात पोलियो	Poliomylitis
बाह्य त्वचा एपीथीलियम	Epithelium
श्वासी श्वसनी	Bronchi
बिंबाणु प्लेटेलेट	Platelet
बृहदान्त्र बड़ी आंत	Large Intestine
बेसोफिल	Basophil
भ्रूण विज्ञान	Embryology
मध्यच्छद, डायफ्राम	Diaphragm
मध्यच्छद-तंत्रिका	Phrenic nerve
मलाशय	Rectum
महाधमनी	Aorta
महाशिरा	Vena cava
मूत्र-मार्ग	Urethra
मेडयूला अनस्था	Medulla
मोनोसाइट	Monocyte
यकृत् जिगर	Liver
यौवनावस्था	Puberty
रंजक	Pigment
रुधिर वाहिकाएं	Blood vessels
रुधिर-स्राव	Hemorrhage
रुधिराभाव	Anemia
लसीका-तन्त्र	Lymphatic system
लिंग ग्रंथियां	Sex glands
लिम्फोसाइट	Lymphocyte
वागस या वेगस-तन्त्रिका	Vagus nerve
वाहिका प्रेरक वसामोटर	Vasomotor
वाहिका विस्फारक वसोडाइलेटर	Vasodialator
वाहिका-संकोचक वसोकान्स्ट्रिक्टर	Vasoconstrictor
विरेचन	Cathartics
वृक्क हाइलम	Hilum
वृक्क गुर्दा	Kidney
वृक्क-तन्त्र	Renal system

वृषण : Testes
वृषण-कोष : Scrotal sac
शारीर, शरीर-रचना-विज्ञान : Anatomy
शिथिलन : Diastole
शिरा : Vein
शिरिका : Venule
शुक्राणु-कोशिका : Sperm cell
श्रोणि-प्रदेश : Pelvis
श्लेष्मा : Mucous
श्वसन-तन्त्र : Respiratory system
श्वास-नली : Trachea
संग्राहक : Receptor
संरचना : Structure
संवरणी : Sphincter
संवेग : Impetus
संवेदन, इंद्रियानुभूति : Sensation
संसेचित : Fertilised
सक्रियता : Activity
साइटोप्लाज्म, कोशिका-द्रव्य : Cytoplasm
सीरम : Serum
स्वर-यंत्र : Larynx
हारमोन : Harmone
हीमोग्लोबिन : Hemoglobin
हृद्पेशी, कार्डियक पेशी : Cardiac muscle

● ●